DISCOVERY®

...Discover your mettle

सामान्य अध्ययन

आधुनिक भारत एवं विरासत

मुख्य परीक्षा

Personal copy not for sale and circulation

Head Office (E-14) Basement Commercial Complex Dr. Mukherjee Nagar, Delhi-110009
E-mail:discoverylasacademy@gmail.com
Enquiry: 011-32906950, 9313058532,9999044179

Lucknow Branch: Alif Chamber I/S 1 Floor Above Mota Laxmi Sweets, Purana Chauraha, Aligan
PH-09760449809

Visit us at: www.discoveryiasacademy.com

विषय सूची

राष्ट्रवाद का उदय (1-6)

- भूमिका
- राजनीतिक जागरण में सहायक तत्व
- प्रमुख विचार
- मॉडल उत्तर

समाज एवं धर्म सुधार आन्दोलन (7-22)

- भूमिका
- ईसाई मिशनरियों का आगमन
- राजा राममोहन राय एवं समाज सुधार
- स्वामी दयानंद सरस्वती और आर्य समाज आंदोलन
- स्वामी विवेकानंद एवं रामकृष्ण मिशन
- थियोसोफिकल सोसायटी और श्रीमती एनी बेसेंट
- हिंदुओं में समाज सुधार आंदोलन की उपलब्धियां
- मुसलमानों में समाज सुधार आंदोलन
- सिक्ख सुधार आंदोलन
- कंपनी काल में सामाजिक परिवर्तन
- प्रमुख विचार
- मॉडल उत्तर

भारत में नए वर्ग का उदय (23-27)

- मध्यम वर्ग का उदय
- प्रशासक एवं अधिकारी वर्ग का उदय
- पूंजीपति वर्ग का उदय
- कृषि मजदूर वर्ग का उदय
- प्रमुख विचार
- मॉडल उत्तर

1857 का विद्रोह (28-36)

- भूमिका
- विद्रोह के कारण
- विद्रोह का प्रसार
- 1857 के विद्रोह का स्वरूप
- विद्रोह की विफलता के कारण
- विद्रोह के पश्चात् अंग्रेजी दृष्टिकोण में परिवर्तन
- विद्रोह के पश्चात् सैनिक और प्रशासनिक नीति
- प्रमुख विचार
- मॉडल उत्तर

आदिवासी विद्रोह (37-39)

- भूमिका
- आदिवासी विद्रोह के कारण
- विद्रोह का स्वरूप
- विद्रोह की असफलता के कारण
- बिरसा मुंडा आंदोलन
- मॉडल उत्तर

रजवाड़ों की जनता के आंदोलन (40-43)

- भूमिका
- रियासतों में स्वाधीनता आंदोलन का प्रवेश एवं प्रगति
- प्रमुख विचार
- मॉडल उत्तर

किसानों के आंदोलन एवं विद्रोह (44-48)

- भूमिका
- किसान सभा का गठन
- 1930-40 के दशक के किसान आंदोलन
- किसान आंदोलन की उपलब्धियाँ
- नील आंदोलन
- पबना आंदोलन
- तेलंगाना आंदोलन
- प्रमुख विचार
- मॉडल उत्तर

वामपंथ एवं ट्रेड यूनियन आंदोलन (49-52)

- वामपंथी आंदोलन
- ट्रेड यूनियन आन्दोलन
- कांग्रेस में समाजवाद
- प्रमुख विचार

भारत का आर्थिक इतिहास (53-58)

- धन का निष्कासन
- भारतीय हस्तशिल्प का ह्रास
- कृषि का वाणिज्यीकरण
- आधुनिक उद्योगों का विकास
- प्रमुख विचार
- मॉडल उत्तर

ब्रिटिश सरकार की प्रशासनिक एवं सैन्य नीतियाँ (59-79)

- भारत में न्यायिक प्रणाली का विकास
- सिविल सेवा का विकास
- स्थानीय स्वशासन का विकास
- ब्रिटिश सैन्य नीति
- अंग्रेजों की शिक्षा नीति
- मुसलमानों का अंग्रेजी शिक्षा के प्रति दृष्टिकोण
- समाचार-पत्रों का विकास एवं नीतियां
- ब्रिटिश सरकार की विदेश नीति
- रियासतों के प्रति ब्रिटिश नीति
- नरेन्द्र मंडल
- बटलर समिति
- प्रमुख विचार
- मॉडल उत्तर

भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन का विकास (80-96)

- इलबर्ट बिल
- कांग्रेस का उदय
- उदारवादी राजनीति का चरण
- उग्रवादी चरण
- बंग-भंग योजना
- स्वदेशी आन्दोलन
- सूरत की फूट
- क्रांतिकारी आंदोलन का चरण (1906-25)
- क्रांतिकारी आंदोलन का दूसरा चरण
- हिन्दुस्तान रिपब्लिकन एसोसिएशन
- हिन्दुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन एसोसिएशन
- काकोरी षड्यंत्र
- मुस्लिम लीग का गठन
- प्रथम विश्वयुद्ध का प्रभाव
- कामागाटामारू प्रकरण
- लखनऊ समझौता
- होमरूल आंदोलन
- चंपारण सत्याग्रह
- खेड़ा सत्याग्रह
- अहमदाबाद मिल आंदोलन
- जलियाँवाला बाग हत्याकाण्ड
- मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड योजना

गाँधी युग (97-133)

- गांधी का राजनीतिक उदय और उनका नेतृत्व
- रौलेट एक्ट आंदोलन
- खिलाफत आंदोलन
- असहयोग आन्दोलन
- मोपला विद्रोह
- स्वराजी आंदोलन
- नेहरू रिपोर्ट
- जिन्ना की 14 सूत्री माँग
- बारदोली सत्याग्रह
- साइमन कमीशन
- लाहौर अधिवेशन, 1929
- सविनय अवज्ञा आंदोलन
- गोलमेज सम्मेलन
- गांधी-इरविन समझौता
- कराची अधिवेशन
- मैकडोनाल्ड अवार्ड एवं पूना समझौता
- कांग्रेस मंत्रिमंडल
- सिकंदर-जिन्ना पैक्ट
- व्यक्तिगत सत्याग्रह आंदोलन
- अगस्त प्रस्ताव
- पाकिस्तान प्रस्ताव
- क्रिप्स मिशन
- कांग्रेस का वर्धा प्रस्ताव
- भारत छोड़ो प्रस्ताव
- 1942 ई. की अगस्त क्रांति
- राजाजी फार्मूला
- देसाई-लियाकत योजना
- वैवेल योजना/शिमला सम्मेलन
- नौसैनिक विद्रोह
- कैबिनेट मिशन योजना
- प्रत्यक्ष कार्रवाई दिवस
- गांधी-जिन्ना वार्ता
- बाल्कन योजना
- माउंटबेटन योजना
- प्रमुख विचार
- मॉडल उत्तर

1857 के बाद भारत का संवैधानिक विकास (134-139)

- 1858 का भारत शासन अधिनियम
- 1861 का भारतीय परिषद् अधिनियम
- 1892 का भारतीय परिषद् अधिनियम
- 1909 का मार्ले-मिंटो सुधार
- 1919 का मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधार
- 1935 का भारत शासन अधिनियम
- 1947 का भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम
- प्रमुख विचार
- मॉडल उत्तर

राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रति ब्रिटेन की प्रतिक्रिया (140-141)

- भूमिका

- प्रमुख विचार

कांग्रेस की नीतियाँ (142-149)

- पूंजीपति वर्ग के प्रति कांग्रेस की नीति
- मजदूर वर्ग के प्रति कांग्रेस की नीति
- किसानों के प्रति कांग्रेस की नीति
- देसी रियासतों के प्रति कांग्रेस की नीति
- क्रांतिकारियों के प्रति नीति
- कांग्रेस की धार्मिक नीति
- कांग्रेस की आर्थिक नीति
- कांग्रेस की विदेश नीति
- प्रमुख विचार

ब्रिटिश प्रशासक एवं उनकी नीतियाँ (150-155)

- लार्ड लिटन
- लार्ड रिपन
- लार्ड कर्जन
- लार्ड इरविन
- लार्ड माउंटबेटन
- प्रमुख विचार
- मॉडल उत्तर

सांप्रदायिकता एवं देश का विभाजन (156-160)

- भूमिका
- सांप्रदायिकता के विकास कारण
- हिंदू सांप्रदायिकता
- पाकिस्तान की मांग के कारण
- प्रमुख विचार

राष्ट्रीय आन्दोलन में महिलाओं की भूमिका (161-162)

- महिलाओं में जागृति के कारण
- राष्ट्रीय आन्दोलन में महिलाओं की भूमिका
- मॉडल उत्तर

भारत के राजनीतिक दल (163-166)

- भारत में राजनीतिक दलों के उदय के कारण
- भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस
- मुस्लिम लीग
- भारतीय जनता पार्टी
- कम्युनिस्ट पार्टी
- फारवर्ड ब्लॉक
- बहिष्कृत हितकारिणी सभा
- जस्टिस पार्टी

1947-1964 की प्रगति (167-173)

- भारत का संविधान
- भूमि सुधार
- भारत में नियोजन प्रणाली
- भारत की विदेश नीति
- गुट निरपेक्षता की नीति
- देशी रियासतों का एकीकरण

व्यक्तित्व एवं विचार (174-220)

- महात्मा गांधी
- जवाहर लाल नेहरू
- रवीन्द्र नाथ टैगोर
- स्वामी विवेकानन्द
- भीमराव अम्बेडकर
- सरदार वल्लभभाई पटेल
- नेताजी सुभाषचंद्र बोस
- भगत सिंह
- मुहम्मद अली जिन्ना
- मॉडल उत्तर
- अभ्यास हेतु प्रश्न

1. राष्ट्रवाद का उदय

भूमिका

राष्ट्रवाद एक आधुनिक संकल्पना है, जिसका विकास पुनर्जागरण के बाद यूरोप में राष्ट्रीय राज्यों के रूप में हुआ। यद्यपि राष्ट्र के प्रति लगाव या सम्मान की भावना प्राचीन काल से ही सभी राष्ट्र एवं उसके नागरिकों में पायी जाती है पर इसे सीमित राष्ट्रीयता का द्योतक ही माना जा सकता है। भारत में भी इस तरह की सीमित राष्ट्रीयता के प्रमाण मिलते हैं। अब वर्तमान समय में यह राष्ट्रवाद धीरे-धीरे सशक्त होता दिखाई दे रहा है।

भारतीय राष्ट्रवाद के बारे में एक रोचक बात यह है कि इसका उद्‌भव अंग्रेजी शासन के दिनों में हुआ। अंग्रेजी शासकों ने अपने स्वयं के हित में भारतीय समाज के आर्थिक ढांचे की स्थापना की, आधुनिक शिक्षा पद्धति की नींव डाली, आवागमन के नए साधन एवं ऐसी नई संस्थाओं का निर्माण किया, जिसके फलस्वरूप नए सामाजिक वर्गों का उदय हुआ। इन सबके कारण नवीन सामाजिक शक्तियां उभर कर सामने आई और राष्ट्रवाद का वाहक बनीं। इस तरह भारतीय राष्ट्रवाद एक जटिल और विशिष्ट सामाजिक पृष्ठभूमि में जन्मा और उसका विकास हुआ।

राजनीतिक जागरण में सहायक तत्व

अंग्रेजी शिक्षा

अंग्रेज प्रशासकों तथा ईसाई मिशनरियों की आकांक्षाओं की अपेक्षा अंग्रेजी शिक्षा के परिणाम अधिक व्यापक और दूरगामी रहे। इस शिक्षा के प्रसार से पश्चिमी देशों के राजनीतिक विकास तथा चिंतन का ज्ञान सरलता से उपलब्ध हुआ। स्वतंत्रता, समानता और प्रतिनिधित्व के सिद्धांतों को लेकर आरंभ हुई फ्रांस और अमेरिका की क्रांतियों के विषय में ज्ञान उपलब्ध हुआ। विश्व के अन्य देशों में हो रहे आर्थिक और राजनीतिक परिवर्तनों के विषय में जानकारी प्राप्त होने से भारतीय नेताओं को एक विस्तृत दृष्टिकोण विकसित करने में सहायता मिली। समस्त देश में एक ही शिक्षा पद्धति लागू होने से एकता और समान लक्ष्यों और आकांक्षाओं को प्रोत्साहन मिला। अंग्रेजी पढ़ा-लिखा वर्ग समस्त देश की जनसंख्या में अल्पमत से अधिक नहीं था लेकिन प्रभाव और नेतृत्व की दृष्टि से यह वर्ग उत्तरोत्तर व्यापक बनता गया। समस्त देश में अन्य कोई वर्ग ऐसा नहीं था जिसने अपने विचारों को दृढ़तापूर्वक व्यक्त किया हो। समाचार-पत्रों, शिक्षा संस्थाओं के संचालन और वकालत में इसी वर्ग का प्रभाव था। अन्य विचारधाराएं न तो इतनी व्यापक और न ही संगठित थीं।

20वीं सदी में कुछ अंग्रेज विद्वानों ने भी यह अनुभव किया कि पश्चिमी दार्शनिकों से व्यक्तिगत अधिकार और स्वतंत्रता के सिद्धांत सीखकर भारतीय नेताओं ने उन अधिकारों की मांग अंग्रेज सरकार के समक्ष प्रस्तुत की। भारतीय राजनीतिक लक्ष्य और चिंतन प्रणाली बहुत अधिक मात्रा में पश्चिमी चिंतन से प्रभावित थे। 19वीं सदी के अंत तक अंग्रेजी शिक्षा केवल उच्च और मध्यम वर्ग के सदस्यों तक ही सीमित था। इन वर्गों को समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त थी। उनके द्वारा प्रस्तुत विचारों को लोकप्रियता भी प्राप्त हो सकी। मध्यकालीन

तथा महत्त्व को व्यक्त कर धार्मिक पुनर्जागरण में सहयोग दिया।

इन समाज व धर्म सुधारकों के प्रयत्नों के फलस्वरूप भारत में राष्ट्रीयता की लहर फैली। जनता में देशप्रेम और देशभक्ति की भावना का संचार हुआ।

आर्थिक कारण

विश्व की अधिकतर क्रांतियों के पीछे आर्थिक अभाव तथा शोषण रहा है। भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन पर भी इसका बहुत प्रभाव पड़ा। अंग्रेजों के आने से पूर्व भारत औद्योगिक एवं कृषि क्षेत्र में बहुत हद तक आत्मनिर्भर था साथ ही भारतीयों की आर्थिक दशा काफी संतोषजनक थी। अंग्रेज हिंदुस्तान में व्यापार करने आए थे और वे शासक बन बैठे। आर्थिक क्षेत्र में उन्होंने भारत का इतना अधिक शोषण किया कि भारत गरीब देश बन गया। अंग्रेजों ने-

- कुटीर उद्योग-धंधों को समाप्त कर दिया।
- भारत से कच्चा माल इंग्लैण्ड भेजना प्रारम्भ कर दिया।
- इंग्लैण्ड में मशीनों से बने सामान भारत आने लगे जिससे भारत में बने सामान एवं व्यापारी वर्ग प्रभावित हुए।
- खाद्य फसलों की जगह नकदी फसलों को उपजाने के लिए किसानों को बाध्य किया गया जिससे खाद्य संकट की स्थिति उत्पन्न हो गई।
- उद्योग-धंधों में लगे भारतीय बड़ी संख्या में बेरोजगार हो गए। देश में गरीबी और भूखमरी बढ़ने लगी।
- सेवानिवृत अधिकारियों एवं अन्य अधिकारियों के पेंशन व वेतन का भार भारतीय खजाने पर पड़ता था।
- इन ब्रिटिश आर्थिक नीति के कारण भारतीयों के मन में अंग्रेजों के प्रति घृणा उत्पन्न हुई। भारतीयों को विश्वास हो गया कि भारत की बिगड़ी हुई आर्थिक दशा का कारण अंग्रेज हैं।

यातायात तथा संचार के साधनों का विकास

अंग्रेजों ने यातायात तथा संचार के साधनों का विकास अपनी सुविधा के लिए किया, किंतु इससे राष्ट्रीयता की भावना को भी प्रोत्साहन मिला। 1860 ई. के बाद ब्रिटिश सरकार ने भारत में तेजी से सड़क, रेल, डाकतार आदि का विकास किया, जिससे भारत में ब्रिटिश साम्राज्य को सुदृढ़ और स्थायी किया जा सके तथा भारत का कच्चा माल आसानी से बंदरगाह तक पहुँचाया जा सके। यातायात तथा संचार के साधनों के विकसित होने से देश के दूर-दूर भागों में बसे भारतीय एक दूसरे के निकट आ गए। नेतागण आसानी से देश के विभिन्न भागों में भ्रमण करने लगे। इससे देश में राष्ट्रीयता की भावना तेजी से बढ़ने लगी। राष्ट्रवादी लेखक गुरुमुख निहाल सिंह के शब्दों में "आवागमन के साधनों ने विशाल देश को एक कड़ी में जोड़ दिया तथा भौगोलिक एकता को वास्तविकता में बदल दिया।"

मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी वर्ग की भूमिका

ब्रिटिश शासनकाल में मध्यम वर्गीय बुद्धि- जीवियों के एक वर्ग का विकास हुआ। इस वर्ग ने अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त की, जिससे इन्हें अच्छी नौकरी के साथ-साथ समाज में सम्मान मिलने लगा। वास्तव में यह नवीन मध्यम वर्ग एक संगठित अखिल भारतीय वर्ग था, जिसकी पृष्ठभूमि तो अलग-अलग थी, किंतु जिसका ज्ञान, विचार तथा मूल्यों की आधारभूमि समान थी। मध्यम वर्ग भारतीय समाज का एक छोटा सा अंग था। इनमें उद्देश्य की एकता तथा आशा की भावना थी। इसी वर्ग ने आगे चलकर राष्ट्रीय आंदोलन को नेतृत्व प्रदान किया।

प्राचीन इतिहास का पुनरावलोकन

19वीं सदी के आरंभ में प्राचीन इतिहास का ज्ञान बहुत कम था। केवल मध्यकालीन तथा 18वीं सदी के इतिहास का कुछ ज्ञान था। पश्चिमी इतिहासकारों ने अतीत के विषय में ज्ञान प्राप्त करने के लिए विश्व के अन्य देशों की प्राचीन सभ्यताओं का पता लगाया।

DISCOVERY

मिश्र की चित्रात्मक तथा सुमेरिया और बेबीलोनिया की कीलाकार लिपियों को इसी समय पढ़ा गया। प्राचीन खरोष्ठी तथा गुप्त लिपि को भी पढ़ा गया और प्राचीन भारतीय सभ्यताओं का पता लगा। उनकी उपलब्धियों तथा महानता के ज्ञान से भारतीय नेताओं को गौरवान्वित होने का अवसर मिला। भारतीय गौरव के विकास से ही ब्रिटिश साम्राज्यवादियों और ईसाई मिशनरियों के आलोचनात्मक प्रचार का प्रतिकार हो सका।

साहित्य का विकास

19वीं सदी में क्षेत्रीय भाषाओं के साहित्य का विकास हुआ, उस साहित्य में सामाजिक सुधार तथा राष्ट्रीय भावनाओं की अभिव्यक्ति होती थी। बांग्ला, हिंदी तथा मराठी साहित्य में भारतीय होने पर गर्व, भारत माता के प्रति भक्ति एवं बलिदान की भावना का वर्णन होता था। बांग्ला साहित्य में बंगाल के प्रति भक्ति अथवा बांग्ला भाषी क्षेत्र को एक माता के समान मानना, क्षेत्रीयता को प्रोत्साहन अवश्य देता था। लेकिन यह क्षेत्रीयता राष्ट्रीयता विरोधी नहीं थी। मराठी साहित्य में शिवाजी का गुणगान तथा उनके मुगलों के विरुद्ध संघर्ष का वर्णन विदेशी सत्ता के विरुद्ध संघर्ष को प्रोत्साहन देने के लिए किया गया। इसी प्रकार हिन्दी साहित्य में प्राचीन संस्कृत साहित्य की महानता, वेदों में वर्णित उपलब्धियों की व्याख्या स्वाभाविक रूप से भारतीय देशप्रेम और गौरव को बढ़ाने में सहायक हुई। इन क्षेत्रीय साहित्यों में भावनात्मक आधार पर जागरण पैदा करने का प्रयत्न किया गया। यह भावनात्मक एकता तथा जागरण राष्ट्रीयता को प्रोत्साहन देने वाली बनी।

प्रमुख विचार

1. मराठों की ताकत अफगानों ने खतम की और जब सब एक-दूसरे के खिलाफ लड़ रहे थे, तब अंग्रेज आ पड़े और वे सबको दबा सकने में सफल हो सके। देश पहले से ही मुसलमानों और हिन्दुओं के ही बीच नहीं वरन जनजातियों और जातियों में विभक्त था। यह समाज ऐसे संतुलन पर आश्रित था जिसका आधार था - सदस्यों का पारस्परिक विकर्षण और वैधानिक पार्थक्य। ऐसा देश और ऐसा समाज तो मानो विजय का पूर्वनिश्चित भक्ष्य था। **- कार्ल मार्क्स**
2. और बातों के अतिरिक्त, भारतीय आदर्शों पर आधारित और पश्चिम की विचारधारा और संस्कृति के सम्मिश्रण से संभव (उनके द्वारा शासित या नियंत्रित नहीं) शिक्षा पद्धति और राष्ट्रीय भावना का विकास भारत के लिए आवश्यक है। **- एनी बेसेंट**
3. भारत में अंग्रेजी साम्राज्य तो बन ही जाता परन्तु उसका स्वरूप भिन्न होता तथा उसमें समय भी अधिक लगता। **- पर्सीवल स्पीयर**
4. अंग्रेजी सरकार पूर्वकाल में, कम से कम सैद्धान्तिक रूप से, भारतीय एकता तथा प्रजातन्त्र की समर्थक थी। वह इस बात पर गर्व करती थी कि उसके शासन से राजनीतिक एकता आई है यद्यपि यह एकता केवल समान दासता की एकता थी। **- जवाहर लाल नेहरू**

मॉडल उत्तर

प्रश्न: भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना तक हुए भारतीय राष्ट्रीयता के उद्भव की रूपरेखा दीजिए। (1995) (150 शब्दों में।)

उत्तर: साम्राज्यवाद-विरोधी इस संघर्ष के दौर में एकता की जिस भावना ने जन्म लिया उससे भारतवासियों में भावनात्मक एकता पैदा हुई और इस एकता की वजह से राष्ट्रीयता का जन्म हुआ। 1885 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना से पूर्व भारत में राष्ट्रीयता का जन्म व उसका विस्तार हो चुका था। इस राष्ट्रीयता के उदय में ब्रह्म समाज, आर्य समाज, रामकृष्ण मिशन इत्यादि संस्थाओं द्वारा चलाए गए समाज व धर्म सुधार आन्दोलनों की भूमिका उल्लेखनीय रही। इन आंदोलनों द्वारा भारतीयों को भारत के सुनहरे अतीत की याद दिलाकर उन्हें ललकारा व गौरवान्वित किया गया। इस उभरते हुए आत्मबल व विश्वास ने राष्ट्रीयता को जगाने में सहायता दी। इन सुधारों का परिणाम यह भी देखा जा रहा था कि भारत में सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की प्रक्रिया मजबूत हो रही थी, जो राजनीतिक

DISCOVERY

राष्ट्रवाद का आधार बनी। अंग्रेजी शिक्षा के प्रचार-प्रसार से अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त भारतवासियों में जनवादी एवं राष्ट्रीय भावनाएँ जागृत हुई। अंग्रेजों द्वारा भारतीय सामाजिक व आर्थिक व्यवस्था में परिवर्तनों, जिनमें सामाजिक व्यवस्था में मौलिक परिवर्तन तथा तकनीकी विकास व मुक्त व्यापार ने भारतीय उद्योग-धन्धों को नष्ट कर दिया, इसने भारतीयों में राष्ट्रीयता को जन्म दिया। अंग्रेजों द्वारा भारत में रेल-मार्ग का निर्माण स्वयं के लाभ एवं भारतीयों के शोषण के लिए किया गया था, परंतु रेल यातायात उपलब्ध हो जाने से देश के सुदूर प्रान्तों के बीच संपर्क स्थापित करना संभव हो सका। आपसी संपर्क बढ़ने और विचारों के आदान-प्रदान से आपसी एकता को बढ़ावा मिला जिसने राष्ट्रीयता को पुष्ट किया।

प्रश्न : राष्ट्रवाद के विकास में सहायक तत्वों की भूमिका की विवेचना कीजिए। (250 शब्दों में)

उत्तर : राष्ट्रवाद के विकास में अनेक तत्वों का योगदान परिलक्षित होता है। अंग्रेजों ने भारत में अंग्रेजी शिक्षा का प्रसार अपने उद्देश्य प्राप्ति के लिए किया था। लेकिन इस शिक्षा के प्रसार से पश्चिमी देशों के राजनीतिक विकास व चिंतन का ज्ञान भारतीयों को उपलब्ध हुआ। स्वतंत्रता, समानता एवं प्रतिनिधित्व के सिद्धांतों से प्रेरित फ्रांस व अमेरिकी क्रान्तियों का ज्ञान भी प्राप्त हुआ। इससे भारतीयों में राष्ट्रवादी भावनाएँ जागृत हुई। समाचार-पत्रों के माध्यम से जनता को अपने राजनीतिक अधिकारों का ज्ञान कराया गया व उन्हें राजनीतिक शिक्षा प्रदान की गई कि किस प्रकार ब्रिटिश साम्राज्यवादी नीतियाँ उनके शोषण का महत्त्वपूर्ण कारण हैं। देश में सभी शहरों व कस्बों में ऐसी राजनीतिक संस्थाओं की स्थापना की गई, जो प्रशासनिक सुधारों की माँग से प्रेरित थीं।

अंग्रेजों की साम्राज्यवादी नीतियों, जैसे-प्रजातीय विभेद, सरकार की उच्च सेवाओं में समस्त स्थान अंग्रेजों के लिए सुरक्षित रखना आदि ने जनता में एकता की भावना पैदा की। सामाजिक और धर्म सुधार आन्दोलनों ने भारतीयों को उनके गौरवपूर्ण अतीत की याद दिलाकर उनमें आत्मबल व राष्ट्रीयता की भावना पैदा की। मुस्लिम बहावी व अहमदिया जैसे आंदोलनों ने मुस्लिम वर्ग में जागृति पैदा की। वहीं ब्रिटिश शासन द्वारा किए जा रहे आर्थिक शोषण ने भी भारतीयों में राष्ट्रीयता की भावना को जन्म दिया। यातायात तथा संचार के साधनों के विकास से राष्ट्रीय आन्दोलन समस्त भारत में फैल गया। भारतीय अतीत की उपलब्धियों व महानता ने भारतीयों को जागृत किया, वहीं साहित्य जिसमें भारतीय होने में गौरव, भारत माता के प्रति भक्ति व बलिदान का वर्णन होता था, ने भी राष्ट्रवाद के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया।

समाज के विभिन्न वर्गों में राष्ट्रीयता की भावना के विकास ने आन्दोलन को गति प्रदान की। मध्य वर्ग, जो कि संस्कृति का वाहक होता है, ने आंदोलन को आगे बढ़ाया। वहीं मजदूर व कृषक वर्ग के उदय व इनके द्वारा चलाए गए आन्दोलनों ने भी राष्ट्रीय आन्दोलन को गति दी, जिनमें चम्पारण व खेड़ा आंदोलन मुख्य हैं। धीरे-धीरे पूँजीपति वर्ग भी इस आन्दोलन में शामिल हो गया। कुछ तात्कालिक विदेशी घटनाओं, जैसे-जापान का रूस को पराजित करना व रूस की बोल्शेविक क्रान्ति का भी आंदोलन पर गहरा प्रभाव पड़ा, वस्तुतः क्रान्तिकारियों के कार्यों को कभी व्यापक जन-समर्थन प्राप्त नहीं हुआ लेकिन उनके शौर्य प्रदर्शन ने जनता में राष्ट्रवाद की भावना जागृत की।

DISCOVERY

2. समाज एवं धर्म सुधार आन्दोलन

भूमिका

इतिहास वेत्ताओं ने 19वीं सदी के धर्म एवं समाज सुधार आन्दोलन का विश्लेषण दो पृथक्-पृथक् रूपों में किया है। कुछ विद्वानों का अभिमत है कि यह एक प्रकार का पुनरुत्थानवादी आन्दोलन था तो कुछ लोग इसे पाश्चात्य प्रभाव में विकसित केवल एक सुधारवादी आन्दोलन मानते हैं। यहाँ इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता है कि पाश्चात्य विज्ञान, प्रगतिशील विचारधारा एवं तकनीकी ज्ञान को अपनाने की दृढ़ इच्छा निश्चित रूप से सुधारवादियों के मस्तिष्क में थी परन्तु वे भारतवर्ष की प्राचीन गौरवशाली परम्पराओं से भी उतने ही अभिप्रेरित थे।

जहाँ तक धर्म एवं समाज सुधार आन्दोलन के मुख्य कारणों का प्रश्न है, उसमें प्रमुख हैं - पाश्चात्य चिंतन, दर्शन का प्रभाव, अंग्रेजी शिक्षा का सकारात्मक पक्ष, इंडो-लोजिकल स्टडीज का विकास एवं एशियाटिक सोसायटी जैसी संस्थाओं द्वारा प्राचीन भारतीय संस्कृति की गवेषणा एवं ईसाई मिशनरी के विरुद्ध वैचारिक प्रतिक्रिया।

ईसाई मिशनरियों का आगमन

दक्षिणी भारत में ईसाई मिशनरियां बहुत पहले से धर्म-प्रचार में लगी हुई थीं, लेकिन 18वीं-19वीं सदी की ईसाई मिशनरियों से वे इस अर्थ में भिन्न थीं कि उन्हें राजनीतिक सत्ता का समर्थन नहीं मिल सका। 1793 ई. के चार्टर एक्ट के अनुसार इंग्लैंड की ईसाई मिशनरियों को भारत आने की अनुमति नहीं थी। लेकिन उन्होंने चोरी-छिपे आना आरंभ कर दिया। वैधानिक प्रस्तावों को ध्यान में रखते हुए उन्होंने अपना मुख्य कार्यालय सेरामपुर (श्रीरामपुर) बंगाल गांव को बनाया जो डच अधिकार में था। 1813 ई. के एक्ट से उनका आगमन नियमित कर दिया गया और 1833 ई. के पश्चात् उन्हें भारत आकर बसने की खुली छूट दे दी गई।

ईसाई मिशनरियों का प्रमुख लक्ष्य भारत में ईसाई धर्म का प्रचार तथा यहां के निवासियों को ईसाई बनाना था। प्रचार कार्य केवल छापेखाने, पुस्तक तथा पुस्तिकाओं के प्रकाशन तथा स्कूलों की स्थापना से ही संभव था। धर्म परिवर्तन के लिए ईसाइयों ने प्रचार एवं बल तथा प्रलोभन का प्रयोग किया। मिशनरी खुले बाजारों में हिंदू धर्म, तथा सामाजिक और धार्मिक रीति-रिवाजों की आलोचना करके ईसाई धर्म की सर्वोच्चता बताया करते थे। उन्होंने हिंदुओं की धार्मिक तथा सामाजिक रीतियों एवं परंपराओं के दोषों का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन किया।

भारत में लोगों को ईसाई बनाने के लिए मिशनरियों ने शिक्षा संस्थाओं तथा समाचार पत्रों की स्थापना की। इन मिशनरियों के प्रचार का ही परिणाम था कि 1813 ई. के चार्टर एक्ट में शिक्षा तथा साहित्य के विकास के लिए एक लाख रुपए वार्षिक खर्च की व्यवस्था की गई। आरंभ में कंपनी के संचालक इस धनराशि के खर्च के संबंध में कोई योजना नहीं बना सके। केवल ईसाई मिशनरियां ही शिक्षा प्रचार के लिए अत्यधिक प्रयत्नशील रहीं। उन्होंने 1818 ई. में दिग्दर्शन (मासिक) और समाचार दर्पण (साप्ताहिक) पत्रिकाओं का प्रकाशन भी आरंभ किया। विभिन्न शिक्षा संस्थाओं की स्थापना की गई। इन शिक्षा संस्थाओं में प्रगतिशील भारतीय नेताओं का भी योगदान रहा। मिशनरियों के कार्य से शिक्षा का प्रचार व्यापक रूप से हुआ।

राष्ट्रवाद का आधार बनी। अंग्रेजी शिक्षा के प्रचार-प्रसार से अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त भारतवासियों में जनवादी एवं राष्ट्रीय भावनाएँ जागृत हुई। अंग्रेजों द्वारा भारतीय सामाजिक व आर्थिक व्यवस्था में परिवर्तनों, जिनमें सामाजिक व्यवस्था में मौलिक परिवर्तन तथा तकनीकी विकास व मुक्त व्यापार ने भारतीय उद्योग-धन्धों को नष्ट कर दिया, इसने भारतीयों में राष्ट्रीयता को जन्म दिया। अंग्रेजों द्वारा भारत में रेल-मार्ग का निर्माण स्वयं के लाभ एवं भारतीयों के शोषण के लिए किया गया था, परंतु रेल यातायात उपलब्ध हो जाने से देश के सुदूर प्रान्तों के बीच संपर्क स्थापित करना संभव हो सका। आपसी संपर्क बढ़ने और विचारों के आदान-प्रदान से आपसी एकता को बढ़ावा मिला जिसने राष्ट्रीयता को पुष्ट किया।

प्रश्न : राष्ट्रवाद के विकास में सहायक तत्वों की भूमिका की विवेचना कीजिए। (250 शब्दों में)

उत्तर : राष्ट्रवाद के विकास में अनेक तत्वों का योगदान परिलक्षित होता है। अंग्रेजों ने भारत में अंग्रेजी शिक्षा का प्रसार अपने उद्देश्य प्राप्ति के लिए किया था। लेकिन इस शिक्षा के प्रसार से पश्चिमी देशों के राजनीतिक विकास व चिंतन का ज्ञान भारतीयों को उपलब्ध हुआ। स्वतंत्रता, समानता एवं प्रतिनिधित्व के सिद्धांतों से प्रेरित फ्रांस व अमेरिकी क्रान्तियों का ज्ञान भी प्राप्त हुआ। इससे भारतीयों में राष्ट्रवादी भावनाएँ जागृत हुई। समाचार-पत्रों के माध्यम से जनता को अपने राजनीतिक अधिकारों का ज्ञान कराया गया व उन्हें राजनीतिक शिक्षा प्रदान की गई कि किस प्रकार ब्रिटिश साम्राज्यवादी नीतियाँ उनके शोषण का महत्त्वपूर्ण कारण हैं। देश में सभी शहरों व कस्बों में ऐसी राजनीतिक संस्थाओं की स्थापना की गई, जो प्रशासनिक सुधारों की माँग से प्रेरित थीं।

अंग्रेजों की साम्राज्यवादी नीतियों, जैसे-प्रजातीय विभेद, सरकार की उच्च सेवाओं में समस्त स्थान अंग्रेजों के लिए सुरक्षित रखना आदि ने जनता में एकता की भावना पैदा की। सामाजिक और धर्म सुधार आन्दोलनों ने भारतीयों को उनके गौरवपूर्ण अतीत की याद दिलाकर उनमें आत्मबल व राष्ट्रीयता की भावना पैदा की। मुस्लिम बहावी व अहमदिया जैसे आंदोलनों ने मुस्लिम वर्ग में जागृति पैदा की। वहीं ब्रिटिश शासन द्वारा किए जा रहे आर्थिक शोषण ने भी भारतीयों में राष्ट्रीयता की भावना को जन्म दिया। यातायात तथा संचार के साधनों के विकास से राष्ट्रीय आन्दोलन समस्त भारत में फैल गया। भारतीय अतीत की उपलब्धियों व महानता ने भारतीयों को जागृत किया, वहीं साहित्य जिसमें भारतीय होने में गौरव, भारत माता के प्रति भक्ति व बलिदान का वर्णन होता था, ने भी राष्ट्रवाद के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया।

समाज के विभिन्न वर्गों में राष्ट्रीयता की भावना के विकास ने आन्दोलन को गति प्रदान की। मध्य वर्ग, जो कि संस्कृति का वाहक होता है, ने आंदोलन को आगे बढ़ाया। वहीं मजदूर व कृषक वर्ग के उदय व इनके द्वारा चलाए गए आन्दोलनों ने भी राष्ट्रीय आन्दोलन को गति दी, जिनमें चम्पारण व खेड़ा आंदोलन मुख्य हैं। धीरे-धीरे पूँजीपति वर्ग भी इस आन्दोलन में शामिल हो गया। कुछ तात्कालिक विदेशी घटनाओं, जैसे-जापान का रूस को पराजित करना व रूस की बोल्शेविक क्रान्ति का भी आंदोलन पर गहरा प्रभाव पड़ा, वस्तुतः क्रान्तिकारियों के कार्यों को कभी व्यापक जन-समर्थन प्राप्त नहीं हुआ लेकिन उनके शौर्य प्रदर्शन ने जनता में राष्ट्रवाद की भावना जागृत की।

ईसाइयों ने सबसे पहले बाइबिल का विभिन्न भाषाओं में अनुवाद कराया। इसके पश्चात् उन्होंने स्कूलों के पाठ्य पुस्तकों को तैयार करवाने पर बल दिया। इस दिशा में बहुत सी अंग्रेज़ी पुस्तकों का स्थानीय तथा क्षेत्रीय भाषाओं में अनुवाद किया गया। अनुवाद की आवश्यकता को पूरा करने के लिए उन भाषाओं के साहित्य तथा व्याकरण का अध्ययन किया गया। पुस्तकों तथा समाचार-पत्रों के प्रकाशन से क्षेत्रीय भाषाओं के साहित्य का विकास हुआ। मिशनरियों के कार्य की देखा-देखी बंगाल में भारतीयों ने भी पत्र-पत्रिकाओं और शिक्षा संस्थाओं की स्थापना की ओर ध्यान दिया।

मिशनरियों के प्रचार तथा प्रकाशन में हिंदुओं की पर्याप्त आलोचना तथा उन पर अतिशयोक्तिपूर्ण दोषारोपण होता था। हिंदुओं ने अंग्रेजी शिक्षा की ओर आकर्षित होना भी आरंभ कर दिया। भारतीय नेताओं ने 1823 ई. में सरकार से अनुरोध किया कि सरकारी राशि केवल अंग्रेजी शिक्षा के प्रसार पर ही खर्च की जाए। कुछ ब्राह्मणों ने सर एडवर्ड हाइड ईस्ट (सुप्रीम कोर्ट के मुख्य न्यायाधीश) के नेतृत्व में 1817 ई. में हिंदू कॉलेज की स्थापना की। इस काल में 1826 ई. में डेरोजियो को सहायक अध्यापक नियुक्त किया गया। उसने आरंभ में बंगाल के नवयुवकों को बहुत प्रभावित किया। अंग्रेजी पढ़े-लिखे बंगाली नवयुवकों में प्रचलित धर्म तथा समाज के प्रति आलोचनात्मक दृष्टिकोण विकसित हुआ। लेकिन इन नवयुवकों का आलोचनात्मक दृष्टिकोण केवल हिंदू धर्म तक ही सीमित नहीं रहा। जब उन्होंने प्रचलित ईसाई धर्म को तर्क की कसौटी पर तौलना आरंभ किया तब ईसाई भी इस नई प्रवृत्ति से चिंतित हो उठे और उन्होंने ईसाई धर्म की शिक्षा पर अधिक बल देना आरंभ किया। हिंदू कॉलेज में पढ़े हुए व्यक्तियों ने शिक्षा के प्रचार के लिए अधिक प्रयत्न किए।

राजा राममोहन राय एवं समाज सुधार

समाज सुधार के क्षेत्र में राजा राममोहन राय का सबसे बड़ा योगदान सती प्रथा के विरोध में था। सती प्रथा मौलिक रूप से अत्यंत प्राचीन थी, किंतु इसके साथ स्वेच्छा आवश्यक थी। बंगाल में 18वीं सदी के अंत में इस प्रथा के कुछ उदाहरण तो मिलते हैं, किंतु 19वीं सदी के आरंभ में यह प्रथा अधिक प्रचलित हो गई। 1812 ई. में अंग्रेजी सरकार के आदेशानुसार नशीली वस्तुओं के प्रभाव में विधवाओं को सती होने से मना कर दिया गया। 1815 ई. तथा 1817 ई. में सती प्रथा से संबंधित कुछ आदेश पारित किए गए जिनके अनुसार कुछ श्रेणियों की विधवाओं को सती होने की मनाही कर दी गई। इसका परोक्ष प्रभाव यह हुआ कि अब सभी विधवाओं को सती होने की सरकारी मान्यता मिल गई। 1815-17 ई. के मध्य अकेले बंगाल में 864 स्त्रियां सती हुई और बंगाल में भी कलकत्ता जिले में सती की सबसे अधिक घटनाएं हुईं।

बंगाल में सती प्रथा को समाप्त करने के पक्ष में कुछ लोग 19वीं सदी के आरंभ से ही प्रयत्नशील थे। 1805 ई. में कलकत्ता की सदर निजामत अदालत के हिन्दू पंडितों के परामर्श से सरकार ने 1812 ई. के आदेश प्रसारित किए। 1818 ई. में कलकत्ता के कुछ हिंदुओं ने सरकार के 1815-1817 ई. के आदेशों के विरुद्ध एक ज्ञापन दिया। दूसरी ओर अगस्त, 1818 ई. में कलकत्ता के प्रतिष्ठित हिंदुओं ने एक विरोध पत्र में सती प्रथा को अमानवीय कहा तथा उन्होंने सरकार से यह आशा की कि वह भविष्य में इसे कम करने के लिए प्रयास करे। राजा राममोहन राय ने 1811 ई. में अपने बड़े भाई की मृत्यु पर अपनी भाभी को सती होते देखा था और तभी से वे इसका विरोध कर रहे थे। राजा राममोहन ने 1818 ई. में दो व्यक्तियों-सती प्रथा के समर्थक तथा विरोधी-के मध्य एक वार्तालाप प्रकाशित किया जिसमें स्त्री जाति के पक्ष में तर्क देते हुए मानवता पर आधारित यह अपील की गई कि उन्हें जीवित न जलाया जाए। विभिन्न धर्म-शास्त्रों तथा टीकाकारों का उद्धरण देकर उन्होंने यह बताने का प्रयत्न किया कि सती का विरोध धर्मशास्त्रों में भी है। राजा राममोहन सती का विरोध शास्त्रीय आधार पर करते थे।

लार्ड विलियम बेंटिक उपयोगितावादी विचार से प्रभावित था और राज्य द्वारा नियम बनाकर समाज में परिवर्तन लाना चाहता था। भारत आने के पूर्व ही उसने सती प्रथा को समाप्त करने का निर्णय कर लिया था। उसे यह आशंका थी कि इस प्रथा को बंद कर देने से सेना में विद्रोह हो जाएगा। इसलिए उसने सैनिक अथवा असैनिक अधिकारियों से पूछा, 49 सेना अधिकारियों में 24 तथा 15 असैनिक अधिकारियों में 8 इस प्रथा के अंत किए जाने के पक्ष में थे, शेष में अधिकांश इस प्रथा को धीरे-धीरे समाप्त करने के पक्ष में थे। इसलिए बेंटिक ने इस प्रथा को समाप्त करने का निर्णय लिया। राममोहन ने बेंटिक के निर्णय का विरोध किया। वह चाहते थे कि इस प्रथा को धीरे-धीरे जनमत के द्वारा समाप्त होने दिया जाए। मिस कोलेट भी राजा राममोहन राय के दृष्टिकोण को उचित ठहराती

हैं, क्योंकि राममोहन वैधानिक दृष्टि से दबाव डालकर कार्य करने के विरुद्ध थे।

सती प्रथा समाप्त करने के संबंध में राजा राममोहन राय के कार्य का ठीक मूल्यांकन सामान्यत: नहीं किया जाता। सती का विरोध राममोहन के पूर्व ही आरंभ हो चुका था और सती निषेध आज्ञा में राममोहन का कोई योगदान नहीं था। इतना अवश्य है कि बाद में निषेध आज्ञा का समर्थन राममोहन ने किया तथा इस बात का बाद में प्रचार करने कि सती प्रथा उन्मूलन कानून समाज द्वारा भी लागू किया जाना चाहिए, में उनकी मुख्य भूमिका थी। समाज द्वारा इस प्रथा का विरोध हो इसके लिए राजा राममोहन राय ने जगह-जगह सभाएं की तथा लोगों को प्रेरित किया। वास्तव में सती प्रथा के विरुद्ध जनमत तैयार करने में उन्होंने सर्वाधिक योगदान दिया, जो उस काल में सबसे बड़ा कार्य था।

शिक्षा तथा साहित्य

19वी सदी में नया चिंतन अथवा पुनर्जागरण और अंग्रेजी शिक्षा के प्रसार में घनिष्ठ संबंध है। बंगाल में अंग्रेजी शिक्षा के प्रसार में कलकत्ता के हिंदू कॉलेज का योगदान अत्यधिक है। राजा राममोहन राय का हिंदू कॉलेज की स्थापना में कोई हाथ नहीं था। राजा राममोहन राय ने अंग्रेजी शिक्षा के समर्थन में 1823 ई. में लार्ड एमहर्स्ट को एक मेमोरेंडम दिया उनका यह समर्थन उल्लेखनीय है क्योंकि धार्मिक क्षेत्र में वे वेदांत तथा उपनिषदों के पठन-पाठन पर बल दे रहे थे। अंतत: सरकार ने अंग्रेजी शिक्षा को प्रश्रय देना स्वीकार किया, इसलिए भारत में अंग्रेजी शिक्षा के प्रसार में राममोहन का योगदान रहा। 1830 ई. में इंग्लैंड जाने के पूर्व राममोहन ने एक स्कूल के लिए भवन दिलवाने में एलेक्जेंडर डफ की विशेष सहायता की।

बांग्ला साहित्य के विकास में राममोहन का काफी योगदान है। उनसे पूर्व ही बांग्ला गद्य साहित्य का विकास हो चुका था। उन्होंने वेदांत और उपनिषदों का बांग्ला में अनुवाद किया और पाठ्य-पुस्तकों के अतिरिक्त पहली बार गद्य साहित्य को प्रोत्साहन दिया। दिसंबर, 1821 ई. में उन्होंने 'संवाद कौमुदी' नामक एक साप्ताहिक पत्रिका प्रकाशित करनी आरंभ की यद्यपि इसका औपचारिक संपादन कोई अन्य व्यक्ति करता था। यह पत्रिका एक वर्ष भी नहीं चल सकी। इस आधार पर राममोहन को बंगाली गद्य साहित्य का निर्माता कहना अतिशयोक्तिपूर्ण होगा। 1818 ई. में तीन बंगाली पत्रिकाएं प्रकाशित होनी आरंभ हो चुकी थीं–'दिग्दर्शन', 'समाचारदर्पण', 'बांग्ला गजट'। 'समाचारदर्पण' 30 वर्षों से अधिक समय तक प्रकाशित होती रही। इन तीनों पत्रिकाओं से राममोहन का संबंध नहीं था।

राजनीतिक चिंतन

राममोहन स्वतंत्रता प्रेमी थे, लेकिन उनका स्वातंत्र्य प्रेम दार्शनिक स्तर पर था। भारत के संदर्भ में वे अंग्रेजी राज्य को ईश्वर की देन समझते थे। उन्हें अंग्रेजों पर अटूट विश्वास था। वे अंग्रेजों का भारतीयों के साथ अधिक संपर्क भारतीयों के हित में समझते थे। अंग्रेज नील प्लांटरों का भारत आगमन वे भारतीयों के लिए लाभदायक समझते थे। उनका विचार था कि जितने अधिक अंग्रेज भारत में आकर बसेंगे उतनी ही भारतवासियों की भलाई होगी।

राजा राममोहन राय अपने स्वातंत्र्य प्रेम और अंग्रेजी अधीनता में कोई विरोधाभास अनुभव नहीं करते थे। वह स्पेन के नियंत्रण से दक्षिण अमरीकी उपनिवेशों की मुक्ति पर हर्ष व्यक्त करके भी भारत पर अंग्रेजी अधिकार को उचित ठहरा सकते थे। किन्तु वे अंग्रेजी सरकार की अनुचित नीति की आलोचना करने में जरा भी संकोच नहीं करते थे। 1823 ई. के प्रेस अध्यादेश अथवा 1827 ई. के जूरी एक्ट की उन्होंने काफी आलोचना की। लेकिन उनकी इस आलोचना ने कोई संस्थागत अथवा व्यावहारिक रूप धारण नहीं किया।

राममोहन ने विभिन्न क्षेत्रों में कार्य किए। उन्हें किसी एक क्षेत्र में अग्रदूत कहना कठिन है। समाज सुधार, शिक्षा, पत्रकारिता, साहित्य के क्षेत्र में उनके पूर्वगामी अन्य व्यक्ति रहे थे, अंग्रेजी साम्राज्य के प्रति अथवा हिंदू जाति की प्राचीन उपलब्धियों के प्रति जो दृष्टिकोण राममोहन का था, संभवत: 19वीं सदी के आरंभ में उससे भिन्न होना कठिन था। उनके व्यक्तित्व की महानता इस बात में है कि वे पहले व्यक्ति थे जिन्होंने विभिन्न क्षेत्रों में अनुभव किए जा रहे परिवर्तनों को एक साथ रखकर एक नई चेतना का सूत्रपात किया। वास्तव में उस अंधकार के युग में चेतना का विस्तार करना सबसे बड़ा कार्य था और इसी कारण उन्हें सामाजिक सुधारों का अग्रदूत कहा जाता है। राममोहन ने विभिन्न क्षेत्रों में नई प्रवृत्तियों का समर्थन किया। ब्रह्म समाज का कालांतर में जो रूप विकसित हुआ वह राममोहन के चिंतन से भिन्न था। सामाजिक क्षेत्र में राममोहन का सर्वाधिक बड़ा योगदान सती क्षेत्र में ही था।

ब्रह्म समाज आन्दोलन का प्रभाव

ब्रह्म समाज आन्दोलन का प्रभाव अत्यंत दूरगामी था। महाराष्ट्र में आत्माराम पाण्डुरंग द्वारा चलाया गया प्रार्थना समाज का आन्दोलन वस्तुत: इसी आन्दोलन के आदर्शों से अभिप्रेरित था। प्रार्थना समाज का कालान्तर में नेतृत्व महादेव गोविन्द राणाडे द्वारा किया गया। महादेव गोविन्द राणाडे महाराष्ट्र के क्षेत्र में अग्रणी समाज सुधारक थे। सर्वप्रथम इन्होंने समाज सुधार को एक राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में देखा एवं ऑल इण्डिया रिलिजियस कांग्रेस आयोजित करवाया। इसी क्षेत्र में गोपाल हरि देशमुख, जिन्हें लोक हितवादी कहा गया, समाज सुधार में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह कर रहे थे। डेक्कन ऐजुकेशनल सोसायटी भी एक अन्य प्रमुख संस्था थी। जिसके नेता जी. जी. अगारकर ने अपनी संस्कृति के उपयुक्त गौरव गायन की बात रखी।

आंध्रप्रदेश के क्षेत्र में भी ब्रह्म समाज की विचारधारा का व्यापक प्रभाव पड़ा, वहाँ वीरेशलिंगम् पन्तुलु ने विधवा विवाह की दिशा में महत्त्वपूर्ण कार्य किया एवं राजमुन्दरी में विधवाओं के लिए आश्रम की व्यवस्था की।

स्वयं बंगाल के क्षेत्र में ब्रह्म समाज की विचारधारा को अलग-अलग रूपों में प्रसारित करने का कार्य जारी रहा। ईश्वरचंद्र विद्यासागर ने विधवा विवाह को विधिक मान्यता दिलवाने में सफलता प्राप्त की। 1850 का विधवा पुनर्विवाह अधिनियम राजा राम मोहन राय के प्रयत्नों की सकारात्मक परिणति के रूप में आया, जिसका प्रारंभ उन्होंने सती निषेध हेतु प्रयत्न से किया था।

स्वामी दयानंद सरस्वती और आर्य समाज आंदोलन

स्वामी दयानंद सरस्वती द्वारा चलाया गया आर्य समाज आंदोलन कई प्रकार से ब्रह्म समाज से भिन्न था। संस्कृत के प्रकांड विद्वान और संन्यासी होने से वह राममोहन से कुछ बातों से अलग थे। उनका वेदों की उच्चता, पुनर्जन्म और कर्म सिद्धांत में अटूट विश्वास था। पूजा विधि की भी उन्होंने पुरानी पद्धति को ही अपनाया। वह अंग्रेजी भाषा से अपरिचित थे। उनका प्रचार कार्य केवल अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों तक ही सीमित न होकर सामान्य जनता तक फैला हुआ था।

दयानंद प्रचलित हिंदू धर्म की बुराइयों की कटु आलोचना से नहीं चूकते थे। विभिन्न स्थानों पर धार्मिक शास्त्रार्थ में प्रचलित हिंदू धर्म के समर्थकों को उन्होंने बहुत बुरा-भला कहा। इस समय ईसाई मिशनरियों की गतिविधियां-अधिक व्यापक हो गई थीं। वे अपने धार्मिक प्रचार के साथ-साथ हिन्दू धर्म के पास 'पवित्र पुस्तक' का अभाव बताकर उन्हें ईसाई धर्म में परिवर्तित करना चाहते थे। इसलिए स्वामी दयानन्द ने वेदों को अमोघ तथा ईश्वरीय कहा। वेदों के सर्वगुण संपन्न होने से उन्हें आंतरिक उत्साह तथा प्रेरणा मिलती थी और वेदों के बताए हुए मार्ग को ही वह सत्य मानते थे। इसलिए हिंदू धर्म पर आक्षेप करने वालों को उन्हीं के स्तर पर उत्तर देते थे। दयानंद यह समझते थे कि हिंदू धर्म की प्रतिरक्षा के लिए उसके आलोचकों की आलोचना आवश्यक थी। वह चाहते थे कि हिंदुओं को भी प्रचार तथा धर्म परिवर्तन कार्य में योगदान देना चाहिए। उनका विश्वास था कि वेदों में निहित सत्य केवल हिंदुओं के लिए ही नहीं बल्कि विश्व भर के समाज के लिए है।

अप्रैल, 1875 ई. में बंबई में आर्य समाज की पहली शाखा स्थापित की गई। जून, 1877 ई. में लाहौर में आर्य समाज की एक अन्य शाखा खोली गई। कालांतर में इस आंदोलन का प्रमुख कार्यालय लाहौर ही बन गया। इस समय स्वामीजी ने आर्य समाज के 10 सिद्धांतों का प्रतिपादन किया कुछ सिद्धांत निम्नलिखित हैं :

1. समस्त ज्ञान का निमित्त कारण और उसके माध्यम से समस्त बोध ईश्वर है।
2. ईश्वर सर्वशक्तिमान, अद्वितीय, सर्वज्ञ, अमर तथा सर्वव्यापी है।
3. सच्चा ज्ञान वेदों में निहित है। आर्यों का परम धर्म वेदों का पठन-पाठन है।
4. प्रत्येक व्यक्ति को सदा सत्य ग्रहण करने और असत्य को छोड़ने के लिए तैयार रहना चाहिए।
5. कार्य धर्मानुसार, अर्थात् सत्य और असत्य को विचार करके करने चाहिए।
6. संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है।
7. प्रत्येक को अपनी ही उन्नति में संतुष्ट नहीं रहना चाहिए, सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिए।

इन सिद्धान्तों में आठ सामान्य नियम थे। केवल दो सिद्धान्तों में निराकार ब्रह्म (ईश्वर) की उपासना और वेदों के समस्त ज्ञान का स्त्रोत होने पर बल दिया गया है। इसलिए आर्य समाज की प्रमुख विशेषता वेदों के अमोघ होने में थी। दयानंद द्वारा चलाए गए आंदोलन ने साम्राज्यवादियों द्वारा पश्चिमी ज्ञान तथा ईसाई धर्म प्रचारकों द्वारा अपने धर्म की उच्चता के प्रचार से प्रस्तुत चुनौती का उचित प्रत्युतर प्रस्तुत किया। आर्य समाज द्वारा वेदों के आधार पर हिंदू धर्म को पुन: स्थापित करने के प्रयत्न को पुनरुत्थानवादी आंदोलन कहा जाता है। 19वीं सदी तक शताब्दियों से चले आ रहे अनावश्यक परंपराओं तथा तत्त्वों को धर्म से अलग करने और धर्म को उसके असली रूप में प्रस्तुत करने के लिए इससे अच्छा अन्य कोई प्रयत्न नहीं हो सकता था। आर्य समाज आंदोलन किसी बाह्य तथ्यों की अपेक्षा मूल रूप से प्राचीन भारत से प्रेरित था। यूरोप में प्रोटेस्टेंट धर्म सुधार आंदोलन भी बाइबिल के पुन: अध्ययन के आधार पर अत्यधिक प्रभावशाली बना था। वेदों के अध्ययन पर बल देकर दयानन्द ने कई दूरगामी परिवर्तनों का सूत्रपात किया। पहले वेदों का अध्ययन केवल ब्राह्मणों का ही एकाधिकार था। दयानन्द ने सब वर्ण के लोगों को वेदों के अध्ययन तथा व्याख्या का अधिकार दिया।

आर्य समाज वास्तव में स्वामी दयानंद के बहुमुखी व्यक्तित्व का प्रतिबिंब है। 1883 ई. में स्वामीजी की मृत्यु से आन्दोलन के विकास को कुछ धक्का लगा। यद्यपि असंख्य आर्य समाजियों ने मिलकर कार्य करने का दृढ़ संकल्प किया, फिर भी कुछ विषयों पर मतभेद के कारण आर्य समाज के अनुयायियों के 1892 ई. में दो दल बन गए। यह मतभेद इस मौलिक समस्या को लेकर आरंभ हुआ कि क्या एक आर्य समाजी के लिए केवल 10 सिद्धान्तों का ही मानना आवश्यक है अर्थवा दयानंद के विभिन्न आदेशों एवं वेदों की व्याख्या को मानना भी आवश्यक है। यह विवाद दयानंद द्वारा दिए गए व्याख्या के अधिकार से संबंधित था। क्या एक आर्य समाजी अपनी व्यक्तिगत जीवन पद्धति में स्वतंत्र है अथवा बहुमत के अधीन है। मांसाहारी अथवा शाकाहारी भोजन और डी. ए. वी. कॉलेज में शिक्षा पद्धति के प्रश्न आर्य समाज को विभक्त करने में निर्णायक रहें।

1. यह समस्या 10 सिद्धान्तों के अतिरिक्त व्यक्तिगत व्याख्या और विश्वासों की स्वतंत्रता की थी कालान्तर में शिक्षा के क्षेत्र में दो दल बन गए। वह जो प्राचीन गुरुकुल आश्रम के आधार पर शिक्षा प्रसार चाहते थे
2. वह जो आधुनिक अंग्रेजी शिक्षा के समर्थक थे। आर्य समाज के ये दोनों दल अपने-अपने मार्ग पर चलते हुए भी कालांतर में मिलकर कार्य करते रहे।

1. जाति व्यवस्था की आलोचना

हिंदू समाज में जाति व्यवस्था शताब्दियों से प्रचलित रही है। एक ओर इस प्रथा को हिंदू धर्म की प्रतिरक्षा का श्रेय है, दूसरी ओर इसको हिंदुओं के राजनीतिक और सामाजिक पतन के लिए भी उत्तरदायी माना जाता है। 19वीं सदी में जन्म पर आधारित जाति व्यवस्था प्राचीन वर्ण व्यवस्था से भिन्न थी। वर्ण व्यवस्था जन्म पर आधारित न होकर स्वभाव एवं कार्यों के आधार पर गठित थी। योग्यता तथा क्षमता के आधार पर एक वर्ण के लोग दूसरे वर्ण को अपना सकते थे। स्वामी दयानन्द ने जन्म पर आधारित जाति व्यवस्था की कटु आलोचना की। उनके अनुसार समाज में प्रत्येक व्यक्ति को समान अवसर उपलब्ध होना चाहिए। यह सम्भव है कि कुछ लोग अपनी शारीरिक अथवा मानसिक दुर्बलताओं से उच्चतम स्थान तक पहुंच न सकें, लेकिन उन्हें जन्म से ही ऐसे अवसरों से वंचित नहीं किया जाना चाहिए। दयानंद ने वर्ण व्यवस्था को उचित ठहराते हुए जाति व्यवस्था का खंडन किया।

2. स्त्रियों की स्थिति में सुधार

वैदिक काल के सामाजिक ढांचे तथा संगठन की प्रशंसा से स्त्रियों को समाज में उच्च स्थान दिलवाने के लिए स्वाभाविक प्रयत्न हुए। वैदिक काल में स्त्रियों को उच्च शिक्षा तथा सामाजिक जीवन में पूरी तरह से भाग लेने का अधिकार था। आर्य समाज ने स्त्री शिक्षा की ओर सबसे अधिक ध्यान दिया। स्त्रियों की गिरी हुई दशा के लिए बहु-विवाह प्रथा तथा बाल विवाह प्रथाएं उत्तरदायी थीं। वैदिक युग में ये दोनों प्रथाएं प्रचलित नहीं थीं। इसलिए आर्य समाज आन्दोलन ने बाल विवाह का विरोध और स्त्री शिक्षा पर बल दिया और 16 वर्ष से कम आयु की लड़कियों का विवाह बंद करने की बात कही।

3. शुद्धि, संगठन और शिक्षा प्रसार

शुद्धि से अभिप्राय उस संस्कार से है जिससे गैर-हिंदुओं, अछूतों, दलित वर्गों तथा धर्म परिवर्तित हिंदुओं को पुन: हिंदू धर्म में स्वीकार

कर लिया जाता था। संगठन का अभिप्राय हिंदुओं को अपनी रक्षा के लिए संगठित करना था। ये दोनों आन्दोलन 20वीं सदी के आरंभ में प्रमुख बन गए। लेकिन शिक्षा प्रसार का कार्य स्वामीजी की मृत्यु के तुरंत बाद ही आरंभ कर दिया गया। स्वामीजी ने सबसे अधिक बल वेदों के अध्ययन पर दिया और भारत के पिछड़ेपन का एक प्रमुख कारण व्यापक अज्ञानता बताया। आर्य समाज के 10 सिद्धान्तों में से एक ज्ञान प्रसार और अज्ञानता के दूर करने के प्रयत्न से संबंधित था। आर्य समाज के इस क्षेत्र में कार्य का अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि अंग्रेजी सरकार के अतिरिक्त पंजाब, उत्तर प्रदेश में अन्य किसी भी संस्था ने छात्रों और छात्राओं की शिक्षा के लिए इसके समान प्रयत्न नहीं किया। आर्य समाज द्वारा दो प्रकार की शिक्षा संस्थाएं स्थापित की गईं : (1) वे शिक्षा संस्थाएं जो सरकारी शिक्षा पद्धति से संबंधित थीं (डी. ए. वी. संस्थाएं), (2) वे शिक्षा संस्थाएं जो सरकारी नियंत्रण से मुक्त थीं (गुरुकुल संस्थाएं)। 1886 ई. में लाहौर में डी. ए. वी. स्कूल की स्थापना की गई और लाला हंसराज ने अपनी अवैतनिक सेवाएं इसे दी। 1902 में मुन्शीराम के नेतृत्व में हरिद्वार में गुरुकुल की स्थापना हुई। डी. ए. वी. संस्थाएं अन्य प्रान्तों में तेजी से फैलीं, जबकि गुरुकुल पद्धति इतनी लोकप्रिय नहीं हुई।

स्वामी विवेकानंद एवं रामकृष्ण मिशन

गदाधर चट्टोपाध्याय जिन्हें कालान्तर में तोतापुरी नामक वेदान्ती संन्यासी द्वारा श्री रामकृष्ण परमहंस की संज्ञा दी गई, कलकत्ता के दक्षिणेश्वर काली मंदिर में पुजारी थे। उन्होंने भैरवी ब्राह्मणी नामक स्त्री से तंत्र की भी शिक्षा प्राप्त की थी। बाद में अन्य धर्मों के तत्व को समझने के लिये क्रिश्चियन एवं इस्लाम दोनों मार्ग पर चलकर देखा। भक्तिवाद को समझने के लिए राधा का रूप धारण कर कृष्ण की अराधना की। इस प्रकार उनका चिंतन सभी धर्मों में समानता के भाव पर आधारित था। विजय कृष्ण गोस्वामी एवं केशवचंद्र सेन जैसे धार्मिक विचारक उनके प्रभाव में आये पर उनकी आध्यात्मिक भावना और चिंतन का वास्तविक प्रकाशन स्वामी विवेकानंद की प्रखर विचारधारा में प्रकट हुई। विवेकानंद ने अपनी समस्त विचारशक्ति को अपने गुरु की विचारधारा से उत्पन्न माना।

स्वामी विवेकानंद ने अपनी विचारधारा को 'प्रबुद्ध भारत' एवं उद्‌बोधन नामक पत्रों के माध्यम से सामने लाया एवं राजयोग तथा कर्मयोग जैसी पुस्तकों के लेखन द्वारा भागवत् गीता के सिद्धान्त एवं दर्शन की नवीन व्याख्या प्रस्तुत की। स्वामीजी भारत की आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक एकता को उद्‌घाटित करते हुए भारत गढ़ो का संदेश दिया। शिकागो की विश्व धर्म सभा (1897) में स्वामीजी के संभाषण द्वारा वैदिक धर्म की महत्ता का प्रकाशन हुआ एवं भारतीय धर्म को आत्म गौरव की प्राप्ति हुई।

स्वामीजी भारतीय सामाजिक दुरावस्था का कारण भारतीय जन मानस में आयी अकर्मण्यता को माना एवं 'उतिष्ठ के लिये' प्रयत्न करने के लिये कहा। स्वामी विवेकानंद प्रथम ऐसे समाज सुधारक थे, जिन्होंने निर्धनता के प्रश्न को सामाजिक कुरीतियों से जोड़कर देखा। उन्होंने कहा जब तक एक भी मानव धरती पर भूखा है समस्त मानवता को धोखे की बात माना जाना चाहिए। स्वामीजी ने रोटी के आधार पर धर्म परिवर्तन की प्रखर आलोचना की तथा राष्ट्रीय एकता का आधार साम्प्रदायिक सौहार्द्र को माना। उन्होंने 'मुस्लिम बॉडी एवं हिन्दू माइन्ड' का नारा दिया। जिसका तात्पर्य है- हिन्दू मानस की भांति उदारता एवं मुस्लिम सामाजिक संगठन की भांति एकता।

स्वामीजी ने रामकृष्ण मिशन की स्थापना की एवं उसे दो महत्त्वपूर्ण कार्यों में लगाया। प्रथमत: आध्यात्मिक संवेदना का विकास एवं द्वितीयत: राष्ट्रवादी शिक्षा। स्वामीजी ने विदेशों में वेदान्त सोसायटी की स्थापना वेदान्त दर्शन के प्रचारार्थ की तथा वहां से प्राप्त धन को भारत में भेजा।

वस्तुत: विवेकानंद का आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक राष्ट्रवाद ही कालान्तर में प्रखर राष्ट्रवाद का आधार बना। अतएव उन्हें सुभाषचंद्र बोस ने भारतीय राष्ट्रवाद के आध्यात्मिक पिता की संज्ञा दी।

थियोसोफिकल सोसायटी और श्रीमती एनी बेसेंट

थियोसोफिकल सोसायटी की स्थापना सबसे पहले 1875 ई. में अमेरिका के न्यूयॉर्क नगर में हुई थी। भारत में इसकी स्थापना का श्रेय रूसी महिला ब्लावत्स्की तथा अमेरिकी सेना के कर्नल हेनरी स्टील ऑलकॉट को है। भारत में इन लोगों ने 1886 ई. में इस

संस्था की स्थापना की। श्रीमती एनी बेसेंट एक आयरिश महिला थीं। थियोसोफिकल सोसायटी की एक सदस्या के रूप में वे 1893 ई. में भारत आईं और यहीं बस गईं। उन्होंने हिंदू धर्म अपनाकर प्राचीन भारतीय आदर्शों और परंपराओं को फिर से जीवित करने का प्रयास किया। उन्होंने वेदों और उपनिषदों में अपने विश्वास की उद्घोषणा की। उन्होंने कहा कि हिंदू संस्कृति पश्चिमी सभ्यता की तुलना में काफी उत्कृष्ट है अर्थात् उन्होंने हिंदू धर्म की प्राचीन रूढ़ियों, विश्वासों और कर्मकांडों का प्रबल समर्थन करते हुए प्राचीन भारत के आदर्शों तथा परंपराओं को पुनर्जीवित करने का प्रयास किया। उन्होंने आर्य समाज और ब्रह्म समाज के विपरीत मूर्तिपूजा का समर्थन किया। उन्होंने सती प्रथा को भी उस अवस्था में न्यायोचित बताया, यदि विधवा स्वेच्छा से सती होना पसंद करती हो। उन्होंने बनारस में सेंट्रल स्कूल की स्थापना की। आगे चलकर यह स्कूल कॉलेज में बदल गया और बाद में बनारस हिंदू विश्वविद्यालय के रूप में परिणत हो गया। रामकृष्ण मिशन की तरह ही इस संस्था के अनुयायियों का भी विश्वास है कि सभी धर्म सच्चे हैं और सबमें मौलिक एकता है। इसके अनुयायी जाति, धर्म या वर्ण के आधार पर किसी प्रकार का भेदभाव नहीं करते। चूँकि यह आंदोलन प्राचीन भारतीय संस्कृति और सभ्यता का समर्थन करता था, इसलिए शीघ्र ही बहुत लोकप्रिय हो गया। इस आंदोलन का व्यापक प्रभाव दक्षिण भारत के सामाजिक तथा धार्मिक जीवन पर पड़ा है।

इस प्रकार, धर्म और समाज सुधार के आंदोलन में डॉ. एनी बेसेंट और उनकी थियोसोफिकल सोसायटी का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। भारत के सामाजिक तथा धार्मिक जीवन पर इस आंदोलन का व्यापक प्रभाव पड़ा है। आगे चलकर श्रीमती बेसेंट ने होमरूल आंदोलन का प्रारंभ किया जिसका भारत के राष्ट्रीय, सामाजिक और धार्मिक जागरण में महत्त्वपूर्ण स्थान है। श्रीमती बेसेंट ने 1914 ई. में एक साप्ताहिक समाचार-पत्र 'द कॉमन बिल' प्रारंभ किया। कुछ ही दिनों बाद उन्होंने एक दैनिक पत्र 'मद्रास स्टैंडर्ड' खरीद लिया और बाद में उसका नाम बदलकर 'न्यू इंडिया' रख दिया। अपने विभिन्न लेखों द्वारा उन्होंने भारत की स्वतंत्रता के लिए अपना विचार व्यक्त किया। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के दो हिस्सों, जिनके नेता बाल गंगाधर तिलक एवं गोपालकृष्ण गोखले थे, के एकीकरण में उनका काफी योगदान रहा। उन्होंने 'ऑल इंडिया होमरूल लीग' की स्थापना 1916 ई. में की। 1917 ई. में उन्हें भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का अध्यक्ष चुना गया। उनके संबंध में जवाहरलाल नेहरू ने लिखा है, "वह मेरी और मुझसे पहले की पीढ़ी की एक विलक्षण विभूति थीं जिन्होंने हमें बहुत अधिक प्रभावित किया। निस्संदेह भारत के स्वाधीनता संग्राम में उन्होंने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई।"

हिंदुओं में समाज सुधार आंदोलन की उपलब्धियां

नारी मुक्ति आंदोलन

भारतीय समाज की आधी आबादी समाज के आधुनिक काल में प्रवेश के पश्चात् भी दुःख तकलीफ और उत्पीड़न का जीवन जीने पर मजबूर थी। इन्हीं वजहों से आधुनिक भारत के सभी सुधार आंदोलनों ने नारी उत्थान की वकालत की और कमोबेश वे इस प्रयास में सफल भी रहे। इस सम्बन्ध में पहला महत्त्वपूर्ण प्रयास सती प्रथा का उन्मूलन करना था, जो 1789 से किए जा रहे कम्पनी के प्रयासों के बावजूद समाप्त नहीं हुई थी। इस प्रथा के विरुद्ध राजा राममोहन राय की पीढ़ी में लोकमत बना, जिसने सती प्रथा के उन्मूलन के लिए सरकार से हाथ मिलाया। राममोहन राय ने उत्साह-पूर्वक सती प्रथा के विरुद्ध शक्तिशाली अभियान छेड़ा, जिसमें उन्होंने अपने कुछ मित्रों और बंगाली पत्रिका कौमुदी को प्रमुख साधन बनाया। यह अभियान तब तक जारी रहा जब तक इसे बेंटिक के 1829 के रेग्यूलेशन द्वारा अवैध घोषित नहीं किया गया।

बहु-विवाह, कुलीनता और बाल-विवाह जैसी प्रथाओं पर भारत के सभी प्रसिद्ध आधुनिक सुधारकों ने प्रहार किया। 1872 का 'स्थानीय विवाह अधिनियम' केशवचन्द्र के प्रयासों से पारित हुआ और इसने कम उम्र में विवाह की प्रथा को समाप्त किया और बहु-विवाह को दण्डनीय बना दिया। इस अधिनियम के अंतर्गत विधवा-विवाह और अंतर्जातीय विवाह को भी मान्यता प्रदान की गई। आर्य समाज तथा बी. एम. मालाबारी, आधुनिक भारत के महान पारसी सुधारक ने भी 'बाल विवाह' के विरुद्ध जन भावनाओं को जगाया। सरकार भी सुधारकों की सहायता के लिए आगे आई और उसने 1892 में 'एज ऑफ कन्सेंट एक्ट' को पारित किया जिसके अंतर्गत विवाह की आयु को दस से बढ़ा कर बारह वर्ष कर दिया गया। 1929 में राय साहब हरविलास शारदा का बाल विवाह विधेयक भी विधान सभा और विधान परिषद् द्वारा पारित हुआ। इस अधिनियम का लक्ष्य 18 साल से कम उम्र के लड़कों और 14 साल से कम उम्र की

लड़कियों के विवाह को निरूत्साहित करना था।

विधवा विवाह से सम्बन्धित आंदोलनों के इतिहास में देखने से स्पष्ट होता है कि 18वीं शताब्दी के मध्य में ढ़ाका के राजा वल्लभ द्वारा हिन्दू समाज में विधवा विवाह को मान्यता दिलाने के प्रयास किए गए थे, किन्तु वे सफल नहीं हो सके थे। पंडित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने अपने असाधारण साहस और उत्साह से विधवा विवाह को मान्यता दिलाने का प्रयास किया। उन्हें कट्टरपंथियों के विरोध का भी सामना करना पड़ा। पंडित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने अपनी लेखनी और भाषणों से यह सिद्ध करने की कोशिश की कि विधवा विवाह शास्त्रसम्मत है। उनके कई अनुयायी भी बन गए। इसके बाद उन्होंने इसकी मान्यता के रास्ते में आने वाली कानूनी अड़चनों को भी समाप्त करने के लिए प्रयास किए। 1856 के अधिनियम को पारित कराने में ये प्रयास सफल हुए। इसने विधवा विवाह को मान्यता प्रदान की। इसी समय विधवा विवाह के प्रसार के लिए ब्रह्म समाज भी प्रयासरत था। केशवचन्द्र सेन 1859 ई. से ही इसे मान्यता दिलाने के लिए गम्भीरतापूर्वक प्रयास कर रहे थे। बांसनगर (बंगाल) के बाबू शशिपद बनर्जी शीघ्र ही विशिष्ट कार्यकर्त्ता के रूप में सामने आए और उनके परिश्रम के विस्मयकारी परिणाम हुए। 1857 ई. में उन्होंने हिन्दू विधवा गृह की स्थापना की जिसने अपने पूरे कार्यकाल में विधवाओं को शिक्षित करने का उत्कृष्ट कार्य किया। पंडित विष्णु शास्त्री ने बम्बई में 1866 ई. में एक विधवा विवाह संघ की स्थापना की। गुजरात के अहमदाबाद में भी एक पुनर्विवाह संघ की स्थापना की गई। 1884 ई. से ही श्री मालाबारी के लेखों के माध्यम से इस विषय को नया महत्त्व मिला। श्री आर. जी. भण्डारकर, जी. जी. अगरकर और डी. के. कर्वे जैसे लोगों ने विधवाओं की स्थिति और भाग्य के उत्थान के लिए काफी कार्य किया। श्री कर्वे ने 1899 ई. में विधवा विवाह संघ को पुनर्जीवित किया। उन्होंने पूना शहर में हिन्दू विधवा गृह की स्थापना की जो आगे चलकर महिला विश्वविद्यालय की स्थापना का आधार बना। पंडित रमाबाई सदन (1889, 1893) बम्बई, मैसूर महारानी विद्यालय, मैसूर, आर्य समाज एवं सत्य शोधक समाज, पंजाब तथा हिन्दू विधवा सुधार लीग, लखनऊ ने इस दिशा में महत्त्वपूर्ण कार्य किए।

आधुनिक काल में नारियों की शिक्षा में सतत् विकास हुआ। वे अधिक से अधिक संख्या में पर्दे से बाहर आकर सामाजिक और राजनीतिक मामलों में बढ़-चढ़ कर दिलचस्पी ले रही हैं। 1926 ई. में पहली बार अखिल भारतीय महिला महासम्मेलन का आयोजन किया गया, जिसने नारियों के शैक्षणिक और सामाजिक उत्थान के लिए विचारों का संयोजन किया। नारी वयस्क मताधिकार आंदोलन ने भी काफी सफलता हासिल की। गुलामी प्रथा 18वीं शताब्दी से चली आ रही एक दयनीय प्रथा थी, जो देशभर में फैली थी। सुधारकों ने इस प्रथा को भी समाप्त करने के प्रयास किए।

जाति प्रथा के विरुद्ध आंदोलन

भारतीय समाज प्राचीन काल से ही जाति एवं उपजातियों में विभाजित था। समय के संदर्भ में ये संस्थाएँ कठोर रूप धारण करने लगी और कुरीतियों का बोलबाला इन संस्थाओं में हो गया। ब्रिटिश काल में समाज सुधार आंदोलन के प्रचार का एक प्रमुख लक्ष्य जाति प्रथा की समाप्ति था। उस समय हिन्दू असंख्य जातियों में बँटे थे। राष्ट्रीय आंदोलन अपनी शुरूआत से ही उन सब संस्थाओं के खिलाफ था जिनकी प्रवृत्ति भारतीय जनता को विभाजित करने की थी। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस प्रारंभ से ही जातिगत विशेषाधिकारों की विरोधी थी। उसने जाति, लिंग या धर्म के भेदभाव के बिना व्यक्ति के विकास के लिए समान नागरिक अधिकारों तथा समान स्वतंत्रता के लिए संघर्ष किया। गांधीजी ने अस्पृश्यता उन्मूलन के लिए कठिन प्रयास किए। इस कार्य के लिए उन्होंने 1932 में अखिल भारतीय हरिजन संघ की स्थापना की। उन्होंने इसे कांग्रेस के रचनात्मक कार्यक्रम का अभिन्न हिस्सा बना दिया। सार्वजनिक सभाओं में समान भागीदारी ने लोगों के बीच जातीय चेतना को और कमजोर किया।

हालांकि इस क्षेत्र में सबसे महत्त्वपूर्ण कारक संभवत: नई शिक्षा पद्धति थी, जो पूरी तरह धर्म निरपेक्ष एवं जातियों के खिलाफ थी। इसके प्रसार से निम्न जातियां अपने बुनियादी अधिकारों के प्रति जागरुक हुई और उन्होंने अपने अधिकारों के लिए खड़ा होना प्रारम्भ किया। उन्होंने धीरे-धीरे उच्चतर जातियों के परम्परागत उत्पीड़न के खिलाफ एक शक्तिशाली आंदोलन खड़ा किया। 19वीं सदी के अन्त तक महाराष्ट्र और मद्रास में सेवाओं एवं सामान्य सांस्कृतिक जीवन पर ब्राह्मणों के वर्चस्व ने ब्राह्मण विरोधी आंदोलन को जन्म दिया। इस उद्देश्य से ज्योतिबा फूले ने सत्यशोधक समाज की स्थापना की। थोड़े समय बाद इसी तरह मद्रास में शिक्षा एवं सेवाओं पर ब्राह्मणों के वर्चस्व के विरुद्ध तमिल वेल्लालों, तेलुगू रेड्डियों एवं कम्माओं तथा केरल में नायरों ने संघर्ष छेड़ा। इस दिशा में जस्टिस

मूवमेंट से संबद्ध सी. एम. मुदालियार, टी. एम. नायर एवं पी. त्यागराज चेट्टी ने 1915-16 में शिक्षा, सरकारी सेवाओं एवं राजनीति में ब्राह्मण वर्चस्व के विरुद्ध मध्यवर्ती जाति आन्दोलन एवं सेल्फ रेस्पैक्ट मूवमेंट चलाया। केरल में श्री नारायण गुरु ने जाति प्रथा के विरुद्ध आजीवन संघर्ष किया। उन्होंने सम्पूर्ण मानवता के लिए 'एक धर्म, एक जाति और एक ईश्वर' का नारा दिया। डा. भीमराव अम्बेडकर, जो स्वयं एक अछूत जाति के थे, ने अपना सारा जीवन जातिगत जुल्मों के खिलाफ लड़ने में लगा दिया। इसी उद्देश्य से उन्होंने अखिल भारतीय दलित वर्ग संघ की स्थापना की। पानी, मन्दिर प्रवेश एवं काउंसिलों में दलितों के लिए पृथक् स्थान की मांग को लेकर अम्बेडकर ने 'महार सत्याग्रह' का नेतृत्व किया। अनुसूचित जातियों के अन्य नेताओं ने इसी समय 'अखिल भारतीय दलित वर्ग परिषद्' की स्थापना की। सारे भारत में मंदिर प्रवेश पर रोक तथा इसी तरह के अन्य प्रतिबंधों के विरोध में दलित जातियों ने अनेक सत्याग्रह आन्दोलन, जैसे केरल में वायकोम तथा गुरुवायुर में मंदिर प्रवेश आंदोलन चलाया। महात्मा गांधीजी के हस्तक्षेप के पश्चात् अछूतों को इन मंदिरों में प्रवेश का अधिकार मिल पाया। यह निम्न जाति आंदोलन के लिए एक मील का पत्थर था। ठीक इसी प्रकार के आंदोलन महार सत्याग्रह और एजाबा मन्दिर प्रवेश आंदोलन में चलाये गए।

परंतु विदेशी शासन के दौरान अस्पृश्यता के विरुद्ध संघर्ष पूरी तरह सफल नहीं हो सका। ब्रिटिश सरकार को डर था कि समाज के रूढ़िवादी लोगों का विरोध कहीं भड़क न उठे। इसके अलावा ब्रिटिश सरकार की 'बांटो और राज करो की नीति' ने सवर्णों एवं निम्न जातियों के बीच विच्छेद को और बढ़ाया। इसने जाति के आधार पर जनगणना कराए एवं सामाजिक महत्ता के लिए भी जाति को आधार बनाया।

मुसलमानों में समाज सुधार आंदोलन

मुसलमानों में समाज दो भागों में विभक्त था-उच्च अभिजात्य वर्ग तथा जन साधारण। जन साधारण के अधिकांश मुसलमान मूलरुप में हिंदू थे और धर्म परिवर्तन के बाद भी उनके सामाजिक जीवन में कोई उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं हुआ था। उच्च अभिजात्य वर्ग के लिए 18वीं -19वीं सदी में राजनीतिक प्रभुत्व की समाप्ति अवश्य संकटमय घटना थी। यह वर्ग राजकीय नियुक्तियों अथवा सामंतीय जागीरों का इतना अभ्यस्त था कि उसने व्यवसाय अथवा व्यापार की ओर ध्यान ही नहीं दिया। सुलभ आय से अकर्मण्यता इस वर्ग में सहज ही प्रवेश कर चुकी थी। 19वीं सदी के पूर्वार्द्ध में यह अपनी प्रतिष्ठित स्थिति को बाह्य रूप बनाए रखने से अधिक खोखला होता गया। 1857-58 ई. की विपत्ति से रही सही प्रतिष्ठा भी समाप्त हो गई क्योंकि अंग्रेज प्रशासकों ने इस विप्लव के लिए उच्चवर्गीय मुसलमानों को विशेष रूप से उत्तरदायी माना।

उच्च वर्ग के मुसलमानों की प्रमुख सामाजिक समस्या उनका 'लकीर के फकीर' बने रहना तथा परिवर्तित परिस्थितियों को न पहचानना था। परिणामस्वरूप यह वर्ग पिछड़ता चला गया और 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में भारत में दोनों प्रमुख सम्प्रदायों में आर्थिक भेद अधिक बढ़ता गया। लेकिन इस बढ़ती हुई आर्थिक विषमता का मूल कारण यह था कि मुस्लिम उच्च वर्गों ने समय की आवश्यकता के अनुसार कार्य न करने की नीति अपनाई थी। मुसलमानों में समाज सुधार आंदोलन का प्रमुख लक्ष्य इस उच्च वर्ग को समय की आवश्यकता बताना तथा उसके अनुसार पश्चिमी शिक्षा की ओर ध्यान दिलाना था। इस प्रकार मुसलमानों का समाज सुधार आंदोलन भिन्न था। एक अन्य भिन्नता यह थी कि मुसलिमानों में सामाजिक और धार्मिक जीवन को पूर्ण रूप से उनकी धर्म पुस्तक 'कुरान' पर आधारित माना जाता था इसलिए सामाजिक जीवन की किसी भी पद्धति को बदलने के लिए यह आवश्यक था कि कुरान का नया अर्थ बताया जाए।

अलीगढ़ आंदोलन

1870 ई. के पश्चात् मुसलमानों की सामाजिक स्थिति को सुधारने के लिए सर सैय्यद अहमद खां ने एक आंदोलन आरंभ किया। सर सैय्यद का उद्देश्य मुसलमानों को 'आत्म निर्भरता' और 'अपनी मदद आप' का पाठ पढ़ाना था। वह जानते थे कि मुसलमान अपने अतीत में खोए हुए थे, उन्हें वर्तमान की बहुत कम चिंता थी। उन्होंने 'तहजीब-उल-अखलाक' नाम की पत्रिका दिसंबर, 1870 ई. में प्रकाशित करना आरंभ किया। सर सैय्यद मुसलमानों को बदली परिस्थिति से अवगत कराना चाहते थे। सामाजिक मूल्यों तथा रहन-सहन के तरीकों को वे समय के अनुकूल नहीं मानते थे, मुसलमान सामान्यत: अपने सामाजिक जीवन को कुरान तथा हदीस पर आधारित

समझते थे, इसलिए उन्हें विवश होकर धर्म संबंधी विवाद आरंभ करना पड़ा।

सर सैय्यद ने कुरान का अर्थ समझाने के लिए एक नए 'इल्म कलाम' (व्याख्या करने के नए आधार) की आवश्यकता पर बल दिया। इस नई व्याख्या का मुख्य आधार यह था कि समस्त सृष्टि का निर्माता ईश्वर है और वही कुरान का भी रचयिता है। इसलिए कुरान किसी भी रूप से वास्तविक स्थिति से भिन्न नहीं हो सकती।

कुरान के साथ मुसलमानों के परंपरागत सामाजिक मूल्यों की भी नई व्याख्या की गई। सर सैय्यद ने 'तहजीब उल अखलाक' का उद्देश्य ही मुसलमानों को सभ्य बनाना घोषित किया। वे सभ्य नहीं बन सकते थे, जब तक वे कुछ पुरानी परंपराओं को छोड़कर नई परंपराएं न अपना लें। उनका कहना था कि प्रत्येक परंपरा समय की परिस्थितियों के अनुसार अपनाई जाती है। समय बदलने के पश्चात् वे परंपराएं अनुपयोगी हो जाती हैं। मुसलमानों के पिछड़े रहने का कारण उनका पुराने बंधनों में बंधे रहना और समय की आवश्यकता को न पहचानना था। दूसरा दोष मुसलमानों में 'पूर्वाग्रह' का व्यापक रूप से फैलाव था जिसके कारण वे अच्छाइयों को ग्रहण नहीं कर सकते थे और अपनी अच्छाइयों से दूसरे को अवगत भी नहीं करा सकते थे। मुल्लाओं और फकीरों के लिए सर सैय्यद ने बहुत कठोर शब्द कहे। उन्होंने हज करना, जकात बांटना, मस्जिद बनवाना आदि को निम्न स्तर की तथा अल्पकालीन अच्छाइयों जैसा बताया। दीर्घकालीन अच्छाई शिक्षा प्रसार में सहायता करना बताया गया। सर सैय्यद ने पश्चिमी खान-पान की पद्धति को अपनाने की जोरदार वकालत की। साथ ही उन्होंने इस्लाम पर लगाए कई आक्षेपों को, जैसे - तलाक को प्रोत्साहन देना, दास प्रथा को स्वीकृति प्रदान करना -निराधार बताया।

सिक्ख सुधार आंदोलन

19वीं शताब्दी में भारत में चल रहे विभिन्न धर्म एवं समाज सुधार आंदोलन से सिक्ख समुदाय भी अछूता नहीं रह सका तथा इसमें भी विभिन्न समाज एवं धर्म सुधार आंदोलन आरंभ हुए। 1873 में अमृतसर में सिंह सभा आंदोलन आरंभ हुआ। इसके दो प्रमुख उद्देश्य थे - सिक्खों के लिए आधुनिक पाश्चात्य शिक्षा की उपलब्धता सुनिश्चित करना तथा सिक्ख धर्म के हितों को नुकसान पहुंचाने वाली रूढ़ियों के खिलाफ संघर्ष करना। आधुनिक पाश्चात्य शिक्षा के प्रसार के लिए सिंह सभा ने पूरे पंजाब में खालसा कॉलेजों की स्थापना की। लेकिन सिंह सभा के प्रयासों में गतिशीलता तब आई जब अकाली आंदोलन आरंभ हुआ।

अकाली गुरुद्वारों को उन भ्रष्ट उदासी महंतों से मुक्त करना चाहते थे, जो सरकारी संरक्षण की आड़ में विभिन्न प्रकार के भ्रष्ट कार्यों में लिप्त थे। अकालियों को प्रमुख सफलता तब मिली जब 1922 में सिक्ख गुरुद्वारा एक्ट पास हुआ। इस एक्ट द्वारा गुरुद्वारों का प्रबंध सिक्खों की शीर्ष संस्था शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबंधक समिति को सौंप दिया गया।

कंपनी काल में सामाजिक परिवर्तन

राजनीतिक उथल-पुथल और आर्थिक शोषण के बावजूद कंपनी शासन में कुछ ऐसे कार्य हुए जो भारत के सामाजिक इतिहास में क्रांतिकारी माने जाते हैं। अपने शासन के प्रारम्भिक काल में कंपनी सरकार ने सामाजिक और धार्मिक मामले में उदारतापूर्ण तटस्थता की नीति अपनाई। 1813 (वस्तुत: 1833 तक) तक कंपनी ने भारतीय समाज की प्रथाओं और रीति-रिवाजों में किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं किया। तटस्थता की नीति इतनी सशक्त थी कि अनेक दबावों के बावजूद कंपनी ने भारतीयों की मनोवृत्ति को ध्यान में रखकर भारत में ईसाई धर्म का प्रचार तक नहीं किया। उसने भारतीयों के सभी धार्मिक एवं सामाजिक अनुष्ठानों, रीति-रिवाजों एवं प्रथाओं के प्रति न केवल सहिष्णुता तथा उदारता का भाव दिखलाया अपितु उनका सम्मान तक किया।

भारतीय समाज के प्रति कंपनी द्वारा अपनाई गई तटस्थ नीति के दो कारण थे: प्रारंभ में कंपनी का ध्यान मुख्य रूप से व्यापार एवं राजस्व की ओर था। वह व्यापार में वृद्धि लाकर अधिकाधिक धनार्जन करना चाहती थी और इस ध्येय से वह राजस्व प्रशासन में अधिक समय लगाती थी। अत: उसने भारतीय समाज में सुधार लाने की ओर कभी भी नहीं सोचा। दूसरा, भारतीय समाज और संस्कृति का सुदृढ़ आधार धर्म था। अंग्रेज यह सोचते थे कि अगर भारतीयों की संस्कृति और धर्म में उनका हस्तक्षेप होगा तो भारतीय संभवत: उनका विरोध करने लगेंगे और नव-स्थापित कंपनी शासन की नींव भारत में हिल जाएगी।

18वीं शताब्दी के अंतिम चरण में अंग्रेज भारतीय समाज में हस्तक्षेप करने और सुधार लाने की बात सोचने लगे। इस काल के अंग्रेज नेताओं ने भारतीय समाज का सर्वेक्षण किया और उन्होंने अनुभव किया कि भारत की प्रगति के लिए भारतीय समाज में परिवर्तन लाना आवश्यक है।

कंपनी की परिवर्तित नीति, भारत के संबंध में अपनाई गई सामाजिक नीति और पश्चिमी शिक्षा के प्रारंभ के कारण भारत के लोग यूरोपीय संस्कृति से परिचित होने लगे। यद्यपि अभी भी भारतीय सरकार की हस्तक्षेप नीति का विरोध करते रहे, किंतु बंगाल में पुनर्जागरण का आगमन हो गया था और इससे समस्त भारत प्रभावित होने वाला था।

शिशु-हत्या पर रोक

शिशु-हत्या की प्रथा पर कंपनी का पहला आक्रमण हुआ। यह प्रथा मध्य भारत, पश्चिमी भारत में, मेवातों, जाटों और राजपूतों में प्रचलित थी। 1775 ई. के बंगाल नियम 21 और 1804 ई. के नियम 3 ने क्रमशः शिशु-हत्या के दूसरे और पहले रूपों को रोक दिया। भारतीय रियासतों के रेजिडेन्टों को भी कहा गया कि वे रियासतों में इस कुप्रथा को बंद करने के प्रयत्न करें। इसके बाद 1870 ई. में इस प्रथा को रोकने के लिए कुछ और कानून बनाये गए।

नर-बलि का विरोध

भारतीय समाज में अंधविश्वास के कारण एक और बुरी प्रथा प्रचलित थी और वह थी नर-बलि प्रथा। इस प्रथा को दूर करने का श्रेय लॉर्ड हार्डिंग को प्राप्त है। उड़ीसा की खोंड जाति में यह प्रथा प्रचलित थी। खोंडों को यह विश्वास था कि ऐसा करने से भूमि की उर्वरता बढ़ती है। हार्डिंग के प्रयत्न के बावजूद यह प्रथा पूर्णतः बंद नहीं हो सकी, किंतु 1847 से 1854 के बीच कैम्पबेल तथा अन्य ऑफिसर इसी उद्देश्य से नियुक्त किए गए। उन्होंने इस निष्ठुर तथा नृशंस प्रथा का उच्छेद कर दिया।

सती-प्रथा पर रोक

कंपनी सरकार ने अदालत के निर्णय के अनुसार 1812 में कानून बनाये तथा 1815 और 1817 में उन्हें अन्य कानूनों से परिपुष्ट किया। इन कानूनों के द्वारा गर्भवती और छोटे बच्चों वाली विधवाओं को सती होने से रोक दिया गया। इसी समय भारतीय समाज में ब्रह्म समाजी राजा राममोहन राय का आविर्भाव हुआ जिनके सहयोग से कंपनी सरकार को इस प्रथा को समूल नष्ट कर देने में सफलता मिली। विलियम बेंटिक ने शीघ्र ही दिसम्बर, 1829 ई. में एक कानून बनाकर सती-प्रथा को अवैध तथा अदालतों द्वारा दंडनीय करार दे दिया। गवर्नर जनरल को धर्म प्रचारकों से इस कार्य में काफी सहयोग मिला।

हिंदू पुनर्विवाह

भारतीय समाज का महिला जगत अनेक बुराइयों का शिकार था। बाल-विवाह, बहु-पत्नी तथा विधवा समस्या, अशिक्षा आदि अनेक बुराइयाँ थी। कुछ बुराइयों को दूर करने का प्रयास किया गया। सती-प्रथा पर नियंत्रण कायम किया जा सका था, किंतु इस प्रथा के बंद होते ही समाज में विधवाओं की संख्या बढ़ने लगी। विधवाओं का पुनर्विवाह संभव नहीं था, किंतु बंगाल में ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने विधवाओं की दशा में सुधार लाने के लिए आंदोलन प्रारंभ किया और उन्होंने विधवा विवाह का समर्थन किया। सरकार ने विधवा-विवाह के लिए अधिनियम बनाये और 1856 के अधिनियम 15 से विधवा-विवाह को वैध मान लिया गया और उस विवाह से उत्पन्न हुए बालक वैध घोषित किए गए।

ठगी प्रथा का अंत

कंपनी काल का एक अन्य महान कार्य था- ठगों का दमन। सजा प्राप्त अपराधी ही गुप्त रूप से ठग बन जाते थे। ठगों का संगठित गिरोह था। ठगों का संगठन प्रायः संपूर्ण देश में फैल गया था। ठगों के संगठित गिरोह के दमन करने का श्रेय लॉर्ड विलियम बेंटिक को प्राप्त है। उसने ठगों के विनाश के लिए सर विलियम स्लीमैन तथा अन्य अफसरों को नियुक्त किया और कई कानूनों का निर्माण किया। 1831-36 के अंतर्गत 3,000 से भी अधिक ठग पकड़े गए। इस कड़ी कार्रवाई से ठगों का दमन हो गया और यात्रियों का जीवन सुरक्षित हो गया।

DISCOVERY

प्रमुख विचार

1. हमारी अपनी मातृभूमि के लिए दो महान् धर्मो हिंदुत्व तथा इस्लाम का संयोग ही एकमात्र आशा है। - **विवेकानंद**
2. दुनिया के सभी दूसरे राष्ट्रों से हमारा अलगाव ही हमारे पतन का कारण है और शेष दुनिया की धारा में समा जाना ही इसका एकमात्र समाधान है। गति जीवन का चिन्ह है। - **विवेकानंद**
3. हमारा ईश्वर भोजन के बर्तन में है और हमारा धर्म यह है कि हम पवित्र हैं हमें छूना मत। अगर यही सब कुछ एक शताब्दी और चलता रहा तो हममें से हर एक व्यक्ति पागलखाने में होगा। - **विवेकानंद**
4. विचार और कर्म की स्वतंत्रता जीवन, विकास तथा कल्याण की अकेली शर्त है। जहां यह न हो वहां मनुष्य, जाति तथा राष्ट्र सभी पतन के शिकार होते हैं। - **विवेकानंद**
5. मैं एक ही ईश्वर को मानता हूं जो सभी आत्माओं की एक आत्मा है और सबसे ऊपर है। मेरा ईश्वर दुखी मानव है; मेरा ईश्वर पीड़ित मानव है, मेरा ईश्वर हर जाति का निर्धन मनुष्य है। - **विवेकानंद**
6. जब तक लाखों लोग भूख तथा अज्ञान से ग्रस्त हैं, मैं हर उस व्यक्ति को देशद्रोही कहूंगा जो उसके खर्च पर शिक्षा पाकर भी उन पर कोई ध्यान नहीं देता। - **विवेकानंद**
7. हमारा मत यह नहीं है कि सत्य सभी धर्मों में पाए जाते हैं, बल्कि यह है कि सभी स्थापित धर्म सत्य है। - **केशवचन्द्र सेन**
8. आपके दुखों को कोई इतनी अच्छी तरह दूर नहीं कर सकता जिस तरह आप कर सकते हैं और आप इन्हें तब तक दूर नहीं कर सकते जब तक कि राजनीतिक सत्ता आपके हाथों में न आए। - **डा० भीमराव अंबेडकर**
9. अंग्रेजों ने भारत में शेष चाहे कुछ भी अच्छा अथवा बुरा किया हो, वे भारत में पुनर्जागरण लाए। - **पर्सिवल ग्रिफिथ**
10. अंग्रेजों ने भारत को मुगलों के मध्य युग से आधुनिक संसार के विज्ञान तथा मानववाद में प्रवेश करने के लिए एक सेतु की भूमिका निभाई है। - **पर्सिवल स्पीयर**
11. अगर ब्रिटिश राष्ट्र को वास्तविक ज्ञान से अनभिज्ञ रहना होता तो मध्यकालीन दार्शनिक तर्कमोह, जो उनके अज्ञान को बनाए रख सकता था की जगह बेकन का दर्शनवाद कभी नहीं आता। - **राजा राम मोहन राय**

मॉडल उत्तर

प्रश्न : भारत के पुनर्जागरण के मुख्य अभिलक्षणों की रूपरेखा प्रस्तुत कीजिए। (250 शब्द) 2006.

उत्तर : 19वीं शताब्दी में भारत के सामाजिक-धार्मिक क्षेत्र में नवीन सुधारों का आंरभ हुआ। कुछ विद्वान इसे ही भारतीय पुनर्जागरण के नाम से अभिहित करते हैं। भारत का पुनर्जागरण सामाजिक एवं धार्मिक क्षेत्र में नवीन परिवर्तनों का वाहक था। सर्वप्रथम इसने सदियों से चली आ रही जाति व्यवस्था की कटु आलोचना की। भारत की जाति व्यवस्था वर्ण व्यवस्था का ही विकृत रूप थी। वर्ण व्यवस्था में जहाँ सामाजिक विभाजन का आधार कर्म था वहीं जाति-व्यवस्था में इसका आधार जाति थी।

वर्ण व्यवस्था में कर्म के आधार पर वर्ण में परिवर्तन संभव था, वहीं जाति व्यवस्था में यह कठोरता पूर्वक जाति के साथ ही जुड़ी हुई थी। इस प्रकार जाति-व्यवस्था का अर्थ था- एक बार निम्न जाति में जन्म लेने का मतलब हमेशा के लिए निम्न जाति का बनकर रहना। इतना ही नहीं यह प्रथा पीढ़ियों तक चलती रहती थी। इससे समाज में स्थायी विभेद पैदा हुआ। पुनर्जागरणकालीन चेतना ने जाति पर आधारित इस व्यवस्था का अंत कर समानता मूलक समाज की कल्पना की।

पुनर्जागरण ने नारी चेतना को बढ़ावा दिया। इसने सख्ती के साथ नारियों की दासता का विरोध किया। नारी को केवल एक भोग्य वस्तु समझे जाने की मान्यता का इसने खंडन किया। कम उम्र में विवाह, सती एवं बहु-विवाह का इसने विरोध किया। राजा राम मोहन राय ने सती प्रथा के विरुद्ध सशक्त आंदोलन चलाया वहीं दयानंद सरस्वती ने विधवा विवाह को मान्यता दिलाने के लिए संघर्ष

किया। आर्य समाज ने स्त्री शिक्षा पर जोर दिया, साथ ही आर्य विवाह की परंपरा शुरू की। पैतृक संपत्ति में स्त्रियों को अधिकार दिलाने के लिए भी आंदोलन चलाए गए।

स्त्री शिक्षा के साथ-साथ आम लोगों में शिक्षा के प्रसार पर भी बल दिया गया। इसके लिए अनेक स्कूल-कॉलेजों की स्थापना की गई। डीएवी स्कूल एवं अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय इस दिशा में सफल प्रयोग थे।

पुनर्जागरण आंदोलन ने धार्मिक अंधविश्वास, कट्टरता एवं कठमुल्लेपन का विरोध एवं बहुदेववाद के स्थान पर एक ही ईश्वर की अवधारणा पर बल दिया। इसने धर्म के आधार पर भेदभाव का भी विरोध किया।

प्रश्न : 19 वीं शताब्दी में सामाजिक-धार्मिक सुधारों का क्या स्वरूप था और इन सुधारों ने भारत में राष्ट्रीय जागरण में किस प्रकार योगदान किया था। (250 शब्द) 2007

उत्तर : 19 वीं शताब्दी का सामाजिक-धार्मिक सुधार आंदोलन पश्चिम की नवीन उदारवादी एवं मानवतावादी चेतना के साथ भारत की पुनरूत्थानवादी चेतना का मिलाजुला परिणाम था। यही कारण है कि इसका स्वरूप उदारवादी, मानवतावादी, पुनरूत्थानवादी एवं किसी हद तक उपयोगितावादी भी था।

ये आंदोलन अपने स्वरूप में उदारवादी थे। इसने धार्मिक-सामाजिक क्षेत्र में बदलाव को आवश्यक माना लेकिन इसके लिए आक्रामक एवं हिंसक तरीके का समर्थन नहीं किया। ये व्यवस्था में क्रांतिकारी बदलाव के भी समर्थक नहीं थे। वे सामाजिक ढांचे के अंतर्गत रहते हुए ही उसमें कुछ सुधारों की मांग कर रहे थे।

यह आंदोलन मानवतावाद से प्रेरित था। सुधारवादी नेता मानव-मानव के मध्य किसी प्रकार का भेदभाव स्वीकार नहीं करते थे। इसी कारण इन्होंने भेदभाव पर आधारित जातीय व्यवस्था का विरोध किया। स्त्री और पुरुष के बीच भेदभाव भी इन्हें स्वीकार नहीं था। इन्होंने उन तमाम सामाजिक प्रथाओं का विरोध किया जो मानव की स्वतंत्र सत्ता एवं उसकी गरिमा के विरुद्ध थे, जैसे बाल-विवाह, सती प्रथा, बहु-विवाह आदि।

इन आंदोलनों का स्वरूप सुधारवादी भी था। ये समाज में आमूलचूल परिवर्तन की बजाए सुधारों की बात करते थे। सुधारवादी नेताओं ने धार्मिक-सामाजिक अंधविश्वासों की निंदा की। वे धार्मिक कट्टरता के स्थान पर सहिष्णुता की स्थापना करना चाहते थे। बहुदेववाद के स्थान पर उन्होंने एक ही ईश्वर की आराधना पर बल दिया। मूर्ति पूजा की भी उन्होंने भर्त्सना की।

आंदोलन का स्वरूप उपयोगितावादी भी था। दरअसल इन आंदोलनों को बढ़ावा देने के पीछे अंग्रेजों का उपयोगितावादी दृष्टिकोण कार्यरत था। अंग्रेज अपनी सत्ता के स्थायित्व के लिए समाज में नए परिवर्तनों को बढ़ावा दे रहे थे। इसके लिए अंग्रेजी शिक्षा के प्रसार एवं ईसाई मिशनरियों की गतिविधि को बढ़ावा दिया गया।

सामाजिक-धार्मिक सुधार आंदोलन का चरित्र पुनरूत्थानवादी भी था। सुधारवादी नेता सुधारों की मांग कर रहे थे। सती प्रथा के विरोध का आधार उन्होंने वेदों के आधार पर प्रस्तुत किया। आर्य समाज ने वेदों को सत्य-ज्ञान का मुख्य आधार बताया।

सामाजिक-धार्मिक सुधार आंदोलनों ने राष्ट्रीय जागरण को बढ़ावा दिया। दरअसल समाज सुधार के आंदोलन के पीछे मुख्य उद्देश्य सामाजिक भेदभाव को दूर कर लोगों को एकता के सूत्र में बांधना था। सुधारवादी नेताओं ने यह भलीभांति महसूस किया कि भारत में लोगों के बीच एकजुटता न होने का एक मुख्य कारण सामाजिक भेदभाव की भावना है। यह भावना भारत में लंबे समय से चली आ रही थी। ब्रिटिश राजनीतिक चिंतक भी भारत में राष्ट्रीयता के अभाव का मुख्य कारण सामाजिक विषमता को ही मानते थे। सुधारवादी नेताओं ने इसी विषमता पर प्रहार कर एकता का बीज बोया। इसी कारण से यह कहा जाता है कि सामाजिक-धार्मिक सुधार आंदोलन अंत: चेतना में राष्ट्रवादी थे।

प्रश्न : "धार्मिक एवं सामाजिक सुधारों के क्षेत्र में राजा राम मोहन राय का नाम सर्वोपरि है।" स्पष्ट कीजिए। (1991) (150 शब्दों में)

उत्तर : राजा राम मोहन राय ने सती प्रथा को रोकने और सब धर्मों में आपसी एकता स्थापित करने के लिए "ब्रह्म समाज" की

स्थापना की। यह हिंदू धर्म को रूढ़ियों से मुक्त कर उसे नया रूप देने के लिए निर्मित हुआ था। यह मूर्तिपूजा का बहिष्कार, अवतारवाद का विरोध, ईश्वर की एकता और जीवात्मा की अमरता में विश्वास करता था।

राय ने समाज में प्रचलित बहुविवाह, बाल-विवाह, पर्दा-प्रथा, छूआछूत, सती प्रथा को रोकने के भरसक प्रयास किए। उन्हीं के प्रयासों के परिणामस्वरूप सती-प्रथा को कानून बनाकर समाप्त कर दिया गया। साथ ही, उन्होंने विधवा विवाह, अन्तर्जातीय विवाह, स्त्री-शिक्षा और महिलाओं को संपत्ति में उत्तराधिकार दिलाने के भरसक प्रयास भी किए। राय ने समाचार-पत्रों की आजादी के प्रति जन-जागरण चलाए व स्वयं भी कई पत्र निकाले। लोगों में राजनीतिक समानता व कानूनी सुधारों के प्रति चेतना जगाई। सेना में भारतीयों को ऊँचे पद देने और उसके भारतीयकरण की माँग के साथ-साथ भूमिकर हमेशा निर्धारित करने को कहा। भारतीय वस्तुओं को निर्यात मुक्त करने की भी उन्होंने माँग की।

प्रश्न : आधुनिक भारत के निर्माण में ईश्वरचंद्र विद्यासागर के अंशदान का आकलन कीजिए। (1999) (150 शब्दों में)

उत्तर : ईश्वर चन्द्र विद्यासागर का भारत में समाज सुधार एवं शिक्षा के क्षेत्र में अतुलनीय योगदान है। वे दीनहीनों को आर्थिक मद्द, विद्यार्थियों के अध्ययन में सहायता और महिलाओं की प्रगति में सदैव तत्पर रहे।

उन्होंने महिलाओं की सामाजिक दशा सुधारने के लिए बड़े प्रयत्न किए। उन्होंने भारत की हिंदू विधवाओं के लिए विधवा पुनर्विवाह के लिए आन्दोलन चलाए। इसी के परिणामस्वरूप 1856 में इसे कानूनी मान्यता प्राप्त हो गई। उन्होंने बाल-विवाह व बहुविवाह का विरोध भी किया। उन्होंने संस्कृत भाषा के प्रचार-प्रसार के लिए अपने प्रयासों के तहत संस्कृत कॉलेजों में गैर-ब्राह्मणों को भी प्रवेश दिया। इस प्रकार उन्होंने समाज से छूआछूत मिटाने के लिए स्वयं पहल कर इसके लिए जन-जागरण चलाया। उन्होंने महिलाओं में उच्च शिक्षा को बढ़ावा दिया। इसके लिए उन्होंने कलकत्ता में बैथून स्कूल की स्थापना की। इस स्कूल का उद्देश्य महिला शिक्षा को प्रोत्साहित करना था। इस प्रकार अपने अनेक समाज सुधार कार्यक्रमों के माध्यम से विद्यासागर ने एक प्रगतिशील व आधुनिक भारत की नींव रखी। जिन्हें आधुनिक भारत के विकास में रेखांकित किया जा सकता है।

प्रश्न : आर्य समाज की स्थापना किसने की? इसका लक्ष्य क्या था? (2000) (150 शब्दों में)

उत्तर : स्वामी दयानंद सरस्वती ने आर्य समाज की स्थापना की। इस संस्था के माध्यम से उन्होंने भारत में बढ़ते हुए ईसाईयत के प्रभाव को रोकने का प्रयास किया। इस संस्था की स्थापना का उद्देश्य वैदिक धर्म को पुनः शुद्ध रूप में स्थापित करने का प्रयास, भारत को धार्मिक, सामाजिक व राजनीतिक रूप से एक सूत्र में बाँधने का प्रयत्न तथा पाश्चात्य प्रभाव को समाप्त करना था।

स्वामीजी ने इसके द्वारा वेदों की महत्ता को "सत्यार्थ प्रकाश" के माध्यम से संसार के सम्मुख रखा। उन्होंने विभिन्न सम्प्रदायों एवं मतों के अंधविश्वासों एव रूढ़ियों का खंडन किया। वे अंधविश्वास एवं अज्ञान को हटाने के लिए शिक्षा पर बल देते थे। उन्होंने इस संस्था के द्वारा मूर्तिपूजा, अवतारवाद व बाहरी दिखावे का डटकर विरोध किया। ईसाई मिशनरियों की इन्होंने कटु आलोचना की तथा भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति के प्रति स्वाभिमान पैदा किया। इस संस्था द्वारा वर्ण व्यवस्था को गुण व कर्म के अनुसार स्वीकार करने पर बल दिया। छूआछूत-प्रथा का विरोध किया तथा नारी के प्रति सम्मान को बढ़ावा दिया। सर्वप्रथम् इस संस्था द्वारा स्वामीजी ने स्वराज्य की अपनी माँग को प्रस्तुत किया। राष्ट्रीय जागरण में स्वदेशी, स्वधर्म, स्वभाषा इत्यादि पर बल दिया गया। इस प्रकार आर्य समाज द्वारा समाज में एक नई चेतना का सूत्रपात किया तथा भारत में वैदिक धर्म की श्रेष्ठता स्थापित करने का प्रयास किया।

प्रश्न : 19 वीं शताब्दी के सामाजिक और धार्मिक सुधार आन्दोलनों के योगदान की चर्चा कीजिए। (150 शब्दों में)

उत्तर : 19 वीं सदी का भारतीय समाज पूरी तरह धार्मिक अंधविश्वासों के जाल में जकड़ा हुआ था और इसके रहते सामाजिक सुधार की कोई आशा नहीं की जा सकती थी। धार्मिक क्षेत्र में सुधारवादी आंदोलन ने मूर्तिपूजा, बहुदेववाद और पुजारियों द्वारा किए जा रहे शोषण को खत्म करने और धार्मिक कर्मकांडों के सरलीकरण के प्रयास किए। इस संघर्ष ने लोगों को धर्मभीरुता के जाल से मुक्त कराया व पुजारियों द्वारा जारी शोषण को समाप्त किया। जिसके फलस्वरूप लोगों को वैचारिक व वैयक्तिक स्वतंत्रता प्राप्त हुई।

दूसरी ओर, लोगों में देश प्रेम की भावना व लोकतांत्रिक विचारों के विकास में बाधक जाति व्यवस्था के खिलाफ भी संघर्ष किया गया। सुधारवादी इस व्यवस्था को पूरी तरह से समाप्त करना चाहते थे। समाज में महिलाओं की स्थिति और हैसियत सुधारने के लिए

मानवतावादी अभियान चलाए गए, जिनका उद्देश्य पूरे समाज को सुधारना था क्योंकि पारिवारिक स्थितियों को सुधारे बिना कोई भी सामाजिक सुधार प्रभावी नहीं हो सकता। इनके द्वारा बाल-विवाह, बहु-विवाह, पर्दा-प्रथा, सती-प्रथा इत्यादि रूढ़ियों व अंध-विश्वासों के खिलाफ संघर्ष किया गया। जिसके परिणामस्वरूप सती-प्रथा पर सरकार द्वारा रोक लगा दी गई। साथ ही, इन सुधारों में विधवा-विवाह का समर्थन भी किया गया, जिसके फलस्वरूप सरकार द्वारा विधवा पुनर्विवाह को भी मान्यता प्रदान कर दी गई।

प्रश्न : रामकृष्ण ने हिंदुत्व में किस प्रकार नई ओजस्विता और गत्यात्मकता का संचार किया? (1999) (150 शब्दों में)

उत्तर : बंगाल में नव जागरण लाने में रामकृष्ण के विचारों ने एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। रामकृष्ण परमहंस जो कलकत्ता के दक्षिणेश्वर मंदिर के पुजारी थे, का बंगाल के प्रबुद्ध समाज पर गहरा प्रभाव था। वे सादा जीवन व्यतीत करने तथा भारतीय धर्म एवं संस्कृति में पूर्ण आस्था रखने पर जोर देते थे। मूर्ति पूजा तथा हिन्दू धर्म में गहरा अनुराग रखते हुए भी वे सभी धर्मों को एक समान मानते थे। ईश्वर को प्राप्त करने का मार्ग उनके अनुसार एकमात्र नि:स्वार्थ भक्ति ही थी। रामकृष्ण ने अपने विचारों को सरलता प्रदान कर हिंदू समाज को पुनर्जीवित करने तथा उसे गति प्रदान करने की सफल कोशिश की। उनके प्रयासों से ही हिंदू धर्म एवं संस्कृति में एक नवजीवन आया तथा उसकी समृद्धि में बढ़ोतरी हो सकी। इसके लिए उन्होंने ज्ञान के साथ-साथ सत्कर्म पर विशेष जोर दिया। उन्होंने संसार के सभी धर्मों को सच्चे रूप में ईश्वर तक पहुँचने के भिन्न-भिन्न मार्ग कहा। रामकृष्ण परमहंस ने सभी धर्मों की एकता, ईश्वर की अनन्य भक्ति, मानव सेवा और आध्यात्मिक जीवन को महत्त्व दिया।

प्रश्न : "स्वामी विवेकानन्द को सहज ही भारतीय राष्ट्रीयता का जनक कहा जा सकता है।" स्पष्ट कीजिए। (1995) (150 शब्दों में)

उत्तर : स्वामी विवेकानन्द राष्ट्रीयता के पोषक थे। उन्होंने भारतवासियों में आत्मविश्वास की भावना पैदा की, दुर्बलता को पाप बताया और शक्ति की पूजा का आह्वान किया। उन्होंने समाज में भारत के गौरवपूर्ण अतीत के प्रति गर्व की भावना जागृत की। विवेकानन्द ने पूर्व एवं पश्चिम के समन्वय की बात कही। साथ ही ईसाईयत के कुप्रचार का भंडाफोड़ किया और वेदांत का प्रचार करने के साथ-साथ सर्वधर्म की एकता में विश्वास व्यक्त किया। वास्तव में विवेकानंद ने राष्ट्रीयता की पृष्ठभूमि समाज सुधार कार्यों के जरिए रखी जिससे सांस्कृतिक राष्ट्रवाद का उदय हुआ।

विवेकानन्द ने धार्मिक अंधविश्वासों, रूढ़िवादिता, खोखले रीति-रिवाजों को समाज से दूर करने के भी प्रयास किए। उन्होंने जाति-प्रथा की जटिलता, छूआछूत और अन्य कुरीतियों को समाप्त करने और नारी सम्मान, नारी शिक्षा के उत्थान के लिए प्रेरणा दी। सामाजिक सुधारों में विवेकानन्द लोगों की अज्ञानता, अनाथों की सहायता और गरीबों की कठिनाइयों को दूर करने को प्राथमिकता देते थे। इस प्रकार अगर देखा जाए तो स्वामीजी ने भारतीय समाज में व्याप्त अनेक बुराइयों के प्रतिरोध करने एवं उन्हें दूर करने के लिए भारतीय जनता को भारत की वास्तविकता का ज्ञान करा उनमें राष्ट्रीयता की भावना जागृत किया। इस क्रम में उनके द्वारा स्थापित "रामकृष्ण मिशन" ने भी राष्ट्रीयता के उदय में अभूतपूर्व भूमिका का निर्वहन किया।

प्रश्न : रामकृष्ण मिशन में स्वामी विवेकानन्द की भूमिका को विशेष रूप से ध्यान में रखते हुए इस संस्था का समीक्षात्मक परिचय दीजिए। (1990) (150 शब्दों में)

उत्तर : रामकृष्ण मिशन की स्थापना स्वामी विवेकानन्द ने की। इसका उद्देश्य हिन्दू धर्म और संस्कृति के महत्त्व को भारत के समाज में प्रचारित करना तथा भारत के गौरवपूर्ण इतिहास के प्रति गर्व की भावना जागृत करना था। इस मिशन में सभी धर्मों को सच्चा एवं श्रेष्ठ माना गया तथा प्रत्येक व्यक्ति को सभी धर्मों का पालन करने के लिए प्रेरित किया गया है। इसके अनुसार हिन्दू-सभ्यता अति प्राचीन है, उसने पहले भी विश्व का मार्गदर्शन किया है तथा भविष्य में भी मार्गदर्शन करेगी। इस मिशन में यूरोपियन प्रभाव से अपनी सभ्यता एवं संस्कृति की रक्षा करना प्रत्येक भारतीय का कर्तव्य बतलाया गया है।

समाज सेवा के क्षेत्र में इस संस्था ने अति महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन किया। स्वामीजी के प्रयासों के फलस्वरूप ही हिन्दुओं में आत्मविश्वास जागृत हुआ। साथ ही उन्हें इस बात का भी ज्ञान हुआ कि वे अपने आध्यात्म एवं दर्शन के बल पर ही विजयी हो सकते हैं। स्वामीजी ने ईसाईयत के कुप्रचार का भंडाफोड़ किया तथा वेदांत का प्रचार और सर्वधर्म एकता में विश्वास व्यक्त किया। उन्होंने वेदांत के आधार पर धर्म और आध्यात्म को सर्वोच्च स्थान दिया। वे समाज सुधार एवं राजनीतिक पुनरूत्थान से पूर्व धार्मिक

अभ्युत्थान को आवश्यक मानते थे। उन्होंने भारत की आत्मा को धर्म एवं आध्यात्म में स्थित बताया।

प्रश्न : भारत में धार्मिक आन्दोलन के इतिहास में थियोसोफिकल सोसायटी की भूमिका का विवेचन कीजिए। (1991) (150 शब्दों में)

उत्तर : थियोसोफिकल सोसायटी की स्थापना का उद्देश्य धर्म को आधार बनाकर समाज सेवा करना, धार्मिक एवं भाईचारे की भावना को फैलाना, प्राचीन धर्म, दर्शन एवं विज्ञान के अध्ययन में सहयोग करना था।

यह संस्था सभी धर्मों के महत्त्व को स्वीकार करती थी, किन्तु हिन्दू धर्म को यह सर्वश्रेष्ठ मानती थी। नस्ल, धर्म, भाषा, लिंग, जाति आदि के आधार पर भेदभाव को यह संस्था स्वीकार नहीं करती थी। इस संस्था का मुख्य उद्देश्य प्राचीन हिन्दुवाद को पुन: स्थापित करना था। वास्तव में थियोसोफिकल सोसायटी द्वारा समाज में यथास्थितिवाद का प्रयास किया गया। इस संस्था द्वारा भारत में पारसी, हिन्दू, इस्लाम, बौद्ध इत्यादि धर्मों को एकसमान दृष्टिकोण प्रदान कर इन समस्त धर्मों की महत्ता को स्थापित करने का प्रयास किया गया। मूल रूप में भारत के धार्मिक आन्दोलनों में इस संस्था का मुख्य उद्देश्य भारत में प्राचीन हिंदुवाद को स्थापित कर हिन्दू धर्म को सर्वोच्चता के शिखर पर स्थापित करना था। इस संस्था के प्रयासों द्वारा सम्प्रदायवाद जैसी धारणाओं को पनपने का अवसर ही नहीं दिया गया। इसके माध्यम से समाज में एक स्वतंत्र एवं मानवीय दृष्टिकोण पर आधारित व्यवस्था की स्थापना करने के महत्त्वपूर्ण प्रयास किए गए।

प्रश्न : 19 वीं सदी के सामाजिक-धार्मिक सुधार आन्दोलनों में सांस्कृतिक वैचारिक संघर्ष की राष्ट्रीय चेतना को जन्म देने एवं इसके विकास में योगदान को स्पष्ट कीजिए। (150 शब्दों में)

उत्तर : सांस्कृतिक वैचारिक संघर्ष ने भारतीय संस्कृति की रूढ़ियों को दूर करने के प्रयास किया। धार्मिक क्षेत्र में इसके अन्तर्गत लोगों को धर्मभीरुता के जाल से मुक्त कराया व पुजारियों के एकाधिकार की समाप्ति की। समाज में प्रचलित जाति व्यवस्था को भी अनुचित ठहरा उसका विरोध किया। वहीं, समाज में महत्त्वपूर्ण रूप से सती-प्रथा पर रोक लगाने व विधवा-पुनर्विवाह को मान्यता दिलाने में इन संघर्षों की अहम भूमिका रही है।

सांस्कृतिक-वैचारिक संघर्ष का प्रयोग औपनिवेशिक वर्चस्व के खिलाफ संस्कृति की रक्षा के लिए भी हुआ। इसके जरिए भारतीय भाषाओं के विकास की कोशिशें की गईं, शिक्षा की वैकल्पिक प्रणाली ढूंढ़ी गई, भारतीय कलाओं एवं साहित्य के पुनरूत्थान के प्रयास हुए, भारतीय पहनावे व भारतीयता पर जोर दिया, धर्म की रक्षा का आह्वान किया गया, भारत की पुरानी चिकित्सा पद्धति आयुर्वेद को फिर से स्थापित करने की कोशिश की गई, पूर्व-औपनिवेशिक काल की तकनीक और दस्तकारी को फिर से वापस लाने और पारंपरिक ज्ञान की पुनर्रचना के भी प्रयास किए गए। इनसे राष्ट्रीय चेतना के उदय एवं विकास में मदद मिली क्योंकि शुरू आती दौर में इसने जो बौद्धिक एवं सांस्कृतिक जागरूकता पैदा की उससे लोगों को भविष्य के प्रति नई दृष्टि मिली। वहीं इस संघर्ष ने औपनिवेशिक संस्कृति व विचारधारा को भी चुनौती दी।

DISCOVERY

3. भारत में नए वर्ग का उदय

मध्यम वर्ग का उदय

भारत में आधुनिक उद्योगों की स्थापना एवं औद्योगिक बुर्जुआ वर्ग के उदय के कई दशक पहले-ही आधुनिक बुद्धिजीवी वर्ग का उदय हो चुका था। राजा राम मोहन राय इस वर्ग की प्रथम पीढ़ी का प्रतिनिधित्व करते हैं। आधुनिक बुद्धिजीवी वर्ग ने पाश्चात्य संस्कृति का अध्ययन किया और इस संस्कृति के बौद्धिक और प्रजातांत्रिक सिद्धांतों, धारणाओं और मत्य को अंगीकार किया।

इस नवीन बुद्धिजीवी वर्ग के उदय का मुख्य कारण था- भारत में अंग्रेजी शिक्षा का प्रचार, ईसाई मिशनरियों की भूमिका एवं भारत में अपने शासन को मजबूत बनाने के लिए अंग्रेजों के लिए एक ऐसे वर्ग की आवश्यकता जो पश्चिम के आधुनिक एवं उदारवादी विचारों से परिचित हो। अंग्रेज यह उम्मीद करते थे कि आधुनिक विचारों से परिचित यह वर्ग अंग्रेजी शासन के मानवीय पहलुओं का आम जनता में प्रचार करेगा। और इस कारण अंग्रेजी शासन अधिक दृढ़ और स्थायी बन सकेगा। 19वीं शताब्दी के प्रथम कुछ दशकों में शिक्षित भारतीयों की संख्या बहुत कम थी। जब अंग्रेजी शासन ने अधिकाधिक स्कूल, कॉलेज, खोले और उनके साथ ईसाई मिशनरियों ने भी इस दिशा में प्रयास आरंभ किए, तब जाकर बुद्धिजीवियों का एक बड़ा वर्ग सामने आया।

आधुनिक भारतीय राष्ट्रवाद के इतिहास में बुद्धिवादियों की भूमिका निर्णायक रही। बहुत दूर तक उन्होंने भारतीय जनता को आधुनिक राष्ट्र के रूप में एकान्वित किया और अनेक प्रगतिशील सामाजिक-धार्मिक सुधार आंदोलनों का संगठन किया। ये राजनीतिक राष्ट्रवादी आंदोलन के जनक, प्रणेता, संगठन कर्त्ता और अग्रणी थे। घोर-आत्मत्याग और अनेक कष्टों के बावजूद उन्होंने जनता के बीच शैक्षिक एवं प्रचारात्मक कार्य के द्वारा स्वतंत्रता और राष्ट्रवाद के विचारों को अधिकाधिक लोगों तक पहुंचाया। उन्होंने राष्ट्रीयता और जनतंत्र की भावनाओं से ओतप्रोत प्रादेशिक साहित्य और संस्कृति की सृष्टि की। इनके बीच से अनेक वैज्ञानिक, कवि, इतिहासकार, समाजशास्त्री, दार्शनिक एवं अर्थशास्त्री पैदा हुए। इसी वर्ग ने नवीन भारत की जटिल समस्याओं को समझा एवं उनका निदान प्रस्तुत किया। सही अर्थों में वे ही आधुनिक भारत के निर्माता थे।

प्रशासक एवं अधिकारी वर्ग का उदय

अंग्रेज मूलत: एक व्यापारी वर्ग के रूप में भारत आए। व्यापार से प्राप्त लाभ एवं भारत की तत्कालीन परिस्थितियों से प्रेरित होकर वे यहाँ पर साम्राज्य स्थापित करने को प्रेरित हुए। साम्राज्य स्थापित करने के उपरांत उन्हें शासन करने के लिए एक अधिकारी वर्ग की आवश्यकता महसूस हुई। चूंकि वे भारत पर अपने प्रभाव एवं नियंत्रण को मजबूत करना चाहते थे, अत: इस काम का दायित्व कंपनी के अधिकारियों को ही सौंपा गया। जैसे-जैसे साम्राज्य का विस्तार हुआ कंपनी का प्रशासनिक दायित्व भी बढ़ता गया। ब्रिटिश प्रशासनिक सेवा के अधिकारी अब भारत में नियुक्त किए जाने लगे, पर इन अधिकारियों को भारत में नियुक्त करना अधिक महंगा पड़ता था। भारत में शासन करने के लिए उन्हें विशेष प्रशिक्षण की भी आवश्यकता पड़ती थी। इस समस्या से निपटने के लिए इस बात पर बल दिया गया कि भारतीय भी इन सिविल सेवाओं में शामिल हो सकते हैं। इसके लिए संश्रावित जनपद सेवा का आरंभ किया गया। सत्येन्द्र नाथ टैगोर इस सेवा में शामिल होने वाले पहले भारतीय थे। उनके उपरांत सुरेन्द्र नाथ बनर्जी एवं सुभाष चंद्र बोस

भी इस सेवा के लिए चुने गए। पर दोनों ने ही राष्ट्रीय भावना से प्रेरित होकर इस सेवा से त्यागपत्र दे दिया, पर कई लोग ऐसे थे जो इस सेवा में शामिल होकर अंग्रेजों की सेवा करते रहें। चूंकि यह वर्ग अपनी जरूरतों के लिए अंग्रेजों पर निर्भर था, अतः यह अंग्रेजों के प्रति स्वामीभक्त भी था। वास्तव में यही वर्ग उनके औपनिवेशिक हितों का संरक्षक था। अंग्रेज इसे साम्राज्य का इस्पाती चौखट कहते थे।

साम्राज्यीय आवश्यकताओं के बावजूद अंग्रेजों ने सिविल सेवाओं में नियुक्ति के लिए एक सुनियोजित नीति का अवलम्बन किया। आरंभ में इन भारतीयों की संख्या एक चौथाई से अधिक नहीं हो सकती थी। परंतु धीरे-धीरे इनकी संख्या भी बढ़ने लगी। 1947 के आसपास इनकी संख्या लगभग आधी हो गई।

राष्ट्रीय आंदोलन के आरंभिक दिनों में यह वर्ग अंग्रेजों के प्रति अधिक निष्ठावान था, पर जैसे-जैसे राष्ट्रीयता की भावना का प्रसार होता गया, यह वर्ग भी राष्ट्रीय भावना से अछूता नहीं रहा। 1947 तक आते-आते स्थिति बिल्कुल बदल चुकी थी। यह वर्ग अब राष्ट्रीय हितों के प्रति अधिक समर्पित हो चुका था। इस प्रकार राज्य का इस्पाती चौखट साम्राज्य को ही निगलने को आतुर था। सिविल सेवकों की बदलती निष्ठा ने अंग्रेजों को भारत छोड़ने के लिए बाध्य कर दिया।

पूंजीपति वर्ग का उदय

19वीं शताब्दी के उतरार्द्ध में भारत में एक पूंजीपति वर्ग का उदय हो चुका था। हालांकि यह वर्ग काफी शक्तिशाली नहीं था, और तब के भारतीय पूंजी बाजार में इसकी भूमिका भी कोई महत्त्वपूर्ण नहीं थी, पर इस आधार पर इसके अस्तित्व को नकारा नहीं जा सकता। वामपंथी विचारकों ने तो भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना में इसकी महत्त्वपूर्ण भूमिका की चर्चा की है। उन्होंने तो यहां तक कहा है कि पूंजीपति वर्ग के स्वार्थों की रक्षा के लिए ही कांग्रेस की स्थापना हुई। हो सकता है इन बातों में पूरी सच्चाई न भी हो, तो भी इतना तो स्वीकार किया ही जा सकता है कि 19वीं शताब्दी के उतरार्द्ध में पूंजीपति एक ताकतवर वर्ग के रूप में उभरने लगे थे। एक बात और, भारत में प्रारंभ से ही पूंजीपतियों की रुचि राजनीति में भी थी। यह औपनिवेशिक संरचना में आवश्यक ही था। इस प्रकार भारत में पूंजीपति वर्ग अपने धन पर केवल लाभ कमानेवाला वर्ग ही नहीं था बल्कि राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलन के संघर्ष में वह भी सहभागी था। इस अर्थ में भारतीय पूंजीपति वर्ग की भूमिका अन्य देश के पूंजीपतियों से भिन्न थी।

भारत में कई व्यावसायिक वर्ग का अस्तित्व था, जैसे - मारवाड़ी, गुजराती और पारसी। ये समुन्नत व्यापारी थे और इनके पास काफी पूंजी भी थी। पर ये वर्ग प्रांतीय स्तर तक ही क्रियाशील थे। बंगाल में भद्रलोक समाज था। इस वर्ग के हाथ में काफी पूंजी थी, परंतु व्यापार और व्यवसाय के प्रति इस वर्ग में कोई अभिरुचि नहीं थी। इस वर्ग ने अपनी पूंजी जमीन खरीदने में लगाई। भारत में जो व्यावसायिक वर्ग था उसने अधिकतर अपने पैसे सूद पर लगाए।

इस काल में मध्य भारत, उतरी भारत और पश्चिमी भारत में मारवाड़ी वर्ग का अस्तित्व था। परंतु यह वर्ग मुख्य रूप से ब्रिटिश उद्योग धंधों में उत्पादित वस्तुओं का क्रय-विक्रय करता था। 19वीं शताब्दी के अंतिम चरणों में पश्चिम भारत में और खासकर बंबई और अहमदाबाद में भारतीयों ने अपनी पूंजी को वस्त्र उद्योग में लगायी। भारत में वस्त्र-उद्योग मूलतः भारतीयों के पैसे से ही फले-फूले।

आरंभ में भारत में पूंजीपति वर्ग के सशक्त रूप में न उभरने का एक कारण यह भी था कि जिस भी क्षेत्र में भारतीय पूंजी लगी हुई थी, अंग्रेजों ने उस क्षेत्र को प्रोत्साहन नहीं दिया। इसी कारण से अंग्रेजों ने भारतीय वस्त्र पर कई तरह के सीमा शुल्क लगाए। इससे भारतीय वस्तुएं विदेशी प्रतियोगिता में पिछड़ गई। भारतीय पूंजीपतियों को भी आगे आने का मौका नहीं मिला।

स्वदेशी आंदोलन भारतीय पूंजीवादी वर्ग के विकास के लिए वरदान साबित हुआ। इसके कारण भारत में पूंजीवादी वर्ग का पहले की अपेक्षा अधिक तेजी से विकास हुआ। इस आंदोलन में स्वदेशी वस्तुओं के उपयोग पर बल दिया गया। इसके साथ ही विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार का भी कार्यक्रम था। भारतीय मध्यवर्ग के ऐसे लोगों ने जिनके पास पूंजी थी, छोटे पैमाने पर उद्योग धंधों का आरंभ किया-साबुन, दियासलाई, कैंडील आदि के फैक्ट्री स्थापित हुए। बीमा कंपनियां भी खोली गई। छोटे पैमाने पर ऐसे उद्योगों के स्थापित होने से ग्रामीण इलाके के लोगों को काम मिला।

महायुद्ध का काल भी भारतीय पूंजीपतियों के लिए सहायक रहा। युद्ध में ब्रिटेन की संलग्नता के कारण ब्रिटेन से वस्तुओं का आना

बंद हो गया। फलतः इस काल में कई भारतीय उद्योग स्थापित हुए।

इस प्रकार भारत में पूंजीपति वर्ग का विकास उद्योगों के विकास से जुड़ा हुआ है। भारत में पूंजीपति वर्ग का विकास 1914 के बाद ही हुआ। यही काल भारत में उद्योगों के वास्तविक विकास का भी है।

कृषि मजदूर वर्ग का उदय

औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था में भारतीय किसानों की स्थिति अत्यंत दयनीय थी। इस व्यवस्था में न तो कृषि की उन्नति हुई और न किसान समृद्धशाली हो सके। कृषि उत्पादन में ह्रास के साथ-साथ कृषि मजदूर वर्ग का उदय, इस नये अर्थतंत्र की एक विकट समस्या थी। इस वर्ग के उदय के कारण भारत की आर्थिक-सामाजिक परिस्थितियों में ही थे।

पहले हम भारत की सामाजिक परिस्थितियों के संदर्भ में इस वर्ग के उदय को देखें। औद्योगिक क्रांति के बाद सभी देशों की जनसंख्या में वृद्धि हुई। भारत की जनसंख्या भी इस दौरान काफी बढ़ी। इस आबादी में बहुत बड़ी संख्या उन लोगों की थी जो मजदूर के रूप में जमीन पर काम करते थे। अतः जनसंख्या में वृद्धि के कारण मजदूर वर्ग की संख्या में भी वृद्धि हुई।

कृषि मजदूर वर्ग में वृद्धि का एक प्रमुख कारण कुटीर उद्योगों का विनाश था। कुटीर उद्योगों के विनाश के कारण बड़ी मात्रा में कारीगर और शिल्पकार बेकार हो गए। अब उनके सामने आजीविका का कोई साधन नहीं था। फलतः वे कृषि की ओर मुड़े। चूंकि इनका भू-स्वामित्व से संबंध नहीं था, अतः ये कृषि मजदूर बन गए।

लगान की ऊंची रकम ने किसानों के सामने ऐसी परिस्थितियां पैदा कर दी, जिसके कारण वे अधिक से अधिक ऋण लेने को विवश हुए। उन पर ऋण का बोझ इतना बढ़ गया कि ऋण की वसूली के लिए उन्हें अपनी जमीन बंधक रखनी पड़ी। अब जमीन के मालिक जमीन पर काम करने वाले मजदूर बन गए। इस प्रकार सरकारी नीति ने भी मजदूर वर्ग की संख्या को बढ़ाया-प्रत्यक्ष न सही परोक्ष रूप में ही।

भारत में कुटीर उद्योगों का पतन तो हुआ पर उसकी जगह औद्योगीकरण को बढ़ावा नहीं दिया गया। औद्योगीकरण हुआ भी तो भारत का नहीं इंग्लैण्ड का। इस प्रकार भारतीयों की कीमत पर अंग्रेजों की संपन्नता बढ़ी। वहां के लोगों को रोजगार मिला। भारतीयों को अगर कुछ मिला तो वह बेरोजगारी का आलम और मजदूरी की विवशता।

सरकार का उतरदायित्व इस कारण भी है कि उसने बंजर भूमि को कृषि योग्य बनाने का प्रयास नहीं किया। कितनी जमीन बगैर जोते रह गई। सरकार ने इस भूमि पर कृषि कार्य आरंभ कराने में कोई दिलचस्पी नहीं दिखाई।

भारत में इस वर्ग के उदय का मुख्य कारण ब्रिटिश सत्ता ही थी। ब्रिटिश शासन में इनका काफी शोषण भी हुआ। यही कारण है कि जब राष्ट्रीय आंदोलन में इनका आह्वान किया गया तो इन्होंने उसमें बढ़चढ़ कर भाग लिया।

प्रमुख विचार

1. ये बाबू हैं जिन्हें हमीं ने शिक्षित किया है ताकि वे देसी अखबारों में अर्द्ध-राजद्रोहपूर्ण लेख लिख सकें। - लिटन

मॉडल उत्तर

प्रश्न : ब्रिटिश भारत में नव सामाजिक वर्गों का उद्‌भव नव सामाजिक अर्थव्यवस्था, नव राज्य तंत्र, प्रशासन तंत्र और पश्चिमी शिक्षा के स्थापना का सीधा परिणाम था। चर्चा कीजिए। 250 शब्द (2008)

उत्तर : भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना के उपरांत कई नवीन सामाजिक वर्गों का उदय हुआ। ये नवीन वर्ग थे- बुद्धिजीवी, जमींदार, कृषक, मजदूर तथा नव प्रशिक्षित प्रशासक एवं अधिकारी वर्ग। ईस्ट इंडिया कंपनी ने भारत में अपनी सत्ता की स्थापना के साथ आर्थिक क्षेत्र में अपनी पकड़ मजबूत करनी शुरू कर दी। भारतीय भू- राजस्व पर नियंत्रण के क्रम में उसने भू-धारण की नवीन

पद्धति लागू की। भारत की सामूहिक भू-धारण पद्धति के स्थान पर उसने जमींदारी व्यवस्था को लागू किया। अब भूमि पर इस वर्ग के अधिकार को मान्यता मिली। इससे जमींदारों का वर्ग उभरकर सामने आया। अंग्रेजों की भू-राजस्व नीति के कारण किसानों पर कर का बोझ बढ़ा। धीरे-धीरे ये किसान जमींदार और महाजनों के चंगुल मे फंस गए। उन्हें अपनी जमीन तक बेचनी पड़ी। ये किसान अपनी ही भूमि पर काम करने वाले कृषक-मजदूर बन गए।

भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना के बाद शासन के नियमन के लिए उन्हें प्रशासनिक अधिकारियों की आवश्यकता महसूस हुई। चूंकि भारत में अंग्रेजों की संख्या कम थी और ब्रिटेन से ऐसे लोगों को बुलाना अधिक महंगा पड़ रहा था। अत: ब्रिटिश सरकार ने भारतीयों में से ही उनकी नियुक्ति करने का निर्णय किया। इसके दो फायदे थे- एक तो भारतीय प्रशासक अंग्रेज प्रशासक की तुलना में सस्ते में उपलब्ध थे साथ ही उन्हें भारत की सामाजिक एवं शासकीय परंपरा का भी ज्ञान था। इस प्रकार भारत में नव राज्य तंत्र एवं प्रशासन तंत्र की आवश्यकता के कारण अधिकारी वर्ग उभर कर सामने आया। अंग्रेजों ने भारत में एक नवीन शिक्षा तंत्र की स्थापना की। इससे भारतीय पश्चिम के उदारवादी एवं प्रजातांत्रिक मूल्यों से परिचित हुए। वे अपने अधिकारों के प्रति भी जागरूक हुए। कानून, विज्ञान एवं अर्थशास्त्र जैसे विषयों के अध्ययन के उपरांत उन्होंने डॉक्टर, इंजीनियर, प्राध्यापक, वकील एवं अर्थशास्त्री जैसे विभिन्न पेशों को अपनाया। राष्ट्रीय एवं अंतरराष्ट्रीय विषयों में भी उनकी रुचि बढ़ी। यही बुद्धिजीवी वर्ग भारत के राष्ट्रीय आंदोलन का वाहक बना।

प्रश्न : स्वतंत्रता-पूर्व काल में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के प्रति भारत के उद्योगपतियों की क्या अभिवृत्ति थी। (250 शब्द) 2006

उत्तर : भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना के समय से ही भारत के उद्योगपति वर्ग ने राष्ट्रीय आंदोलन में सक्रिय रूप से संगठनात्मक भूमिका का निर्वहन किया। कुछ इतिहासकार तो यहां तक मानते हैं- कि कांग्रेस की स्थापना उद्योगपति वर्ग के दबाव में ही किया गया था। कांग्रेस की भी आरंभिक कोशिश एक राष्ट्रीय पार्टी बनने की थी। इस क्रम में उसने समाज के सभी वर्गों को एक साथ लेकर चलने की रणनीति अपनाई। कांग्रेस के स्वदेशी आंदोलन ने देशी उद्योगों की स्थापना को प्रेरित किया। उसी दौरान बंगाल केमिकल फैक्ट्री की स्थापना बी०सी० राय ने की। कई अन्य छोटे उद्योग भी स्थापित हुए। इस प्रकार उद्योगपतियों के व्यक्तिगत हित एवं राष्ट्रीय हित परस्पर संबद्ध हो गए।

असहयोग आंदोलन के दौरान इस वर्ग ने कांग्रेस का समर्थन किया। इसका मुख्य कारण यह था कि असहयोग आंदोलन प्रथम विश्व युद्ध काल की पृष्ठभूमि में आरंभ हुआ था। इस युद्ध काल के दौरान विदेशी वस्तुओं के आयात में काफी कमी आई। इससे देश के भीतर उद्योगों की स्थापना को बल मिला। कांग्रेस ने इन उद्योगों की स्थापना के प्रति प्रोत्साहन की नीति अपनाई। फलत: पूंजीपति वर्ग ने भी कांग्रेस का साथ दिया। पूंजीपति वर्ग द्वारा कांग्रेस के साथ सहयोग का एक कारण यह भी था कि ब्रिटिश सरकार भारत में देशी पूंजी को प्रोत्साहित नहीं करती थी। देशी पूंजीपतियों द्वारा उद्योग की स्थापना के मार्ग में रोड़े अटकाए जाते थे। उन्हें आर्थिक प्रोत्साहन एवं वितीय मदद नहीं दी जाती थी। फलत: उद्योगपतियों ने यह महसूस किया कि उनका हित ब्रिटिश सत्ता के साथ नहीं बल्कि कांग्रेस के साथ जुड़ने में है। 1924 ई० में कांग्रेस ने भारतीय उद्योगपतियों के लिए संरक्षण की मांग की।

सविनय अवज्ञा एवं 1942 के आंदोलन में भी भारतीय पूंजीपति वर्ग ने कांग्रेस का साथ दिया। कहा जाता है कि जमुना लाल बजाज गांधी के आंदोलन एवं कांग्रेस संगठन का खर्च स्वयं उठाया करते थे। कांग्रेस को चुनाव लड़ने के लिए फंड की व्यवस्था भी पूंजीपति वर्ग करता था।

अत: कहा जा सकता है कि राष्ट्रीय आंदोलन के दौरान भारत के उद्योगपति वर्ग का कांग्रेस के प्रति सकारात्मक एवं सहयोगात्मक दृष्टिकोण रहा।

प्रश्न : राष्ट्रीय आंदोलन के विकास में भारतीय समाज की भूमिका को स्पष्ट कीजिए।

या

क्या आप इस बात से सहमत है कि राष्ट्रवाद के विकास में भारतीय समाज का अभूतपूर्व योगदान है? स्पष्ट कीजिए।

उत्तर: भारत में उन्नसवीं सदी का इतिहास मध्यम वर्ग के उदय का इतिहास है। मध्यम वर्ग संस्कृति का सबसे बड़ा वाहक होता

है। यह मध्यम वर्ग अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त वर्ग था। इस समय जो सामाजिक- धार्मिक सुधार आंदोलन चलाए जा रहे थे उनमें सांस्कृतिक तत्वों की प्रधानता थी, इसलिए मध्यम वर्ग इस आंदोलन से जुड़ा हुआ था। पूंजीपतियों की शोषणकारी प्रवृत्ति से सर्वाधिक आहत मजदूर वर्ग में भी जागृति आई व उनके संगठन बने। फलस्वरूप रॉलेट एक्ट के विरोध में मजदूरों ने जबरदस्त हड़ताल की। 1925 में भी उत्पादन शुल्क हटाने के मुद्दे पर इनके द्वारा हड़ताल की गई। भारतीय राष्ट्रवाद के सूत्रधार बुद्धिजीवी जो अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त वर्ग था ने प्रेस की स्वतंत्रता का लाभ उठाते हुए जन-जागृति फैलाई तथा भारतीय समाज को रूढ़िवादी दशा से निकालकर नए मूल्यों के आधार पर लोकतांत्रिक समाज का निर्माण करने में मुख्य भूमिका निभाई। कृषक वर्ग में चंपारण व खेड़ा आंदोलनों के माध्यम से राष्ट्रवाद की भावना का विकास किया। इस वर्ग ने संगठन बनाकर अंग्रेजों, जमींदारों, सूदखोरों के खिलाफ जबरदस्त संघर्ष किया। पूंजीपति वर्ग की भूमिका निश्चित रूप से प्रगतिशील थी। क्योंकि इसी वर्ग ने सांविधानिक सुधारों तथा मानवीय अधिकारों की मांग की। इसी भूमिका के कारण यह वर्ग राष्ट्रीय आंदोलन का नेतृत्व संभाले रहा। क्रांतिकारियों के कार्यों को कभी जन-समर्थन प्राप्त नहीं था लेकिन इन शहीद क्रांतिकारियों के शौर्य-प्रदर्शन ने जन-साधारण में राष्ट्रवाद की भावना जागृत कर दी थी। गाँधी, नेहरू, भगत सिंह, सरदार पटेल, सुभाष चन्द्र बोस जैसे करिश्माई नेतृत्व ने भी राष्ट्रीय आंदोलन का विकास किया।

DISCOVERY

4. 1857 का विद्रोह

भूमिका

भारत में ब्रिटिश साम्राज्य के प्रति असंतोष की चिंगारियाँ पहले से ही सुलग रही थीं, जो यदा-कदा प्रज्वलित हो उठती थीं। मुख्य बात यह थी कि भारतीयों ने कभी स्वेच्छा से ब्रिटिश साम्राज्य को स्वीकार नहीं किया था। अनेक भारतीय नरेशों तथा सरदारों में ब्रिटिश-विरोधी भावना मौजूद थी। इसके पहले छोटे पैमाने पर देश के विभिन्न भागों में छिटपुट विद्रोह होते रहे थे। 1781 ई. में वाराणसी के चैत सिंह का विद्रोह, 1799 ई. में वजीर अली का षड्यंत्र, 1816 ई. में बरेली का विद्रोह, 1832-33 में छोटानागपुर के कोलों का विद्रोह, 1845-46 में पटना षड्यंत्र, 1849 ई. में भोपाल-विद्रोह और 1855-56 में संथालों के विद्रोह हुए। बाह्य रूप से 1857 ई. की क्रांति एक आकस्मिक घटना थी। इसका आरंभ एक सैनिक विद्रोह के रूप में हुआ था। इसके पीछे कई कारण थे, जो उस समय की परिवर्तित परिस्थिति से संबद्ध थे।

विद्रोह के कारण

1857 ई. तक छिटपुट असंतोष की बिखरी लहरें एक होकर विकराल हो गई और उन्होंने 1857 ई. की क्रांति को जन्म दिया।

राजनीतिक कारण

विद्रोह के राजनीतिक कारणों के लिए लॉर्ड डलहौजी उत्तरदायी था। वह एक उग्र साम्राज्यवादी गवर्नर-जनरल था। उसकी उग्र साम्राज्यवादी नीति तथा छोटे-छोटे राज्यों को हड़पने के विभिन्न सिद्धांतों ने भारतीय राजपरिवारों में घोर असंतोष उत्पन्न कर दिया था।

डलहौजी ने गोद लेने का निषेध कर सतारा, नागपुर, झाँसी आदि अनेक राज्यों को और कुप्रबंध के आधार पर अवध के राज्य का अंग्रेजी राज्य में विलय कर लिया। उसके इस व्यवहार से मराठे भी अत्यंत उत्तेजित हो उठे और झाँसी की रानी बहुत खिन्न हुई। अवध के नवाब के साथ अंग्रेजों का जो व्यवहार हुआ उससे अनेक देशी राज्यों में तहलका मच गया। भूतपूर्व पेशवा बाजीराव द्वितीय के दत्तक पुत्र नाना साहेब की पेंशन बंद करके डलहौजी ने उसे भी अंग्रेजों का शत्रु बना दिया था।

मुगल सम्राट बहादुरशाह और उनके पुत्रों के प्रति अच्छा व्यवहार नहीं किया गया जिससे मुसलमानों की भावनाओं को आघात पहुँचा। अंग्रेज भारतीयों को तिरस्कार की दृष्टि से देखते थे और उन्हें उच्च सरकारी पदों पर नियुक्त नहीं करते थे। देशी राज्यों को समाप्त करने के बाद उनकी सेना भंग कर दी गई। इससे बहुत से सैनिक बेकार हो गए। इन सैनिकों में असंतोष फैला। फलतः क्रांति के समय उन्होंने विद्रोहियों का साथ दिया।

ब्रिटिश शासन व्यवस्था तथा न्याय-पद्धति भी जटिल थी। न्यायाधीश और शासक दोनों भारतीयों की भाषा, परम्परा, राजनीति एवं कानून से अनभिज्ञ थे और ठीक-ठीक न्याय प्रदान नहीं करते थे। भारतीय न्यायाधीशों की अदालत में अंग्रेजों के मुकद्दमों का निर्णय नहीं किया जाता था। अंग्रेज न्यायाधीश भारतीयों के साथ पक्षपात करते थे। पुलिस भी भ्रष्टाचार के लिए बदनाम थी। अंग्रेज आर्थिक क्षेत्र में लूट-खसोट की नीति अपनाकर भारतीयों को आतंकित करते रहते थे।

सामाजिक कारण

सामाजिक क्षेत्र में भी भारतीय जनता ब्रिटिश शासन से क्षुब्ध थी। एक सौ वर्ष के शासनकाल में कंपनी सरकार ने समाज सुधार संबंधी अनेक कार्य आरंभ किए। ये कार्य भारतीय सामाजिक जीवन में हस्तक्षेप करके ही किए जा सकते थे। समाज सुधार का कार्य लॉर्ड विलियम बेंटिक के शासनकाल से ही प्रारंभ किया गया था। सतीप्रथा, बाल-हत्या, नरबलि आदि को बंद करने का प्रयास किया गया। डलहौजी ने विधवा विवाह को कानूनी मान्यता दे दी। अंग्रेज भारतीय रीति-रिवाजों की अवहेलना करते थे। उन्होंने अपनी संस्कृति भारतीयों पर लादने का प्रयास किया। अंग्रेज उन्हें ईसाई बनाना चाहते थे। 1856 ई. ने एक विधेयक पारित किया गया जिसके अनुसार ईसाई धर्म में दीक्षित होने वाले भारतीय अपनी चल या अचल सम्पत्ति से वंचित नहीं किए जा सकते थे।

धार्मिक कारण

ब्रिटिश सरकार भारत में आए ईसाई धर्मप्रचारकों को प्रोत्साहन देती थी तथा राजकीय सहायता भी प्रदान करती थी। वे हिंदू तथा इस्लाम धर्म की आलोचना करते थे। कट्टर हिंदुओं के हृदय में यह धारणा घर कर गई कि अंग्रेज उनके विवाह आदि परंपरागत सामाजिक व्यवस्थाओं, रीति-रिवाजों तथा धर्म को नष्ट कर समूचे देश को ईसाई बनाना चाहते हैं। बहावी संप्रदाय द्वारा संगठित आंदोलनों ने मुसलमानों के हृदय में अंग्रेजों के विरुद्ध प्रचंड आग भड़का दी। अस्पताल, जेल आदि में भी ईसाई-धर्म की शिक्षा दी जाती थी। डलहौजी ने गोद लेने की प्रथा समाप्त कर दी थी। मंदिरों, मस्जिदों एवं अन्य धार्मिक संगठनों की जमीन पर लगान लगाने से भी भारतीयों की धार्मिक भावनाओं को ठेस पहुँची। फलतः लोगों का असंतोष एवं आक्रोश बढ़ता गया, जिसने अंत में विद्रोह का रूप ले लिया।

आर्थिक कारण

अंग्रेजी सत्ता के प्रसार के फलस्वरूप भारत विश्व के निर्धन देशों में अग्रणी बन गया था। ईस्ट इंडिया कंपनी एक व्यापारिक संस्था थी और भारत की व्यापारिक लूट ही उसके मालिकों का उद्देश्य थी। भारतीय व्यापार पर अंग्रेजों ने एकाधिकार स्थापित कर लिया था और यहाँ के घरेलू उद्योग-धंधों को नष्ट कर डाला था। फलतः लोगों की आर्थिक स्थिति शोचनीय हो गई थी और बेकारों की संख्या बढ़ने लगी थी। लॉर्ड विलियम बेंटिक ने भूमि सुधार के नाम पर कर-विमुक्त तथा इनाम की भूमि छीन ली थी। लॉर्ड डलहौजी ने इनाम-कमीशन द्वारा बीस हजार जागीरदारों का अंत कर दिया था। अंग्रेज अवकाश प्राप्त कर अपने देश लौट जाते थे और साथ ही अपने जीवन भर की आय भी ले जाते थे। इस तरह भारत का धन बहुत बड़ी मात्रा में विदेश चला जाता था।

सैनिक कारण

प्रत्येक राष्ट्र की सुरक्षा की रीढ़ वहाँ की सेना होती है। यदि वह कमजोर हो जाए तो उस राष्ट्र की स्थिति संकटपूर्ण हो सकती है। कंपनी के सैनिकों में भारतीय सैनिक की संख्या दो लाख तैंतीस हजार थी जबकि अंग्रेजी सैनिक केवल पैंतालीस हजार थे। परंतु उनके वेतन-भत्ते आदि अंग्रेज सैनिकों से बहुत ही कम होते थे। सेना के सभी उच्च पदों पर अंग्रेजों की नियुक्तियाँ होती थीं। अंग्रेज अफसर भारतीय सैनिकों के साथ बहुत बुरा व्यवहार भी करते थे।

यूरोपीय युद्धों में उलझने के कारण इंगलैंड के शासन को धक्का लगा था तथा अंग्रेज सैनिकों की योग्यता में ह्रास आ गया था। 1856 ई. में लॉर्ड कैनिंग के नियमानुसार भारतीय सैनिकों को देश से बाहर समुद्र के पार युद्ध करने के लिए जाना अनिवार्य कर दिया गया। भारतीय सैनिक समुद्र-पार जाना धर्म के विरुद्ध समझते थे। हिंदुओं में तिलक लगाना, टोपी पहनना, चोटी रखना आदि कर्त्तव्य धार्मिक समझे जाते थे। इसी तरह सिक्खों एवं मुसलमानों में दाढ़ी-मूँछ रखने का रिवाज था। भारतीयों के इन सभी रिवाजों पर प्रतिबंध लगा दिया गया। इससे भी भारतीय सैनिकों में बड़ा रोष उत्पन्न हुआ। उनके निःशुल्क पत्र भेजने की सुविधा भी छीन ली गई। इससे वे और भी क्रुद्ध हुए।

तात्कालिक कारण

सरकार ने 'इनफील्ड रायफल' नामक नई बंदूक सेना के व्यवहार के लिए चालू की। इसके कारतूस को बंदूक में भरने के पहले दाँत

से काटना पड़ता था। सैनिकों में यह खबर फैल गई कि कारतूस की खोल में गाय और सूअर की चर्बी है, जो हिंदू तथा मुसलमान दोनों के लिए घृणा की वस्तु थी। इससे दोनों की धार्मिक भावनाओं को भारी चोट पहुँची। चर्बी वाली बात ने भारतीय सैनिकों को विद्रोह के कगार पर लाकर खड़ा कर दिया। धर्म की रक्षा के नाम पर हिंदू और मुसलमान दोनों जीवन का मोह त्यागकर विद्रोह के लिए तत्पर हो गए। किसी ने ठीक ही कहा है, "कारतूस की कहानी ने ब्रिदोहाग्नि में वही काम दिया जो काम जलती हुई आग में सूखी लकड़ी करती है।" इस प्रकार, ज्वालामुखी के मुँह पर बैठे समस्त देश में एक विस्फोट हुआ, जिसकी प्रचंड लपटें सतलज से नर्मदा तक के भू-भाग पर देखते-देखते फैल गई।

विद्रोह का प्रसार

जनवरी, 1857 में कारतूसवाली कहानी सभी छावनियों में फैल गई। इस पर सैनिक उत्तेजित हो उठे। 29 मार्च, 1857 को बैरकपुर छावनी में खुली परेड में एक ब्राह्मण सैनिक मंगल पांडेय ने सैनिकों को अंग्रेजों के विरुद्ध भड़काया। उसने एक अंग्रेज अफसर को गोली से मार दिया। उसे गिरफ्तार कर लिया गया और फाँसी की सजा दी गई। भारतीय सेना की उन्नीसवीं रेजीमेंट भंग कर दी गई। इस घटना के बाद ही मेरठ में सिपाहियों ने खुले तौर पर विद्रोह कर दिया (10 मई, 1857) और मेरठ पर कब्जा कर लेने के बाद दिल्ली पर धावा कर उस पर भी अधिकार कर लिया। अत: 10 मई, 1857 को ही विद्रोह प्रारम्भ माना जाता है। मेरठ की भाँति दिल्ली में भी उन्होंने बहुत-से यूरोपियनों की हत्या कर दी और उनके घरों को जला डाला। उस समय बहादुरशाह द्वितीय दिल्ली में मौजूद था और मुगल साम्राज्य का अतीत गौरव अब भी उसके साथ चिपका हुआ था। विद्रोहियों ने उसे हिंदुस्तान का बादशाह घोषित कर दिया। दिल्ली का पतन ब्रिटिश साम्राज्य की प्रतिष्ठा पर भयंकर आघात था।

शीघ्र ही मेरठ और दिल्ली की विद्रोहाग्नि की लपटें कानपुर, बरेली, लखनऊ, बनारस, जगदीशपुर (बिहार) तथा भारत के अन्य भागों में फैल गई। क्रांतिकारियों ने अंग्रेज अफसरों को मार डाला और उनके बंगले जला दिए।

लखनऊ में हेनरी लॉरेन्स ने अपने सैनिकों के साथ रेजीडेन्सी में शरण ली। ऐसा प्रतीत होने लगा कि देश में दस दिन की अवधि के लिए क्रांतिकारियों का राज्य हो गया। अवध में विद्रोह का नेतृत्व वहाँ की रानी बेगम हजरत महल कर रही थीं।

विद्रोह का अंत

लॉर्ड कैनिंग के निर्देशन में उत्तरी भारत के विभिन्न स्थलों पर विद्रोहियों का सामना किया गया। सर्वप्रथम ब्रिटिश सैनिकों ने दिल्ली को अपने अधिकार में ले लिया। सिक्ख एवं ब्रिटिश सैनिकों की सहायता से विद्रोह को दबा दिया गया। बहादुरशाह को आजीवन कारावास का दंड देकर रंगून (बर्मा) भेज दिया गया। 1862 ई. में वहीं उसकी मृत्यु हो गई। नाना साहेब नेपाल भाग गए। झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई लड़ते-लड़ते मारी गई। ताँत्या टोपे पकड़े गए और उन्हें फाँसी की सजा दी गई। बिहार के क्रांतिकारी नेता बाबू कुँवर सिंह की मृत्यु हाथ में गोली लगने से 23 अप्रैल, 1858 को हुई। इस प्रकार नेतृत्व के अभाव में विद्रोह कमजोर होता हुआ समाप्त हो गया।

1857 के विद्रोह का स्वरूप

- 1857 के विद्रोह के स्वरूप के सम्बन्ध में इतिहासकारों में बड़ा मतभेद है। अंग्रेज इतिहासकारों ने इसे केवल सिपाही विद्रोह बतलाया है जिसका तात्कालिक कारण कारतूसवाली घटना थी। कुछ विद्वानों की धारणा है कि असंतुष्ट देशी नरेश जिनके राज्य अथवा पेंशनों को डलहौजी ने छीन ली थी, इस विद्रोह के प्रमुख कारण थे, जिनका उद्देश्य अपने राज्य, पदों तथा पेंशनों को पुन: प्राप्त करना था। इसलिए इसका स्वरूप सामंतवादी था। सिपाही विद्रोह के साथ सहयोग करके इन लोगों ने इसे राजनीतिक रूप देने का यत्न किया। कुछ अन्य लेखकों के विचारानुसार यह अंग्रेजों के विरुद्ध मुसलमानों का षड्यंत्र था और इसका प्रधान उद्देश्य था बहादुरशाह की छत्रछाया में सारे भारत में मुसलमानी सत्ता को पुन: स्थापित करना। कुछ अन्य लोग इसे ईसाइयों के विरुद्ध धर्म युद्ध अथवा काली और गोरी जातियों के बीच सत्ता का संघर्ष या पश्चिमी और पूर्वी सभ्यता का संघर्ष मानते हैं। लेकिन अधिकांश भारतीय इतिहासकारों ने इसे राष्ट्रीय आंदोलन कहा और इसे भारत का प्रथम स्वतंत्रता-संग्राम बतलाया है। इस

प्रकार इस विद्रोह के संबंध में कई तरह के मत व्यक्त किए गए हैं।

विद्रोह के स्वरूप के अध्ययन के बाद स्पष्ट हो गया है कि इसके संबंध में विभिन्न मत है जो परस्पर विरोधी हैं। इस विद्रोह को न तो केवल सिपाही विद्रोह न केवल मुसलमानों का षड्यंत्र और न संयोजित राष्ट्रीय स्वतंत्रता संग्राम कहा जा सकता है।

- इस विद्रोह को सैनिकों ने प्रारंभ किया था, लेकिन इसमें भाग लेने वाले केवल सैनिक ही नहीं थे। इसमें जनता ने भी सहयोग किया था और कई स्थानों पर तो जनता के भड़कने पर सैनिकों ने विद्रोह किया। इसलिए इसे केवल सैनिक विद्रोह कहना अनुचित होगा।
- विद्रोह को मुसलमानों का षड्यंत्र भी नहीं माना जा सकता। इस विद्रोह के अनेक नेता हिन्दू थे। यह साम्प्रदायिकता से एकदम दूर था तथा हिन्दू मुसलमान दोनों ने मिलकर इसका नेतृत्व किया था।
- विद्रोह को स्वतंत्रता संग्राम अथवा राष्ट्रीय आंदोलन कहने में भी अनेक कठिनाइयां है। एक तो विद्रोह का क्षेत्र सीमित था, दूसरे उस समय भारत में उस राष्ट्रीय भावना का विकास नहीं हुआ था जिसमें आधुनिक राष्ट्रीयता के सभी गुण होते हैं। जनता का भी पूरा समर्थन इसको नहीं मिला था। विद्रोह के प्रमुख नेता असंतुष्ट सामन्त थे जो अंग्रेजी सरकार से नाराज हुए थे। अतएव इसको राष्ट्रीय आंदोलन भी नहीं कहा जा सकता।
- 1857 के विद्रोह के संबंध में कहा जा सकता है कि इसको सैनिकों ने शुरू किया और इसमें प्रमुख भूमिका उन्हीं की रही, इसलिए यह सिपाही विद्रोह था। सामंतों ने सहयोग देकर इसको सामंतवादी आंदोलन का रूप दे दिया और जनता के आंशिक सहयोग, साम्प्रदायिकता का अभाव, विद्रोहियों का संगठन और उसके उद्देश्य ने इसे लोकप्रिय स्वरूप प्रदान किया।
- विद्रोह शुरूआती चरण में एक सिपाही विद्रोह था परन्तु यह विद्रोह सिपाही विद्रोह तक ही सीमित नहीं था। विद्रोह का स्वरूप लोकप्रिय था। इस लोकप्रिय स्वरूप को भारत के कई क्षेत्रों में देखा जा सकता है। भारत के कई क्षेत्र में आम लोगों की सहभागिता ने इस विद्रोह को लोकप्रिय स्वरूप प्रदान किया।
- विद्रोह का स्वरूप पश्चगामी था। विद्रोह पश्च दृष्टि रखता था, इस विद्रोह में मध्यकालीन व्यवस्था को स्थापित करने का दृष्टिकोण था। बहादुर शाह जफर को भारत के बादशाह के रूप में स्वीकार किया जाना एवं सामंतों, प्रमुखों, राजाओं की व्यवस्था को स्वीकार किया जाना इस दृष्टिकोण को दर्शाता है।
- विद्रोह का स्वरूप प्रगतिशील नहीं था। प्रगतिशीलता के तत्त्व अनुपस्थित थे। विद्रोह में विस्तृत दृष्टि का अभाव था, भविष्य के लिए कोई सुनिश्चित योजना नहीं थी।

विद्रोह की विफलता के कारण

1857 ई. के विद्रोह की विफलता के कई कारण थे, जिन्हें अग्रांकित बिन्दुओं के रूप में समझा जा सकता है :

- अंग्रेजी सेना का अत्याधुनिक अस्त्र-शस्त्र से पूर्ण होना, इसके विपरीत भारतीय विद्रोही पारंपरिक अस्त्रों का प्रयोग करते रहे।
- अंग्रेजों के पास बेहतर संचार सुविधाएं एवं यातायात के साधन रहे।
- भारतीय विप्लवी आपस में संगठित नहीं थे।
- विप्लवियों को सिंधिया, निजाम एवं राजस्थान के बड़े राजाओं का सहयोग प्राप्त नहीं हुआ।
- बहादुरशाह जफर स्वयं क्रांति के प्रति अत्यंत सजग एवं सक्रिय नहीं थे।
- अवध के तालुकेदार एक समय के बाद कम्पनी की घोषणाओं से संतुष्ट होकर शान्त हो गए।
- कैम्पवेल, ह्यूम, रोज, ओ नील जैसे सैनिक अधिकारियों ने विद्रोह को सफलता से दबा दिया।
- नाना साहेब एवं बेगम हजरत महल का पलायन तथा झांसी की रानी एवं कुँवर सिंह की मृत्यु।
- अवध एवं बिहार को छोड़कर जन समर्थन का अभाव।

- सैनिकों में भी मूलत: अवध एवं बिहार के सिपाहियों ने भाग लिया। पंजाबी, गोरखा आदि अंग्रेजों के साथ रहे।

विद्रोह के पश्चात् अंग्रेजी दृष्टिकोण में परिवर्तन

देशी शासकों के प्रति दृष्टिकोण

- विद्रोह में देशी शासक या तो तटस्थ रहे या उन्होंने अंग्रेजी को समर्थन दिया।
- अंग्रेजों द्वारा प्रतिक्रियावादी शक्तियों के रूप में इनकी पहचान, प्रगतिशीलता विरोधी शक्ति के रूप में इनकी पहचान, राजनीतिक मित्र में रूप में इनकी पहचान स्थापित हुई।
- अंग्रेजों की ओर से तुष्टिकरण की नीति एवं समझौतावादी दृष्टिकोण।
- उनके राजनीतिक अस्तित्व को स्वीकार किया जाना, साम्राज्य विस्तार की नीति का परित्याग, डलहौजी के गोद निषेध नीति का परित्याग।
- सम्मानित किए जाने का दृष्टिकोण उन्हें मौद्रिक और प्रादेशिक पुरस्कार दिया जाना-1861 में 'स्टार ऑफ इंडिया का सम्मान' पटियाला, बड़ौदा, भोपाल, ग्वालियर आदि राज्यों को दिया गया।
- बाद के दिनों में उनके अधीनस्थ को स्थापित किया जाना-ब्रिटिश परम सत्ता के प्रति उनकी निष्ठा को स्थापित किया जाना।

मुसलमानों के प्रति दृष्टिकोण

- अंग्रेजों के द्वारा विद्रोह के कारणों का विश्लेषण और मुस्लिम कारक को एक महत्त्वपूर्ण कारक माना जाना।
- मुस्लिम विरोधी दृष्टिकोण सैन्य व्यवस्था में दृष्टिगोचर होती है, जो मुसलमानों की भूमि पर ब्रिटिश आधिपत्य स्थापित करने में दृष्टिगोचर होती है।
- ये मुस्लिम विरोधी रूख 1870 तक स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है।

जमींदारों के प्रति दृष्टिकोण

- जमींदारों के प्रति समझौतावादी दृष्टिकोण-जमींदारों को शक्तिशाली वर्ग के रूप में समझा गया जो कि उपनिवेशवाद विरोधी शक्ति के लिए अवरोध के समान थे।
- जमींदारों को भारतीय समाज के परंपरागत नेता के रूप में स्वीकार किया गया।
- उनके हितों, अधिकारों के सुरक्षा की बात कही गयी।
- सरकार द्वारा जब्त किए गए भूमि क्षेत्रों को उन्हें वापस किया गया।

बुद्धिजीवी वर्ग के प्रति दृष्टिकोण

- विद्रोह के दौरान बुद्धिजीवी वर्ग की तटस्थता और अंग्रेजी सरकार द्वारा बुद्धिजीवी वर्ग के इस दृष्टिकोण की सराहना।
- बाद के दिनों में इसी वर्ग के द्वारा औपनिवेशिक शासन के स्वरूप का विश्लेषण, इसी वर्ग के द्वारा राजनीतिक आंदोलन में नेतृत्व और इसी वर्ग के द्वारा राष्ट्रीय भावनाओं के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान और बुद्धिजीवी वर्ग की इस भूमिका की अंग्रेजों के द्वारा आलोचना।

सुधारों के प्रति दृष्टिकोण

- अंग्रेजों का ऐसा मानना था कि उनकी सुधारवादी नीति से भारतीय प्रतिक्रियाएँ हुई, भारतीय प्रतिक्रिया को एक कारक के रूप में समझा गया।

DISCOVERY

- सुधार विरोधी रुख, प्रतिक्रियावादी शक्तियों का समर्थन।
- 1857 के बाद अंग्रेज प्रगतिशील विचारों के विरोधी हो गए और सुधारों के प्रति पूर्ण तौर से उदासीनता दिखायी।
- समाज के रुढ़िवादी तत्वों को समर्थन दिया गया।

नस्लवाद का दृष्टिकोण

- अंग्रेजी शासन में नस्लवादी प्रवृत्ति का 1857 के बाद बहुत अधिक प्रबल हो जाना खुले तौर पर नस्लवादी नीतियों को समर्थन दिया जाना।
- प्रबल नस्लवादी प्रवृत्ति रेलवे आरक्षण, प्रतीक्षालयों में आरक्षण, पार्कों इत्यादि स्थानों पर भारतीयों के प्रवेश को निषेध करने में दृष्टिगत होती है।
- जातीय श्रेष्ठता के सिद्धांतों को स्थापित करने का प्रयास किया और प्रजातीय तौर पर इन्होंने स्वयं को श्रेष्ठ घोषित किया।
- स्वामी जाति के सिद्धांतों को प्रोत्साहन दिया गया।

विद्रोह के पश्चात् सैनिक और प्रशासनिक नीति

सैन्य नीति

1. सामान्य तौर पर सैन्य व्यवस्था में यूरोपीय प्रभुत्व को स्थापित करने का प्रयास।
2. भारतीयों के ऊपर निर्भरता को कम करने का प्रयास।
3. भारतीयों को विभाजित करने का प्रयास।

- अधिक महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों में विशेष तौर पर जिनका सामरिक महत्त्व अधिक था यूरोप के लोगों के नियंत्रण में लाया गया। महत्त्वपूर्ण पदों पर यूरोपियों की नियुक्ति की गई। सैन्य व्यवस्था के महत्त्वपूर्ण शाखाओं जैसे - तोपखाना, टैंक इत्यादि यूरोपियों के नियंत्रण में रखा गया।
- भारतीयों को अधिकारी वर्ग से बाहर रखने का प्रयास किया गया। 1914 तक कोई भी भारतीय सूबेदार पद से ऊपर नियुक्त नहीं हुआ।
- भारतीय सैनिकों को लड़ाकू और गैर लड़ाकू वर्गों में विभाजित किया गया। सिक्ख, गोरखा, पठान को लड़ाकू वर्ग तथा अवध, बिहार एवं मध्य भारत के उच्च जाति के लोगों को गैर लड़ाकू वर्ग में रखा गया।
- सैन्य व्यवस्था के भारतीय अंग को संतुलन और प्रति संतुलन के आधार पर व्यवस्थित किया गया। इसके अंतर्गत भारतीयों का एक वर्ग दूसरे वर्ग को संतुलित करता था। यह भारतीयों के बीच विभाजन का प्रयास था।
- भारतीय सैन्य व्यवस्था को क्षेत्र, धर्म, जाति आदि के आधार पर व्यवस्थित किया गया और सैन्य व्यवस्था में कबीलाई एवं जातिगत सिद्धांतों को अपनाया गया।
- कई रेजीमेंट में कम्पनियों को जाति और समुदाय के आधार पर स्थापित किया गया।
- भारतीय सेना के मिश्रित स्वरूप को स्थापित करने का प्रयास किया गया ताकि साम्राज्यवाद विरोधी खतरे को टाला जा सके और सेना के भारतीय अंग के विभिन्न हिस्से एक-दूसरे को प्रति संतुलित करते रहें।
- कम्पनी की यूरोपियन सेना का विलय सम्राट की सेना में कर दिया गया।

प्रशासनिक नीति

- 1858 में एक नया अधिनियम लाया गया और इस अधिनियम के द्वारा संपूर्ण प्रशासनिक व्यवस्था को परिवर्तित कर दिया गया।

DISCOVERY

- ईस्ट इंडिया कम्पनी के नियंत्रण को समाप्त किया गया। इस नियंत्रण को ब्रिटिश राजतंत्र को हस्तांतरित किया गया।
- बोर्ड ऑफ कंट्रोल नियंत्रण की सर्वोच्च निकाय थी, उसको समाप्त कर दिया गया।
- एक नये पद भारत मंत्री का सृजन किया गया, जो कि सेक्रेटरी ऑफ स्टेट कहलाता था।
- एक नये परिषद् की स्थापना की गयी। यह 15 सदस्यीय परिषद् थी (भारत परिषद्) इसका कार्य था भारत मंत्री को उसके कार्यों में सहायता प्रदान करना।
- भारत मंत्री ब्रिटिश संसद का एवं साथ में ब्रिटिश मंत्रीमंडल का एक सदस्य था और अपने कार्यों के लिए संसद के प्रति उत्तरदायी था। वास्तविक शासन व्यवस्था पर नियंत्रण ईस्ट इंडिया कम्पनी से ब्रिटिश संसद को हस्तांतरित किया गया।
- इस अधिनियम के द्वारा प्रशासनिक व्यवस्था में एक मौलिक परिवर्तन लाया गया और इस परिवर्तन को मजबूत आधार दिया गया बाद के अधिनियमों के द्वारा।
- 1861 के अधिनियम के द्वारा वायसराय के कार्यक्षेत्र का विस्तार किया गया और से विधायी शक्तियाँ दी गयी।

प्रमुख विचार

1. एक पूर्णतया देशभक्ति रहित और स्वार्थी सैनिक विद्रोह था जिसमें न कोई स्थानीय नेतृत्व ही था और न ही इसे सर्वसाधारण का समर्थन प्राप्त था। - सीले
2. यह विद्रोह एक आकस्मिक प्रेरणा नहीं था अपितु एक सचेत संयोग का परिणाम था और वह एक सुनियोजित और सुसंगठित प्रयत्नों का परिणाम था जो अवसर की प्रतीक्षा में थे...साम्राज्य का उत्थान और पतन में चर्बी वाले कारतूसों के मामले नहीं होते। - डिजरेली
3. यह तथाकथित प्रथम राष्ट्रीय स्वतन्त्रता संग्राम, न तो यह प्रथम, न ही राष्ट्रीय तथा न ही स्वतन्त्रता संग्राम था। - आर० सी० मजूमदार
4. एक तानाशाही शक्ति को अन्त में तलवार की शक्ति से ही राज करना पड़ता है, चाहे वह उसे मखमल की म्यान में ही रखे। - एस एन सेन

मॉडल उत्तर

प्रश्न : अंग्रेजी भारतीय सरकार की 1858-1905 के मध्य नीतियों का उद्देश्य जनता के अन्य विद्रोह को रोकना था। व्याख्या कीजिए। (1996) (250 शब्दों में)

उत्तर : अंग्रेजों द्वारा अपने साम्राज्य को बनाए रखने के प्रयत्नों के फलस्वरूप ऐसी आर्थिक एवं प्रशासनिक नीतियां अपनाई गई जिनके परिणामस्वरूप भारत का पारंपरिक आर्थिक एवं सामाजिक 1857 का विद्रोह ढाँचा तहस-नहस हो गया और जनता ने असंतुष्ट होकर 1857 की क्रान्ति का मार्ग अपनाया। यद्यपि ब्रिटिश सरकार द्वारा इस विद्रोह को कुचल दिया गया। लेकिन ब्रिटिश सरकार को यह अहसास हुआ कि यदि उन्हें भारत पर शासन करना है तो ऐसी नीतियां अपनानी होंगी जो भविष्य में ऐसे आन्दोलन को जन्म न दे सकें। ब्रिटिश सरकार द्वारा आगे की नीतियां इसी रणनीति के तहत बनाई गई।

इस विद्रोह के बाद अंग्रेजों द्वारा सामाजिक नीति में सक्रियता के दृष्टिकोण को अपनाया गया। उन्होंने भारतीय परंपराओं एवं पूर्वाग्रहों का सम्मान करना शुरू कर दिया तथा शांति बनाए रखने का उद्देश्य अपना लिया। इनके द्वारा ईसाई धर्म से संबंधित स्कूलों को भी सहायता देना बन्द कर दिया गया। समाज सुधार संबंधी कानूनों को हाथ में न लेना, देशी राजाओं को बनाए रखना, विधान परिषद् में सुधार करना, तालुकदारों को बनाए रखना, ये सब इसी नीति के परिणाम थे। भारतीयों की इच्छाओं को जानने के लिए विधान परिषद् में तीन भारतीयों को शामिल किया गया। इस विद्रोह के बाद ब्रिटिश सरकार ने देशी रियासतों को अपने साम्राज्य में मिलाने की नीति

का परित्याग कर दिया। उन्हें इसका अहसास हो गया था निरन्तर साम्राज्य विस्तार की नीति उनके लिए खतरा पैदा कर सकती है। अंग्रेजों ने देशी रियासतों के साथ मित्रतापूर्ण संबंध स्थापित किए ताकि जनता से उत्पन्न होने वाले खतरों से बचा जा सके। अंग्रेजों ने भारत की पारंपरिक संस्थाओं तथा उच्च वर्गों को बनाए रखने की नीति अपनाई। इसी के साथ-साथ जमीदारों को भी बनाए रखने की नीति का पालन किया गया। इस स्वामीभक्त वर्ग की स्थापना के दीर्घकालीन परिणाम अंग्रेजों के लिए लाभदायक रहे। जब राष्ट्रीय आन्दोलन शुरू हुआ, तो इस वर्ग ने ही मुख्यत: अंग्रेजों का साथ दिया। विद्रोह को रोकने की नीति का ही परिणाम था कि लिटन ने प्रतिक्रियावादी शासन को अपनाया परंतु जब इसका विरोध किया गया तो रिपन जैसे उदारवादी शासक को भेज दिया गया।

प्रश्न : "जिसकी शुरूआत धर्म के लिए लड़ाई के रूप में हुई उसका अन्त स्वतन्त्रता संग्राम के लिए हुआ, क्योंकि इस बात में तनिक भी संदेह नहीं है कि विद्रोही सरकार से छुटकारा पाने और पूर्व व्यवस्था को पुन: स्थापित करने के इच्छुक थे जिसका सही प्रतिनिधि दिल्ली नरेश था? क्या आप इस दृष्टिकोण का समर्थन करते हैं? (1999) (150 शब्दों में)

उत्तर : 1857 के विद्रोह का आरंभ तात्कालिक धार्मिक कारणों से हुआ। इन कारणों में गाय व सूअर की चर्बीयुक्त कारतूस का सेना में प्रयोग किया जाना, भारतीयों को धर्म परिवर्तन के लिए मजबूर करना आदि थे। 1857 का विद्रोह भारतीयों का ब्रिटिश विरोधी देशभक्तिपूर्ण परंतु असंगठित स्वतंत्रता का प्रयास था। यह विद्रोह स्वतंत्रता संग्राम के रूप में सामने आया क्योंकि इस संग्राम में हिन्दू-मुसलमानों ने कंधे-से-कंधा मिलाकर समान रूप से भाग लिया व इन्हें जनसाधारण का सहयोग व समर्थन प्राप्त था। इस विद्रोह में जन-भावना नि:संदेह अंग्रेजों के विरुद्ध थी। विद्रोहियों को संगठित करने वाला एकमात्र तत्व विदेशी शासन को समाप्त करने की भावना थी। सभी विद्रोहियों तथा जनता का एक ही लक्ष्य था-अंग्रेजों को भारत से निकालना। अत: इस बात में कोई सन्देह नहीं कि 1857 का विद्रोह विदेशी शासन को समाप्त करने के लिए हुआ था। इसी के साथ-साथ उनका उद्देश्य पुरानी व्यवस्था को स्थापित करना था। जिसमें भारतीयों के धर्म की रक्षा की जा सके। ऐसे समय में परिस्थितियाँ अनुकूल नहीं थी। देश में इस आन्दोलन को फैलाने, इसे एक संगठन का रूप प्रदान करने तथा एक केन्द्रीय शक्ति के नेतृत्व की आवश्यकता थी, जिसे बहादुरशाह के नेतृत्व में प्राप्त करने का प्रयास किया गया।

प्रश्न: 1857 के विद्रोह के स्वरूप का वर्णन करते हुए इसकी असफलता के कारणों की चर्चा कीजिए। (150 शब्दों में)

उत्तर : 1857 का विद्रोह एक संगठित विद्रोह नहीं था क्योंकि इस विद्रोह में किसी संगठन और कार्यक्रम का अभाव दिखता है। नेताओं ने संगठन के अन्तर्गत नहीं बल्कि व्यक्तिगत असंतोष के अन्तर्गत विद्रोह में भाग लिया। यह एक जनसाधारण का विद्रोह नहीं था जनता के सभी वर्गों ने आंदोलन में भाग नहीं लिया था। सेना की सभी रेजीमेंटों ने विद्रोह में भाग नहीं लिया था, अत: यह एक सैनिक विद्रोह भी नहीं था। यह एक राष्ट्रीय चरित्र का विद्रोह नहीं था क्योंकि अवध एवं बिहार के क्षेत्र को छोड़कर अन्य सभी क्षेत्रों में विद्रोह मात्र नगरीय केन्द्र तक सीमित था और ग्रामीण क्षेत्र में विद्रोह नहीं हो रहे थे। यह एक स्वतंत्रता संग्राम भी नहीं था, क्योंकि इसके लिए राष्ट्र होने की भावना का अभाव था। इस तरह यह विद्रोह क्षेत्रीय स्वरूप लिए हुए था।

विद्रोह की असफलता के कारणों में श्रेष्ठ एवं देशव्यापी नेतृत्व का अभाव था। यह नेतृत्व अखिल भारतीय स्तर का नहीं था। भारतीय सैनिकों में अनुशासन का सर्वथा अभाव, सैनिक संगठन की कमी, आधुनिक शस्त्रों की कमी थी। अंग्रेजों के पास बेहतर संचार सुविधाएँ एवं यातायात के साधन मौजूद थे जिन्होंने विद्रोह को कुचलने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। भारतीय सेना के पास सूचना की कमी, सैनिकों के प्रशिक्षण का अभाव व बेहतर सैन्य सामग्री के अभाव, विद्रोह की असफलता के प्रमुख कारण थे।

प्रश्न : 1857 के उपरान्त भारत में कौन से प्रशासनिक परिवर्तन लागू किए गए? इन परिवर्तनों के क्या उद्देश्य थे? (2001) (250 शब्दों में)

उत्तर : 1857 के विद्रोह के पश्चात् बेहतर प्रशासन हेतु भारतीय परिषद् अधिनियम व महारानी विक्टोरिया की घोषणा के अन्तर्गत भारत में अनेक प्रशासनिक परिवर्तन किए गए। 1857 के भारतीय परिषद् अधिनियम के तहत इन परिवर्तनों में, भारत में ईस्ट इंडिया कंपनी के शासन की समाप्ति कर दी गई। सत्ता का हस्तान्तरण ब्रिटिश साम्राज्ञी को तथा सत्ता चलाने का कार्यभारत ब्रिटिश संसद को सौंप दिया गया। कंपनी की सेना ब्रिटिश सम्राज्ञी के अधीन हो गई व गवर्नर-जनरल वायसराय के नाम से जाना जाने लगा। बोर्ड ऑफ कन्ट्रोल और कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स नामक संस्थाओं को समाप्त कर दिया गया और उनकी शक्तियाँ सेक्रेटरी ऑफ स्टेट फॉर

इंडिया और उसकी सभा को सौंप दी। इंडिया कौंसिल को गवर्नरों तथा वायसराय की परिषदों के सदस्यों की नियुक्ति का अधिकार सौंपा गया। तथा यह भी निर्णित किया गया कि प्रत्येक वर्ष भारत मंत्री को एक रिपोर्ट भारत में राजस्व, रेलवे, कानून निर्माण आदि के बारे में कॉमन सदन के समक्ष प्रस्तुत करनी होगी। इस तरह भारतीय प्रशासनिक व्यवस्था में मौलिक परिवर्तन लाए गए। ब्रिटिश सरकार के इन परिवर्तनों के पीछे अनेक उद्देश्य दृष्टिगोचर होते हैं।

इन उद्देश्यों में प्रथम भारतीय जनता को यह बताना कि अब उन पर इंग्लैण्ड का सीधा शासन प्रारंभ हो गया है। इंग्लैण्ड की सरकार अपने शासन सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण करना चाहती थी इसके अन्तर्गत भारतीय जनता को कुछ आश्वासन भी दिए गए, जिनका उद्देश्य भारतीय जनता के प्रति सद्भावना, सहिष्णुता और समानता के भाव प्रकट करना था। इसके पीछे ब्रिटिश शासन का मूल उद्देश्य भारतीयों के मन में ब्रिटिश शासन के प्रति लगाव पैदा करना था, जिसके कारण भारतीयों का अत्यधिक शोषण किया जा सके व उन्हें इस बात का पता भी न चलने पाए।

प्रश्न: महारानी विक्टोरिया की घोषणा क्या थी तथा इस घोषणा के पीछे क्या उद्देश्य थे? चर्चा कीजिए। (150 शब्दों में)

उत्तर : विक्टोरिया घोषणा-पत्र का उद्देश्य भारतीय राजाओं व जनता को यह बताना कि भारत की सत्ता महारानी के हाथों में चली गई है। इस घोषणा के पश्चात् देशी रियासतों को सत्ता का दर्जा दिया गया। इससे स्वत: ब्रिटिश सरकार परमसत्ता के स्तर पर आ गई। इस घोषणा के तहत भारतीय राजाओं को उनके सीमा क्षेत्रों को ब्रिटिश साम्राज्य में न मिलाने का आश्वासन दिया गया। साथ उनकी सेनाओं को सीमित कर दिया गया तथा उन्हें विदेशी शक्तियों से संबंध रखने की मनाही कर दी। भारतीयों के धार्मिक विचारों, विश्वासों, पूजा के तौर-तरीकों व रीति रिवाजों के प्रति सम्मान व संरक्षण का आश्वासन दिया गया। कंपनी द्वारा की गई संधियों व समझौतों का पालन किया जाएगा तथा जहां तक संभव होगा, भारतीयों को योग्यता और ईमानदारी के आधार पर सरकारी पदों पर नियुक्त किया जाएगा। यह भी घोषणा की गई कि जिन लोगों ने ब्रिटिश नागरिकों की हत्या नहीं की उन्हें क्षमादान दे दिया जाएगा। महारानी विक्टोरिया की इस घोषणा के पीछे कई उद्देश्य थे, जिनमें इंग्लैंड की सीधा शासन भारत पर प्रारंभ हो गया है यह बात भारतीय जनता को बताना। इस घोषणा के माध्यम से इंग्लैंड की सरकार भारत में अपने शासन के सिद्धांतों का स्पष्टीकरण करना चाहती थी। जिनका उद्देश्य ब्रिटिश शासन के प्रति भारतीय जनता में सद्भावना, सहिष्णुता व समानता के भाव प्रकट करना था।

DISCOVERY

5. आदिवासी विद्रोह

भूमिका

भारत में ब्रिटिश राज्य की स्थापना भारतीय समाज एवं अर्थव्यवस्था के औपनिवेशीकरण और धीरे-धीरे उसे दबाए रखने की लंबी प्रक्रिया का नतीजा थी। इस प्रक्रिया ने हरेक स्तर पर भारतीय समाज में क्षोभ और असंतोष को जन्म दिया। आदिवासी विद्रोह इसी असंतोष का प्रस्फुटन था। 19वीं शताब्दी में आदिवासियों के कई महत्त्वपूर्ण विद्रोह हुए, इनमें चुआर और हो विद्रोह, कोल विद्रोह, संथाल विद्रोह, रंपा विद्रोह, मुंडा विद्रोह, भील विद्रोह और रामोसी विद्रोह महत्त्वपूर्ण हैं। आदिवासियों ने विद्रोह के दौरान असीम शौर्य, बलिदान और साहस का परिचय दिया। इसे दबाने के लिए अंग्रेजों को काफी क्रूरतापूर्ण कार्रवाई करनी पड़ी।

आदिवासी विद्रोह के कारण

अंग्रेजी शासन ने जब आदिवासी क्षेत्रों में प्रवेश किया तो उनके बीच का असंतोष काफी बढ़ा। यह असंतोष इसलिए भी स्वाभाविक था कि अंग्रेजी शासन के इस क्षेत्र में पदार्पण से आदिवासियों के जीवन में हस्तक्षेप बढ़ा। आदिवासी आमतौर पर अलग-थलग रहते थे, उनमें स्वतंत्रता की एक खास प्रवृत्ति थी। इस प्रवृत्ति के कारण वे किसी प्रकार के हस्तक्षेप को स्वीकार नहीं कर पाते थे। अंग्रेजों ने आदिवासी क्षेत्रों को ब्रिटिश घेरे में लेने का प्रयास किया। उन्होंने आदिवासी सरदारों को जमींदार का दर्जा दिया और लगान की नई प्रणाली कायम की। आदिवासियों द्वारा उत्पादित अन्य वस्तुओं पर नए कर भी लगाए गए। इस प्रकार स्वछंद जीवन में आए हस्तक्षेप ने विद्रोह को अपरिहार्य बना दिया।

आदिवासी इलाके में बाहरी लोगों के प्रवेश से उनके समस्त आर्थिक और सामाजिक जीवन अस्त-व्यस्त हो गए। पहले वे स्वछंद रूप से झुम विधि से जंगल को काटकर खेती करते थे, अब उनके ये अधिकार समाप्त कर दिए गए। जंगली उत्पाद भी प्राप्त करने पर रोक लगा दिए गए। फलतः आदिवासी किसान मजदूर बनने को विवश हुए। महाजनों और अधिकारियों ने शोषण और अत्याचार को बढ़ावा दिया। बढ़ते हुए शोषण के खिलाफ विद्रोह आवश्यक था।

ईसाई मिशनरियों के इस क्षेत्र में घुसपैठ से भी आदिवासियों में असंतोष बढ़ा। आदिवासियों को यह लगने लगा कि ये मिशनरी ईसाई धर्म के माध्यम से उन्हें गुलाम बनाएंगे। यह विश्वास तब और बढ़ा जब इन धर्म प्रचारकों ने उनके धार्मिक विश्वास पर आघात करना शुरू कर दिया। ये सारे असंतोष ही विद्रोह के कारण थे।

विद्रोह का स्वरूप

आदिवासियों का संगठन वर्गीय आधार पर नहीं बल्कि जातीय आधार पर था। आदिवासी संथाल, कोल, मुंडा आदि के रूप में ही संगठित थे। उनकी एकजुटता काफी मजबूत थी और उनके बीच आपसी संघर्ष नहीं हुए। पर आदिवासी सभी बाहरी लोगों को अपना दुश्मन नहीं मानते थे और इस कारण उन पर हमला भी नहीं करते थे-ऐसे लोग थे ग्वाले, बढ़ई, कुम्हार, लुहार, धोबी, नाई आदि। कभी-कभी इन वर्गों ने भी आदिवासियों के आंदोलन में साथ दिया। अतः सीमित अर्थ में आंदोलन के वर्गीय चरित्र की बात की जा

सकती है।

आदिवासी आंदोलन का नेतृत्व कबीलाई था। उनके बीच कोई खास राजनीतिक समझ नहीं थी। आंदोलन के नेता जादुई ताकत में विश्वास करते थे। बिरसा, सिद्धो और कान्हो आदि इसी प्रकार के नेता थे।

आदिवासियों का आंदोलन मूलत: हिंसक था। ये अपने विरोधियों का कत्ल कर देते थे। 1857 के बाद जबकि महत्त्वपूर्ण आंदोलनों के स्वरूप में बदलाव आया, आदिवासी आंदोलन हिंसक ही बने रहे। यही कारण है कि सरकार ने उन्हें दबाने के लिए और अधिक हिंसा का प्रयोग किया।

आदिवासी आंदोलन किसी जागृत चेतना का परिणाम नहीं था। ये किसी नई विचारधारा की स्थापना के लिए भी संघर्ष नहीं कर रहे थे। इनका संघर्ष पुरानी व्यवस्था को बनाए रखने के लिए ही था। अत: आंदोलन की दृष्टि पश्च थी।

विद्रोह की असफलता के कारण

सबसे पहले तो संघर्ष की तकनीक में अंतर था। अंग्रेजी सेना आधुनिक सैन्य उपकरणों से सुसज्जित थी, जबकि आदिवासियों के पास परंपरागत हथियार भाले और तलवार थे। अत: यह संघर्ष दो गैर-बराबर पक्षों का था। विद्रोह के क्षेत्र सीमित होते थे, अत: अंग्रेजों के लिए उन्हें दबाना आसान था। ये विद्रोह सिर्फ इस कारण शांत नहीं हो गए कि अंग्रेजी सैन्य व्यवस्था उत्तम थी, बल्कि इन विद्रोहों के पश्चात् अंग्रेजों ने उनकी शिकायतों की तरफ ध्यान दिया एवं उचित विधि व्यवस्था की स्थापना की।

बिरसा मुंडा आंदोलन

1857 ई. के पश्चात् मुंडाओं ने सरदार आंदोलन चलाया लेकिन इससे मुंडा और अन्य आदिवासियों की स्थिति में बहुत अधिक परिवर्तन नहीं आया। शांतिपूर्ण उपायों से अपने उद्देश्यों की प्राप्ति में विफल होकर मुंडाओं ने उग्र रूख अपनाया। सरदार आंदोलन के विपरीत बिरसा आंदोलन उग्र और हिंसक था। यह विभिन्न उद्देश्यों की पूर्ति के लिए आरंभ किया गया था। इसलिए इसका स्वरूप भी मिश्रित था। यह एक ही साथ आर्थिक एवं राजनीतिक परिवर्तन तथा धार्मिक पुनरूत्थान चाहता था। इसका आर्थिक उद्देश्य था दिकू जमींदारों द्वारा हथियाए गए आदिवासियों की कर मुक्त भूमि की वापसी जिसके लिए आदिवासी लम्बे समय से संघर्ष कर रहे थे। मुंडा सरकार से न्याय पाने में विफल होकर अंग्रेजी राज को समाप्त करने एवं मुंडा राज की स्थापना का स्वप्न देखने लगे। वे सभी ब्रिटिश अधिकारियों और ईसाई मिशनरियों को अपने यहाँ से बाहर निकाल देना चाहते थे। आंदोलन का उद्देश्य मुंडाओं के लिए एक नए धर्म की स्थापना भी करना था। इस आंदोलन के नेता बिरसा मुंडा थे जिन्होंने धर्म का सहारा लेकर मुंडाओं को संगठित किया। उनके नेतृत्व में मुंडाओं ने 1899-1900 ई. में विद्रोह कर दिया।

1899 ई. में क्रिसमस के दिन मुंडाओं का व्यापक और हिंसक विद्रोह आरंभ हुआ। विद्रोह का प्रभाव समूचे छोटानागपुर में फैल गया। चिंतित होकर सरकार ने विद्रोह के दमन का निश्चय किया। सरकार को पुलिस और सेना की सहायता लेनी पड़ी। मुंडाओं ने छापामार युद्ध का सहारा लेकर पुलिस और सेना का सामना किया। फरवरी, 1900 ई. में बिरसा गिरफ्तार कर लिए गए। उन्हें राँची जेल में रखा गया। उनपर सरकार ने राजद्रोह का मुकद्दमा चलाया। मुकद्दमे के दौरान जेल में ही हैजा हो जाने से बिरसा की मृत्यु 9 जून, 1900 को हुई। बिरसा की गिरफ्तारी और मौत ने आंदोलनकारियों की कमर तोड़ दी। परिणामस्वरूप बिरसा मुंडा आंदोलन भी विफल हो गया। आदिवासियों को इस आंदोलन से तत्काल कोई लाभ तो नहीं हुआ परंतु सरकार को उनकी गंभीर स्थिति पर विचार करने को बाध्य होना पड़ा। आदिवासियों की जमीन का सर्वे करवाया गया। 1908 ई. में छोटानागपुर काश्तकारी कानून पारित हुआ। इससे मुंडाओं को जमीन-संबंधी अधिकार मिले एवं बेगारी से मुक्ति भी। इस रूप में यह आंदोलन सफल भी रहा।

मॉडल उत्तर

प्रश्न : ब्रिटिश भारत में, उन्नीसवीं शताब्दी में, प्रमुख जनजातीय विद्रोहों के स्वरूप पर चर्चा कीजिए। (2003) (150 शब्दों में)

उत्तर : भारत के विभिन्न भागों में बहुत बड़े क्षेत्रों में रहने वाले जनजातियों ने उन्नीसवीं सदी में कई लड़ाइयां लड़ी। अंग्रेजी औपनिवेशिक शासन, जागीरदारों, महाजनों, व्यापारियों इत्यादि के अत्याचरों व शोषण के विरुद्ध उन्होंने संगठित होकर संघर्ष किए। इन जनजातीय विद्रोहों का स्वरूप कहीं-कहीं आर्थिक था तो कहीं राजनीतिक और कहीं-कहीं ये विद्रोह धार्मिक स्वरूप भी लिए हुए थे। ये जनजातीय विद्रोह ब्रिटिश शासन से मुक्ति पाने, जमींदारों के शोषण की समाप्ति व स्वयं का राज्य स्थापित करने के उद्देश्य से भी चलाए गए थे। संथालों का विद्रोह जहां आर्थिक व राजनीतिक स्वरूप लिए हुए था वहीं बिरसा मुंडा विद्रोह आर्थिक व धार्मिक आधार पर था। ये विद्रोह प्राय: संगठित एवं सशस्त्र विद्रोह होते थे। सामान्यत: ये विदोह क्षेत्रीय स्वरूप लिए हुए थे लेकिन राष्ट्रीय स्तर पर इन विद्रोहों द्वारा जन-जागृति पैदा करने में अभूतपूर्व सहायता प्राप्त हो सकी। देखा जाए तो इन विद्रोहों में न केवल उस जनजाति के साधारण लोग ही शामिल थे बल्कि कहीं-कहीं तो इसमें उस जनजाति के सरदार व मुखिया ने भी भाग लिया क्योंकि वे भी अंग्रेजों की शोषणकारी नीतियों से बच नहीं सके। वस्तुत: जनजातियों के विद्रोहों में उनके जातीय हित ही बुनियादी कारण थे। कई विद्रोह ब्रिटिश सत्ता की समाप्ति हेतु थे। इस दृष्टि से इन जनजातीय आंदोलनों को अग्रदृष्टि का माना जा सकता है।

DISCOVERY

6. रजवाड़ों की जनता के आंदोलन

भूमिका

अंग्रेजों ने अपने बृहतर औपनिवेशिक हितों को ध्यान में रखते हुए और 1858 के उद्घोषणा के कारण भारत में रजवाड़ों को रहने दिया। कुल भारत भूमि के 44% भाग पर रजवाड़ों का अधिकार था। इसमें से कई रियासत यथा, मैसूर, कश्मीर, हैदराबाद आदि तो यूरोप के कई देशों से बड़े तथा कई महज 1 हजार जनसंख्या वाले थे। इन सबकी एक खास बात यह थी कि ये सभी अंग्रेजी हुकूमत की संप्रभुता को मानती थी। इसके बदले में अंग्रेजी सरकार ने इन रजवाड़ों को किसी भी प्रकार के आंतरिक या बाहरी खतरे के विरुद्ध सुरक्षा की गारंटी दी थी।

रियासतों की स्थिति ब्रिटिश भारत से कहीं अधिक दीन हीन थी, वहाँ भूराजस्व अधिक था, मुख्य कानून लागू था, रोजगार के कोई खास अवसर नहीं थे, वसूली के 25-30% भाग महाराजाओं की ऐय्याशी पर खर्च होते थे, परंतु कुछ रियासतों में स्थिति अच्छी थी। इस विपन्न स्थिति के जिम्मेवार केवल रियासतों के शासक ही नहीं थे, बल्कि इसकी जिम्मेवार अंग्रेज सरकार भी उतनी ही थी क्योंकि वह राष्ट्रीय आंदोलन के विरुद्ध उनका प्रयोग करना चाहती थी। अगर वहाँ पर प्रगति होती तो लोग आगे बढ़कर राष्ट्रीय आंदोलन को अंगीकृत करते, फलतः उनकी स्थिति कमजोर होती।

रियासतों में स्वाधीनता आंदोलन का प्रवेश एवं प्रगति

ब्रिटिश भारत में फैले राष्ट्रीय आंदोलन का प्रसार रजवाड़ों में भी हुआ। इसकी पैठ 20वीं सदी के प्रारंभ में हुई, जब आतंकवादी-राष्ट्रवादियों ने भागकर वहाँ शरण ली। परंतु एक तरह से हम यह कह सकते हैं कि रियासतों की जनता स्वाधीनता आंदोलन में 1920-21 के असहयोग एवं खिलाफत आंदोलन के बाद सही ढंग से प्रवेश की। इस आंदोलन के फलस्वरूप विभिन्न रियासतों यथा, मैसूर, हैदराबाद, बड़ौदा, जामनगर, इंदौर, नवानगर, काठियावाड़ और दक्कन के रियासतों में 'State Peoples Conference' नामक संस्था का गठन हुआ। इस प्रक्रिया की पराकाष्ठा सन् 1927 ई. में हुई, जब 'All India State Peoples Conference' का आयोजन किया गया एवं इसमें विभिन्न रियासतों के 700 प्रतिनिधियों ने भाग लिया। इस आयोजन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई-बलवन्त राय मेहता, मणिलाल कोठारी एवं जी.आर. अभ्यंकर ने। इन्होंने देसी रियासती क्षेत्र में उत्तरदायी सरकार की स्थापना का जो आंदोलन चला रखा था, उसे ही प्रजा मण्डल आन्दोलन कहा जाता है।

जहाँ तक कांग्रेस का रियासतों के आंदोलन में हस्तक्षेप का प्रश्न है, यह 1920 के नागपुर अधिवेशन से संभव हो सका। जिसमें रियासत के शासकों को यह कहा गया कि वे अविलम्ब वहाँ पर उत्तरदायी सरकार का गठन करें साथ ही रियासतों की जनता को कांग्रेस संगठन में सदस्य बनने की अनुमति दे दी। परंतु इसके साथ ही यह भी कहा गया कि वे कांग्रेस के नाम पर रियासत में किसी प्रकार की राजनीतिक गतिविधियों का प्रारंभ नहीं कर सकते। ऐसा उन्होंने निम्न कारण से किया:

- ब्रिटिश भारत एवं रियासतों की स्थिति में अंतर था।

- रियासतों के मध्य भी स्थिति अलग-अलग थी।
- वहाँ की जनता दलित, पिछड़ी एवं अशिक्षित थी।
- कानूनी तौर पर रियासतें स्वाधीन थीं।

रियासत की जनता को कांग्रेस के नाम पर किसी प्रकार की कार्यवाही नहीं करने देने का उद्देश्य यह था कि वह स्वयं संघर्ष के लिये संगठित हो। 1927 में कांग्रेस ने 1920 वाली बात को ही दुहराया एवं 1929 के लाहौर अधिवेशन में नेहरू ने स्पष्ट कहा कि देसी रियासतें अब शेष भारत से अलग नहीं रह सकतीं एवं इन रियासतों के तकदीर का फैसला सिर्फ वहाँ की जनता ही कर सकती है। बाद के वर्षों में कांग्रेस ने राजाओं से रियासतों में मौलिक अधिकारों को बहाली की मांग की।

1935 के एक्ट का प्रभाव

1935 के एक्ट का रियासतों की जनता पर काफी गहरा प्रभाव पड़ा। इस एक्ट के अनुसार एक अखिल भारतीय संघ की स्थापना की व्यवस्था की गई, जिसमें रजवाड़ों को 38% तक सीट आवंटित किया गया। इसका प्रभाव यह पड़ा कि पहले तो रजवाड़ों की जनता को लगा कि वे भारत के अंग है, एवं दूसरा यह कि कांग्रेस एवं श।सस प्दकपं च्मवचसमे ब्वदमितमदबमश दोनों अंग्रेजों की इस चाल को भांप गए कि वे राष्ट्रीय ताकतों को तोड़ना चाहते हैं।

1937 के चुनाव का प्रभाव

1937 के चुनावों के पश्चात् कांग्रेस कई प्रांतों में सत्तासीन हुई, अब वह महज एक पार्टी नहीं थी, अपितु शासक वर्ग भी थी, जो अपने शासित प्रांतों के पड़ोसी रियासतों पर प्रभाव डाल सकती थी। इसके शासन में आने का प्रभाव भी पड़ा। रियासतें नवीन सुधारों से अनुप्राणित हो, संघर्ष के लिये कसमसा उठी। अनेक रियासतों में जहाँ कोई संगठन नही था, बड़ी संख्या में प्रजामंडलों का गठन हुआ। हैदराबाद, मैसूर, ट्रावणकोर, जयपुर, कश्मीर आदि रियासतों में जन संघर्ष बृहत पैमाने पर प्रारंभ हुआ। इन संघर्षों में नेतृत्व देने वाले कतिपय नाम थे-शेख अब्दुल्ला, यू.एन. ढेबर, जमनालाल बजाज आदि।

अब इन नये घटनाक्रमों से प्रभावित होकर कांग्रेस ने भी अपना रूख बदला। 1938 के हरिपुरा अधिवेशन में यह मानने वाली कांग्रेस कि रियासतों में किसी भी प्रकार का राजनीतिक आंदोलन कांग्रेस के नाम पर न हो, 1939 के त्रिपुरी अधिवेशन में इस बात को स्वीकार कर ली कि अब कांग्रेस के नाम पर भी रियासतों में आंदोलन हो सकते हैं। इस नीति में परिवर्तन के मुख्य कारण निम्न थे:

1. अब रियासत की जनता संघर्ष पर उतारू थी।
2. वह राजनीतिक रूप से जागरूक हो चुकी थी।
3. सोशलिस्टों एवं वामपंथियों का भी दबाव था।
4. अब रियासतों एवं ब्रिटिश भारत के मध्य के सारे अवरोध टूट चुके थे। गांधीजी के अनुसार अब कांग्रेस भी काफी सशक्त हो चुकी थी। ब्रिटिश शासन से अब डरने की बात नहीं थी।

1939 में ही लुधियाना के ऑल इंडिया पीपुल्स कांग्रेस में जवाहर लाल को अध्यक्ष चुना गया एवं ब्रिटिश भारत और देसी रियासतों में छिड़े आंदोलन अब खुले रूप में एक दूसरे से जुड़ गए।

1942 के भारत छोड़ो आंदोलन का प्रभाव

सन् 1942 के भारत छोड़ो आंदोलन का प्रभाव देशव्यापी था। गांधीजी ने कहा था कि यह आंदोलन सिर्फ ब्रिटिश भारत का नहीं, बल्कि संपूर्ण भारत का आंदोलन है एवं सारे भारतवासी इसमें शरीक होंगे। फलतः रियासतों ने भी इस आंदोलन में अपना तीव्र तेवर दिखाया।

जब द्वितीय विश्व युद्ध एवं भारत छोड़ो आंदोलन के पश्चात् सता हस्तांतरण की बात होने लगी तो विभिन्न रियासतों के भारत में विलय पर जोरदार संघर्ष प्रारंभ हुआ। भारत में विलय हेतु देशी रियासतों में जो आन्दोलन चलाया गया उसे 'ज्वाइन इंडिया आन्दोलन'

कहा गया। इधर अंग्रेजों ने अपना पेंच लगा दिया एवं रियासतों को स्वाधीन रहने का अधिकार दे दिया गया, फलतः समस्या विकट हो गई।

स्वतंत्रता के पश्चात् कई रियासतों के राजाओं ने अपनी तथा जनता की इच्छा के अनुसार भारत में विलय के पत्र पर हस्ताक्षर कर दिये, परंतु कुछ रियासतों ने स्वाधीन रहने की इच्छा प्रकट की, जैसे - हैदराबाद, ट्रावणकोर, जूनागढ़, कश्मीर आदि। धीरे-धीरे सभी रियासतें भारत में मिल गईं। केवल हैदराबाद ने मिलने की इच्छा प्रकट नहीं की। 13 सितंबर, 1948 ई. को भारतीय सेना वहाँ प्रवेश कर गई और उसे भारतीय संघ में शामिल कर लिया गया। भारतीय सेना का हैदराबाद रियासत की जनता ने जबरदस्त स्वागत किया।

प्रमुख विचार

1. हमारा उद्देश्य अंग्रेज शक्ति को सर्वश्रेष्ठ बनाना है, यदि बाह्य रूप से नहीं तो वास्तविक रूप से निश्चय ही। हमें शेष रियासतों को अपने अधीन करना है, यदि नाम मात्र नहीं तो वस्तुतः अवश्य। **- हेस्टिंग्स**
2. जहाँ-जहाँ सहायक सन्धि प्रणाली लागू की गई है वहां शीघ्र इसका परिणाम उजड़े हुए गाँव और घटी हुई जनसंख्या के रूप में देखने को मिलेगा। **- मुनरो**
3. जिस दिन से वे कम्पनी द्वारा रक्षित हो गए अथवा उसके सहायक बन गए उसी दिन से उनका अस्तित्व समाप्त हो गया। **- कार्ल मार्क्स**
4. यदि हम बहुत सी स्थानीय रियासतों को राजनीतिक शक्ति रहित स्थिति में राजकीय साधनों के रूप में रख सकें तो हम भारत में उस समय तक बने रह सकते हैं जब तक कि हमारी नौ शक्ति की सर्वश्रेष्ठता बनी रहेगी। **- सर जान मेल्कम**
5. स्थानीय रियासतों के शासक अपने अंग्रेजी मित्रों के प्रति पूर्णतया राजभक्त हैं। ये अधीनस्थ राज्य, समस्त भारत के लिए एक रक्षात्मक दीवार के समान हैं। **- रशब्रुक विलियम्स**
6. जिस स्थिति में इन देशी रियासतों की सतही स्वतंत्रता बरकरार रहने दी गई, वह शाश्वत ह्रास की स्थिति है और ऐसी स्थिति में प्रगति कदापि संभव नहीं। अपेक्षाकृत अधिक प्रभुताशील सत्ता की मौन सहमति पर जीने वाली प्रत्येक व्यवस्था की तरह यहां भी जैविक दुर्बलता जीवन का अटूट नियम है।, **- मार्क्स**
7. राजाओं को अपनी प्रजा के अच्छे 'न्यासी' होने के लिए मनाया जा सकता है। **- गाँधी**
8. कांग्रेस रजवाड़ों की दुश्मन नहीं है, बल्कि वह तो चाहती है कि रजवाड़े और उनकी प्रजा उसके अंतर्गत समृद्धि, संतोष और सुख पाएँ। **- पटेल**

मॉडल उत्तर

प्रश्न : भारत के स्वतंत्रता पूर्व के दशक में देशी रियासतों के प्रजामंडल आंदोलनों का क्या महत्त्व था? (1998) (150 शब्दों में)

उत्तर : ब्रिटिश भारत में भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन का प्रसार और लोकतंत्र, नागरिक अधिकारों तथा उत्तरदायी शासन प्रणाली के प्रति बढ़ती राजनीतिक चेतना ने देशी रियासतों की जनता को भी प्रभावित किया। सर्वप्रथम, बड़ौदा की देशी रियासत में 1920 ई. में 'स्टेट पीपुल कांफ्रेस' का गठन किया गया। इसके पश्चात् सभी बड़ी देशी रियासतों में ऐसे संगठन की स्थापना हुई। यही संगठन प्रजामंडल आंदोलन के नाम से प्रचलित हुआ। धीरे-धीरे इन रियासतों में राजनीतिक चेतना मुखर हुई। रियासतों में व रियासतों के बाहर कई बा राजनीतिक सम्मेलनों का आयोजन किया गया। इन सम्मेलनों ने रियासतों में उत्तरदायी सरकार की स्थापना तथा जनता के राजनीतिक अधिकारों की प्राप्ति और बेगार प्रथा, मनमानी लगान वसूली आदि मुद्दों पर रियासत की जनता में राजनीतिक चेतना को आगे बढ़ा तथा अब प्रजामंडल आंदोलन राष्ट्रीय आंदोलन से संबद्ध होने लगा। रियासतों में यह आंदोलन अब सफल होने लगा। इसकी सफलता

भारतीय जनमानस में आंदोलन के महत्त्व को स्थापित किया तथा सम्पूर्ण भारत को राष्ट्रीयता के एक सूत्र में बांधने में, जन आंदोलन के महत्त्व को समझाने में और उद्योग, शिक्षा, संस्कृति, साहित्य तथा फैशन के क्षेत्र में भी स्वदेशी की भावना ने कांग्रेस पर नरम दल के प्रभाव को कम करने में तथा आगे बढ़ने वाली क्रांतिकारी विचार धारा के विकास में भी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की।

प्रश्न : बटलर समिति की रिपोर्ट क्या थी? इस रिपोर्ट पर भारत में क्या प्रतिक्रिया हुई? (2002) 250 शब्दों में)

उत्तर : मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड की सिफारिशों के आधार पर 8 फरवरी, 1921 का नरेन्द्र मंडल का गठन एक परामर्शदात्री संस्था के रूप में हुआ। नरेन्द्र मंडल की स्थापना से यह सिद्ध हो गया कि नरेशों के विलग रहने के दिन अब समाप्त हो गए हैं। अनेक नरेश उस स्वतंत्रता का पूरा लाभ उठाने लगे जो उन्हें अंहस्तक्षेप की नीति से मिली थी। वे अपने आंतरिक मामलों में पूर्णतया: स्वतंत्र रहकर कार्य करना चाहते थे। वे ऐसी स्थिति से कभी संतुष्ट नहीं हो सकते थे जिसमें सर्वोच्चता अस्पष्ट और अपरिभाषित रहे एवं सर्वोच्च सत्ता अनेक मामलों में अपने विवेकानुसार हस्तक्षेप करती रहे।

1927 में ब्रिटिश सरकार व भारतीय राज्यों के बीच संबंधों का निर्धारण करने के लिए 'बटलर समिति' का गठन हुआ। समिति ने अपनी सिफारिशों में स्पष्ट किया कि सर्वश्रेष्ठता सर्वश्रेष्ठ रहनी चाहिए, बदलती हुई परिस्थितियों के अनुसार इसे अपना कर्तव्य निभाना चाहिए। देशी राज्यों की परिषद् बनाने की योजना को रद्द करने की भी सिफारिश समिति ने की। समिति द्वारा किसी राज्य के प्रशासन में हस्तक्षेप का अधिकार वायसराय के पास सुरक्षित रखने की बात कही गई। देशी रियासतों और ब्रिटिश भारत में होने वाले मतभेदों को सुलझाने के लिए समितियाँ गठित करने की सिफारिश भी समिति ने की। समिति ने कहा कि देशी नरेशों की सहमति के बिना ब्रिटिश सरकार और देशी राज्यों के संबंध किसी ऐसी भारतीय सरकार को हस्तान्तरित नहीं किए जाएं जो व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी हो। सर्वोच्चता की इस तरह से की गई व्याख्या से नरेशों को गहरी ठेस पहुंची। नरेशों ने ऐसी सर्वोच्चता की सख्ती से बचने के लिए एक अखिल भारतीय संघ बनाए जाने का प्रस्ताव रखा।

DISCOVERY

7. किसानों के आंदोलन एवं विद्रोह

भूमिका

ब्रिटिश सरकार की औपनिविशेक नीतियों के फलस्वरूप भारतीय अर्थव्यवस्था, प्रशासन एवं भूराजस्व प्रणाली में तेजी से परिवर्तन हुए और इन परिवर्तनों का सर्वाधिक असर कृषकों पर ही पड़ा। इन परिवर्तनों के फलस्वरूप भारतीय किसानों की हैसियत काश्तकार, बंटाईदार या खेतीहर मजदूर की हो गई। उनकी कृषकीय प्रवृति और स्वभाव निरन्तर कृषि से विमुख होता गया और भूमि छोटे-छोटे अलाभकारी जोतों में विभक्त हो गई। दस्तकारी उद्योगों के तबाह हो जाने से उद्योगों में लगे लोग भी कृषि करने को लाचार हुए और कृषि योग्य जमीन पर दबाव बढ़ा। उच्च भूराजस्व की अदायगी के कारण कृषक महाजनों के चंगुल में फंसते जा रहे थे और उनके जमीन का स्थानान्तरण साहूकारों एवं सरकार की ओर हो रहा था। लगातार पड़नेवाले अकालों ने स्थिति को और भी विस्फोटक बना दिया। स्पष्टत: अनुपस्थित भूस्वामित्व, परजीवी बिचौलिए, लोभी साहूकार-इन सबने मिलकर कृषकों को अधिकाधिक निर्धन बना दिया। इन कारणों ने अन्य सामाजिक कुरीतियों के साथ मिलकर भारतीय कृषकों में व्यापक रूप से अस्थिरता, अशान्ति एवं विक्षुब्धता उत्पन्न की और इस बहुआयामी शोषण से मुक्ति पाने के लिए किसानों ने भारी लगान वसूलने वाले जमींदारों, निर्दयी साहूकारों और जुल्म का पक्ष लेने वाले सरकारी अधिकारियों के विरुद्ध अपना आक्रोश व्यक्त किया। कई बार उन्होंने स्थानीय स्तर पर सामूहिक संघर्ष किए तो कई बार छोटे-छोटे विद्रोह हुए। एक अनुमान के अनुसार समस्त ब्रिटिश शासन की अवधि में 77 कृषक विद्रोह हुए।

औपनिवेशिक शासन के पूर्व भी भारत में कृषक विद्रोह हुए थे। सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी के दौरान, शासक वर्ग के खिलाफ अनेक किसान विद्रोह हुए। राज्य द्वारा अधिक भूराजस्व का निर्धारण, राजस्व वसूल करने वाले अधिकारियों का भ्रष्ट आचरण और कड़ा व्यवहार, शासकों की धार्मिक नीति आदि कुछ कारणों का कृषकों पर ऐसा विनाशकारी असर नहीं पड़ा था। जबकि भारत में औपनिवेशिक शासन कायम होने के बाद जो शोषणकारी नीतियाँ अपनाई गई उनका भारतीय किसान एवं आदिवासियों पर काफी विनाशकारी प्रभाव पड़ा। इस काल में भारतीय अर्थव्यवस्था में निम्नलिखित परिवर्तन हुए:

- अंग्रेजी भूराजस्व बन्दोबस्त, नए करों का बढ़ता बोझ, किसानों को उनकी जमीन से बेदखल किया जाना, आदिवासी भूमि पर कब्जा।
- राजस्व वसूलने वाले बिचौलिए, बिचौलिए काश्तकार और महाजनों के उदय से ग्रामीण समाज का शोषण तेजी से बढ़ना और मजबूत होना।
- भारतीय बाजारों में ब्रिटेन के बने माल के आ जाने से भारतीय हथकरघा और हस्तशिल्प उद्योग का विनाश और फलस्वरूप कृषि पर बढ़ता हुआ दबाव।
- भारत से इंग्लैंड की ओर धन की निकासी।

स्पष्टत: इन प्रशासनिक और आर्थिक परिवर्तनों व औपनिवेशिक शासन के शोषण से तंग आकर अपनी रक्षा हेतु किसानों ने विद्रोह का सहारा लिया। एक बात ध्यान देने योग्य है कि औपनिवेशिक शासन के अन्तर्गत जो कृषक विद्रोह हुए, उनकी प्रकृति भिन्न-भिन्न

थी। ब्रिटिश शासन काल में कृषकों के विद्रोहों को तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है-

- असैनिक अथवा पुनर्स्थापन विद्रोह के रूप में;
- धार्मिक विद्रोह के रूप में और;
- विशुद्ध रूप से कृषक आंदोलन के रूप में।

पुनर्स्थापन स्वरूप के कृषक विद्रोहों का मूल उद्देश्य अंग्रेजों का निष्कासन तथा पुरानी सरकार और कृषक सम्बन्धों को पुन:स्थापित करना होता था। ये विद्रोह अधिक भूराजस्व आरोपण के विरुद्ध अथवा प्रतिशोधात्मक प्रयास के रूप में अंग्रेजों को निष्कासित करने के उद्देश्य से हुए थे ताकि पुरानी व्यवस्था स्थापित की जा सके। सन् 1765 से सन् 1857 की अवधि के मध्य इन विद्रोहों का नेतृत्व हिन्दू अथवा मुसलमान, छोटे शासकों अथवा राजाओं अथवा नवाबों अथवा आदिवासी सरदारों ने किया था, जिनका कृषक समुदाय और कुछ स्थानों पर सैनिकों ने पूर्ण समर्थन किया था। सबसे महत्त्वपूर्ण पुनर्स्थापन विद्रोह सन् 1857 का विद्रोह था जिसमें कृषकों व स्थानीय सैनिकों ने जमींदारों व स्थानीय शासकों को पूर्ण समर्थन दिया था।

बहावी आंदोलन, बंगाल का फराजी आंदोलन और पंजाब के आंदोलन आदि धार्मिक स्वरूप के कृषक विद्रोह की कोटि में परिगणित किए जा सकते हैं। इन आंदोलनों का स्वरूप प्राय: धार्मिक मसीही होता था। इनका आरंभ धार्मिक और सामाजिक सुधार आंदोलनों के रूप में होता था जो शीघ्र ही बिना किसी धार्मिक भेदभाव के नये जमींदारों, भूस्वामियों, महाजनों पर आक्रमण करके, कृषक असंतोष को अभिव्यक्त कर देते थे। इनका सामूहिक स्वरूप होता था और वे कृषक वर्ग के पूर्ण रूपान्तर के आकांक्षी थे। उन्हें विश्वास था कि यह आकांक्षा अलौकिक अथवा दैविक साधनों से ही संभव होगी। सन् 1850 के उपरान्त होने वाले कृषक विद्रोह यथार्थ में विशुद्ध रूप से कृषक आंदोलन थे। इन विद्रोहों में कृषकों का बाहुल्य रहता था और कृषकों ने ही इनका नेतृत्व प्रदान किया। इन विद्रोहों का आरम्भ शान्तिपूर्ण सामूहिक बहिष्कार अथवा मूल सुधार की मांग से होता था किन्तु इन मांगों की उपेक्षा होते देख अंत में यह प्रतिहिंसा और प्रतिशोध की कार्यवाही में बदलकर उग्ररूप धारण कर लेता था। संथाल आदिवासियों के सन् 1855 और सन् 1870 के विद्रोह, सन् 1860 का बंगाल में नील कृषकों का विद्रोह, सन् 1875 का दक्षिण भारत के कृषकों का विद्रोह और सन् 1921 का मोपला विद्रोह प्रमुख सामूहिक विद्रोह हैं। इन विद्रोहों के माध्यम से कृषकों ने अपनी न्यायोचित मांगों के समर्थन में, स्थानीय जमींदारों और महाजनों, विदेशी बागान मालिकों एवं भारत स्थित ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध सशस्त्र संघर्ष किया। इन सामूहिक विद्रोहों की उल्लेखनीय उपलब्धियाँ भी रहीं।

बीसवीं शताब्दी के कृषक विद्रोह, पिछली शताब्दी के विद्रोहों से अधिक व्यापक, प्रभावी, संगठित व सफल थे। इस परिवर्तन के सूत्र, कृषक आंदोलन एवं भारतीय राष्ट्रीय स्वाधीनता संघर्ष के अन्योन्याश्रय संबंधों में थे। राष्ट्रीय आंदोलन ने अपना संघर्ष तीव्र करने के लिये सामाजिक आधार बढ़ाने की कोशिश के क्रम में किसानों से नजदीकियां स्थापित कीं और दूसरी ओर किसानों ने राष्ट्रीय आंदोलन से जुड़ने के लाभों को देखकर तन-मन-धन से उसे समर्थन देना प्रारंभ किया।

किसान सभा का गठन

1857 के विद्रोह के पश्चात् अवध के तालुकेदारों को उनकी भूमि लौटा दी गयी। इससे प्रांतों में कृषि व्यवस्था पर तालुकेदारों या बड़े जमींदारों का नियंत्रण और बढ़ गया। कृषकों का एक बड़ा वर्ग इन तालुकेदारों के अत्याचारों से पीड़ित था, जिनमें-लगान की ऊंची दरें, भूमि से बेदखली, अवैध कर तथा नजराना इत्यादि सम्मिलित थे। प्रथम विश्व युद्ध के उपरांत अनाज तथा अन्य आवश्यक चीजों के दाम अत्यधिक बढ़ गए। इससे उत्तर प्रदेश के किसानों की दशा अत्यंत दयनीय हो गयी।

मुख्यतया होमरूल लीग की गतिविधियों के कारण उत्तर प्रदेश में किसान सभाओं का गठन किया गया। फरवरी, 1918 में गौरीशंकर मिश्र तथा इंद्रनारायण द्विवेदी ने उत्तर प्रदेश किसान सभा का गठन किया। इस कार्य में मदन मोहन मालवीय ने योगदान दिया। 1919 के मध्य तक इसकी लगभग 500 शाखाएं गठित की जा चुकी थीं। किसान सभाओं के गठन से सम्बद्ध प्रमुख नेताओं में झिंगुरी सिंह, दुर्गापाल सिंह एवं बाबा रामचंद्र का नाम भी सम्मिलित है। जून, 1920 में बाबा रामचंद्र ने जवाहर लाल नेहरू से इन गाँवों का दौरा करने का आग्रह किया। तत्पश्चात् नेहरू ने इस आग्रह को स्वीकार करते हुए इन गाँवों का दौरा किया तथा गाँववासियों से गहन

सम्पर्क स्थापित किया।

राष्ट्रवादी नेताओं में मतभेद के कारण अक्टूबर, 1920 में 'अवध किसान सभा' का गठन किया गया। अवध किसान सभा ने किसानों से बेदखल जमीन न जोतने और बेगार न करने की अपील की। सभा ने इन नियमों का पालन न करने वाले किसानों का सामाजिक बहिष्कार करने तथा अपने विवादों को पंचायत के माध्यम से हल करने का आग्रह किसानों से किया।

जनवरी, 1921 में कुछ क्षेत्रों में स्थानीय नेताओं की गलतफहमी एवं आक्रोश के कारण किसान आंदोलन ने हिंसक रूप अख्तियार कर लिया। इस दौरान किसानों ने बाजारों, घरों एवं अनाज की दुकानों पर धावा बोलकर उन्हें लूटा तथा पुलिस के साथ उनकी हिंसक झड़पें हुयीं। रायबरेली, फैजाबाद एवं सुल्तानपुर इन गतिविधियों के प्रमुख केंद्र थे।

धीरे-धीरे सरकारी दमन के कारण आंदोलन कमजोर पड़ने लगा। इसी बीच सरकार ने 'अवध मालगुजारी रेंट संशोधन अधिनियम' पारित कर दिया। इसने भी आंदोलन को कमजोर किया। मार्च, 1921 तक आंदोलन समाप्त हो गया।

1930-40 के दशक के किसान आंदोलन

1930 और 1940 के दशक में भारत में राष्ट्रीय आंदोलन के साथ-साथ किसान आंदोलनों की आवृत्ति भी बहुत बढ़ गयी। इस चरण के आंदोलनों को उत्प्रेरित करने वाले तात्कालिक घटनाक्रम थे-1929-30 की विश्वव्यापी आर्थिक मंदी का निर्धन कृषक वर्ग पर अत्यंत बुरा प्रभाव पड़ना तथा कांग्रेस द्वारा 'सविनय अवज्ञा आंदोलन' के साथ एक बार फिर व्यापक जनाधार का आंदोलन छेड़ना। इस आंदोलन ने देश के बहुत बड़े हिस्से में टैक्स और लगान न देने के अभियान का रूप लिया।

इस चरण के किसान आंदोलनों ने यद्यपि तात्कालिक तौर पर कुछ ज्यादा प्राप्त नहीं किया, तथापि उन्होंने एक ऐसा वातावरण तैयार किया, जिसके फलस्वरूप स्वतंत्रता के पश्चात् अनेक कृषि सुधार हुए। यथा जमींदारी उन्मूलन की जो मांग इस दौर में उठी वह स्वतंत्रता के पश्चात् कार्यान्वित हुयी। इसी प्रकार, ट्रावणकोर राज्य के भारत में विलय के लिये पुनप्रवायलार के आंदोलन ने ऐतिहासिक भूमिका निभायी।

इस चरण में किसानों की जो तात्कालिक मांगें थीं, उनमें-टैक्सों में कटौती, सामंतों की गैर-कानूनी वसूलियाँ और बेगार की समाप्ति, जमींदारों के अत्याचारों से मुक्ति, ऋण बोझ में कमी; गैरकानूनी तरीकों से ली गयी भूमि की वापसी तथा किसानों की सुरक्षा आदि प्रमुख थी। खेतिहर मजदूरों की मांगे आंध्रप्रदेश और गुजरात के अतिरिक्त अन्य प्रदेशों के किसान आंदोलनों में गौण ही रही। वास्तव में ये आंदोलन, कृषि ढांचे में आमूल परिवर्तन के लिये नहीं हुए बल्कि इनका उद्देश्य इस व्यवस्था के कुछ अत्यंत पीड़ादायक पहलुओं का अंत करना था।

कांग्रेसी सरकारों के अन्तर्गत किसान आंदोलन

1937-39 के बीच 28 महीनों का कांग्रेसी शासनकाल किसान आंदोलनों का उत्कर्ष काल था। एक, तो इस काल में आंदोलनों के लिये नागरिक स्वतंत्रता अधिक मिली दूसरे, कांग्रेसी सरकारों ने कृषि-कानूनों में सुधार के लिये कुछ ठोस कदम भी उठाये। द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान वामपंथियों की विपरीत धारा की राजनीति के कारण कृषक आंदोलन में कुछ ठहराव सा आ गया। परंतु 1945 के बाद पुन: कृषक आंदोलन होने लगे थे।

अखिल भारतीय किसान कांग्रेस सभा

अलग-अलग राज्यों में क्षेत्रीय आधार पर किसान सभाओं के गठन ने इस आवश्यकता को उभार दिया था कि अखिल भारतीय स्तर पर किसान कांग्रेस सभा का गठन किया जाए। इसी परिप्रेक्ष्य में इस सभा की स्थापना अप्रैल, 1936 में लखनऊ में की गयी। स्वामी सहजानंद सरस्वती इस सभा के अध्यक्ष तथा एन. जी. रंगा सचिव चुने गए। इस सभा ने किसान घोषणा-पत्र जारी किया तथा इंदुलाल याज्ञिक के निर्देशन में एक पत्र का प्रकाशन भी प्रारंभ किया। 1936 में अखिल भारतीय किसान सभा का सम्मेलन फैजपुर में आयोजित किया गया। 1937 के प्रांतीय चुनावों हेतु जारी किए गए कांग्रेसी घोषणा-पत्र के अनेक प्रावधान, अखिल भारतीय किसान सभा के एजेंडे से प्रभावित थे।

किसान आंदोलन की उपलब्धियाँ

- इन आंदोलनों ने स्वाधीनता के उपरांत किए गए विभिन्न-कृषि सुधारों के लिये एक अनुकूल वातावरण का निर्माण किया। उदाहरणार्थ -जमींदारी प्रथा का उन्मूलन।
- इन्होंने भूस्वामियों अर्थात् किसानों को उनके वास्तविक अधिकारों से अवगत कराया तथा कृषि व्यवस्था में परिवर्तन की प्रक्रिया प्रारंभ की।
- ये आंदोलन राष्ट्रवादी विचारधारा पर अवलंबित थे।
- लगभग सभी क्षेत्रों में इन किसान आंदोलनों की प्रकृति समान थी।
- इनसे किसानों में अपने अधिकारों के प्रति जागरुकता बढ़ी।

नील आंदोलन

1855-56 के संथाल विद्रोह के बाद किसानों ने अपने आर्थिक मांगों के लिए जो विद्रोह किया इसमें 1860 में हुआ बंगाल का नील आंदोलन प्रमुख था। नील उत्पादक कृषकों को ऐसी शर्तों पर नील उगाने के लिए बाध्य करते थे जो लाभप्रद नहीं था। आनाकानी करने वाले कृषकों के साथ अत्याचार करना भी आम बात थी। इन अत्याचारों के विरुद्ध कृषकों ने नील उत्पादन बंद कर दिया, उत्पादकों के बल प्रयोग का मुकाबला किया एवं अदालत भी गए। कृषकों के द्वारा आंदोलन में बंगाल के बुद्धिजीवियों एवं मिशनरियों ने भी सहयोग दिया। हिन्दू-मुस्लिम एकता भी देखने में आयी। पूर्ववर्ती विद्रोहों के प्रति कड़े रूख के दुखद अनुभव के कारण सरकार का रवैया संतुलित था। 1860 में सरकार ने नील आयोग गठित किया जिसकी अधिसूचना के कारण रैयत नील की खेती के लिए बाध्य नहीं किए जा सकते थे।

पबना आंदोलन

19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में बंगाल के पबना नामक स्थान पर भी किसानों ने जमींदारी शोषण के विरुद्ध विद्रोह किया। यह विद्रोह जितना अधिक जमींदारों के विरुद्ध था उतना सूदखोरों और महाजनों के विरुद्ध नहीं। 1870-80 के दशक में पूर्वी बंगाल (आधुनिक बांग्ला देश) के किसानों ने जमींदारों द्वारा बढ़ाए गए मनमाने करों के विरुद्ध अपना विद्रोह प्रकट किया। पबना आर्थिक दृष्टि से समृद्ध इलाका था। 1859 में अनेक किसानों को जमीन पर कुछ स्वामित्व दिए गए थे। उन्हें जमीन से बेदखल नहीं किया जा सकता था। लगान वृद्धि पर भी अंकुश लगाया गया था, इसके बावजूद जमींदार मनमाने ढंग से लगान बढ़ा देते थे। किसानों को अन्य तरीकों से भी शोषण किया जाता था। 1873 में पबना के किसानों ने अपना एक संघ कायम किया। इस संघ ने जमीदारों के शोषण के विरुद्ध किसानों को संगठित किया। किसानों की सभाएँ गाँव-गाँव में हुई। जमींदारों से मुकद्दमे लड़ने के लिए धन राशि इकट्ठी की गई। किसानों ने लगान देना कुछ समय के लिए बंद कर दिया। धीरे-धीरे पबना के किसानों की प्रेरणा से ढाका, मैमनसिंह, त्रिपुरा, फरीदपुर, राजशाही इलाकों में भी किसानों ने सामंतों का विरोध किया। बंगाल के जमींदारों ने किसानों का विरोध किया लेकिन शांति भंग नहीं हुई। किसान शांतिपूर्ण तरीके से अपने हितों की सुरक्षा की माँग कर रहे थे। उनका आंदोलन सरकार विरोधी भी नहीं था।

पबना आंदोलन को अप्रत्यक्ष रूप से सरकार का समर्थन प्राप्त हुआ क्योंकि यह सरकार विरोधी नहीं था। 1873 में बंगाल के लेफ्टिनेंट गवर्नर कैंपवेल ने किसान संगठनों को जाएज ठहराया। बंगाल के जमींदारों ने इस आंदोलन को सांप्रदायिक रंग देना चाहा। जमींदारों के समाचार-पत्र हिन्दू पेट्रियाट ने इसे हिंदू जमींदारों के विरुद्ध मुसलमान किसानों का आंदोलन माना लेकिन वस्तुस्थिति ऐसी नहीं थी। इस आंदोलन में हिंदू-मुसलमान समान रूप से सम्मिलित थे। आंदोलन के नेता भी दोनों वर्गों से आते थे, जैसे ईशान चन्द्र राय, शम्भु पाल एवं खुदी मल्लाह। इस आंदोलन के परिणामस्वरूप 1885 का बंगाल काश्तकारी कानून (बंगाल टिनेंनसी एक्ट) पारित हुआ जिसमें किसानों को कुछ राहत पहुँचाने की व्यवस्था की गई।

तेलंगाना आंदोलन

तेलंगाना विद्रोह 1946 ई. में हैदराबाद रियासत में प्रारम्भ हुआ। किसानों ने जमींदार तथा निजाम के अधिकारियों के खिलाफ आंदोलन किए। इस आंदोलन में किसानों को राहत दिलाने के लिए कई सभाओं का आयोजन किया गया। जिसमें साम्यवादियों का नेतृत्व था। तेलंगाना आंदोलन आधुनिक भारतीय इतिहास का सबसे बड़ा कृषक गुरिल्ला युद्ध था, जिसने तीन हजार गांवों को प्रभावित किया। हैदराबाद में 1948 ई. में भारतीय सेना के प्रवेश तक यह विद्रोह मुख्य रूप से निजामशाही के खिलाफ चलता रहा।

प्रमुख विचार

1. किसानों को केवल विदेशी शासन ही नहीं बल्कि जमींदारों और पूंजीपतियों के जुए से भी स्वयं को मुक्त कराना होगा।
- भगत सिंह

2. स्वस्थ और बुद्धिमत्तापूर्ण नीति के अनुसार कम्पनी का कर्तव्य है कि वह अधिक राजस्व को और प्रदेशों को प्राप्त करने का कोई भी अवसर जो समय-समय पर उसे मिले हाथ से न जाने दे। **- डलहौजी**

3. इंडियन नेशनल कांग्रेस ने 1905-19 की अवधि में किसानों को राहत देने की जरूरत पर उतना जोर नहीं दिया जितना भारतीय उद्योगपतियों की जरूरतों पर, जैसे वाणिज्यिक सुरक्षा के प्रश्न पर। **- एन जी रंगा**

4. बेहतर है कि हम सरकार का कर या जमींदार का भाड़ा न रोकें। स्मरण रहे कि जमींदारों को हमें अपना मित्र बनाना है।
- गांधी

5. धार्मिक पोशाकें दीर्घकाल से देश का शोषण करती रही हैं; अब वे किसानों के लाभ के लिए इन पोशाकों का इस्तेमाल करेंगे।
- सहजानंद सरस्वती

मॉडल उत्तर

प्रश्न : उन्नीसवीं सदी के किसान आंदोलनों के स्वरूप की समीक्षा प्रस्तुत कीजिए। (150 शब्दों में)

उत्तर : उन्नीसवीं सदी के किसान आन्दोलनों की सबसे बड़ी ताकत किसान ही थे। इन आन्दोलनों में किसानों ने अपनी मांगों के लिए सीधे लड़ना शुरू किया। इनकी ज्यादातर मांगे आर्थिक थीं, जो बागानों के विदेशी मालिकों, महाजन व जमींदारों के विरुद्ध थी। इस तरह उनके संघर्ष केवल सामाजिक उत्पीड़न के विरुद्ध ही प्रारंभ हुए थे। इन आंदोलनों का स्वरूप सीमित था। ये आंदोलन क्षेत्र विशेष तक ही सीमित रह गए क्योंकि उस समय संपर्क सुविधाओं का अभाव था। किसान परिवर्तन के लिए नहीं बल्कि यथास्थिति को बरकरार रखने के लिए लड़ते रहें। वास्तविकता में ये किसान आंदोलन पश्चदृष्टि रखते थे। इन्होंने कभी भी जमीन के मालिकाना हक के लिए संघर्ष नहीं किया। बल्कि इनका संघर्ष बेखदली एवं ज्यादा लगान वसूल करने के खिलाफ था। इन संघर्षों में न निरंतरता थी और न संगठनात्मक स्वरूप। जब किसी आंदोलन के विशेष उद्देश्य पूरे हो जाते थे तो वह समाप्त हो जाता था और इसके साथ ही संगठन और एकता भी खत्म हो जाती थी। इन आंदोलनों में किसान-एकता तथा हिन्दू-मुस्लिम एकता भी देखने को मिलती है। इनमें जाति व धर्म के सभी बंधनों को तोड़ दिया गया था। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि इन आंदोलनों से कोई राजनीतिक ताकत स्थापित नहीं हो सकी। लेकिन इनसे देश में राजनीतिक जागरुकता अवश्य पैदा हुई।

8. वामपंथ एवं ट्रेड यूनियन आंदोलन

वामपंथी आंदोलन

भारत में वामपंथी आंदोलन का उदय आधुनिक उद्योगों के विकास, दो विश्व युद्धों के मध्यकाल में भयंकर आर्थिक मन्दी तथा रूस में बोल्शेविक क्रान्ति के परिणामस्वरूप हुआ था। भारत के भीतर तथा बाहर कार्यरत कुछ भारतीय बुद्धिजीवियों ने भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना का निर्णय लिया। मानवेन्द्र नाथ राय ने रूस की यात्रा की तथा रूसी साम्यवादी पार्टी से सम्पर्क स्थापित किया। उन्होंने जुलाई-अगस्त, 1920 में मास्को में आयोजित हुए द्वितीय कम्युनिस्ट इंटरनेशनल में भी भाग लिया और उसके शीघ्र बाद ही उन्होंने अक्टूबर, 1920 में ताशकन्द में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना की। 1921 और 1925 के बीच में देश के अनेक भागों में विभिन्न औपचारिक साम्यवादी गुटों की स्थापना हुई तथा अंतत: दिसम्बर, 1925 में सत्यभक्त ने कानपुर में अखिल भारतीय साम्यवादी सम्मेलन का आयोजन किया। इस सम्मेलन का आयोजन ही 1925 भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की औपचारिक स्थापना माना जाता है।

यद्यपि 1920 के दशक में भी कृषक कार्यकर्ताओं और अन्य वामपंथी संगठनों का विकास हुआ। लाला लाजपतराय की अध्यक्षता में अक्टूबर, 1920 में बम्बई में अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस का भी पहला अधिवेशन हुआ। शीघ्र ही भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने भी वामपंथी प्रभाव महसूस किया गया। जवाहरलाल नेहरू तथा सुभाष चन्द्र बोस ने समाजवादी आदर्शों पर अधिक बल दिया। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने बढ़ते हुए समाजवादी प्रभाव के कारण आगे चलकर कांग्रेस 'वामपंथी' तथा 'दक्षिणपंथी' खेमों में विभाजित हो गयी। 1930 के दशक के प्रारंभ में बिहार संयुक्त प्रांत, बम्बई और पंजाब जैसे प्रातों में वामपंथी कांग्रेसियों द्वारा समाजवादी समूह गठित किए गए। क्रांतिकारी आतंकवाद के दूसरे चरण, जिसका 1922 और 1932 के बीच विकास हुआ था, में भी समाजवादी प्रवृतियां अत्यधिक प्रबल रहीं।

ट्रेड यूनियन आन्दोलन

भारत में ट्रेड यूनियन पहले से विद्यमान किसी सामाजिक संस्था की देन नहीं है। 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में आधुनिक उद्योगों की स्थापना के बाद ही भारत में प्रारंभिक श्रमिक चेतना की शुरूआत हुई। भारत में औद्योगिक विकास के साथ ही भारतीय श्रमिक वर्ग की स्थिति मजबूत होती गयी। आगे चलकर श्रमिक वर्ग आंदोलन ने अपने आपको राष्ट्रीय मुक्ति प्राप्त करने के लिए, राजनीतिक संघर्ष से जोड़ लिया। प्रारंभ में भारतीय श्रमिक वर्ग एवं सर्वहारा वर्ग को विभिन्न प्रकार के शोषण का सामना करना पड़ा, जैसे कम मजदूरी, काम के अधिक घंटे, बाल श्रमिकों का उपयोग, कारखानों में स्वास्थ्य सुविधाओं की कमी एवं अन्य सभी प्रकार की सुविधाओं की कमी आदि। इससे पहले की भारतीय बुद्धिजीवी वर्ग श्रमिक वर्ग के संघर्ष से जुड़ते, देश के भिन्न-भिन्न भागों में श्रमिक आंदोलन की शुरूआत हो गयी। 19वीं सदी के अंत में बंबई, कलकत्ता, अहमदाबाद, सूरत, मद्रास, कोयम्बटूर तथा वर्धा आदि के श्रमिकों ने सूती मिलों में हड़ताल प्रारंभ कर दिया।

प्रारंभिक विकास

श्रमिकों की दशा में सुधार करने का प्रारंभिक प्रयास कुछ महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों द्वारा शुरू किया गया। सन् 1877 में नागपुर के सूती मिल में श्रमिकों ने सर्वप्रथम हड़ताल, मजदूरी की दर के मुद्दे को लेकर किया। श्रमिकों के कार्य करने के घंटे को कम करने के मुद्दे को लेकर, सोराबजी, शरोजी बेंगाली ने सन् 1878 में बम्बई विधान परिषद् में एक बिल पेश किया परंतु उनका यह प्रयास असफल रहा। सन् 1870 में शशिपद बैनर्जी ने बंगाल में एक 'श्रमिक क्लब' (वर्किंग मेन्स क्लब) की स्थापना की तथा 1874 में उन्होंने 'भारत श्रमजीवी' नामक एक मासिक पत्रिका की भी शुरूआत श्रमिकों को शिक्षित करने के विचार से की।

भारतीय श्रमिकों के प्रथम नेता, एन. एम. लोखण्डे द्वारा सन् 1890 में बम्बई में बम्बई मिल हैन्डस एसोसिएशन की स्थापना की गयी। इसे प्रथम श्रमिक संघ के रूप में भी जाना जाता है। इस संघ ने (यद्यपि यह ट्रेड यूनियन नहीं था) निम्नलिखित मांगें रखी : 1. कार्य करने के घंटे में कमी 2. साप्ताहिक छुट्टी तथा 3. कारखाने में कार्य करते वक्त हुई दुर्घटनाओं का हर्जाना। एन. एम. लोखण्डे ने सन् 1880 में 'दीनबंधु' नामक एक पत्रिका की भी शुरूआत की। डॉ. दिपेश चक्रवर्ती ने कलकत्ता जूट मिल, हड़ताल को ही आरंभिक श्रमिक चेतना का आगाज माना है। 1889 के वृहद् भारतीय प्रायद्वीपीय रेलवे हड़ताल को ही श्रमिक वर्ग का प्रथम संगठित हड़ताल माना जाता है। इनकी मुख्य मांगें मजदूरी, काम के घंटे, एवं सेवा की स्थिति आदि से संबंधित थीं। श्रमिकों का दूसरा संगठित विरोध 1908 की बम्बई सूती मिल की हड़ताल था। यह हड़ताल बाल गंगाधार तिलक की गिरफ्तारी के विरोध में किया गया था।

एनी बेसेंट के नजदीकी सहायक बी. पी. वाडिया ने अप्रैल, 1918 में 'मद्रास श्रमिक संघ' की स्थापना की। भारत में यह पहला ट्रेड यूनियन था। गांधी जी ने 1920 में 'मजदूर महाजन' की स्थापना की जिसमें मालिकों एवं श्रमिकों के बीच शांतिपूर्ण संबंध स्थापित करने की बात कही गयी। इसके पूर्व 1917 में ही महात्मा गांधी ने 'अहमदाबाद टेक्सटाइल यूनियन' का भी गठन किया था। परन्तु राष्ट्रीय आंदोलन की मुख्यधारा अभी भी श्रमिकों की समस्याओं के प्रश्न पर उदासीन थी।

अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस

अखिल भारतीय स्तर पर ट्रेड यूनियन के गठन की पहल राष्ट्रीय नेताओं द्वारा शुरू हुई। 31 अक्टूबर, 1920 को बम्बई में अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस की स्थापना की गयी। आरंभिक अधिवेशन की अध्यक्षता लाला लाजपतराय ने की तथा इसमें मोतीलाल नेहरू, एनी बेसेंट, सी. एफ. ऐन्ड्रयूज, एन. एम. जोशी, बी. पी. वाडिया तथा जोसेफ बैप्तीस्ता आदि ट्रेड यूनियनों के नेताओं एवं राष्ट्रीय नेताओं ने भाग लिया।

श्रमिकों के बीच ट्रेड यूनियन का विकास बहुत धीमी गति से हुआ क्योंकि श्रमिकों के बीच एकता का अभाव था और दूसरी तरफ नियोक्ता का विरोध भी प्रबल था। प्रारंभ में अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस पर एन. एम. जोशी सदृश उदारवादियों का प्रभाव रहा। 1926 के ट्रेड यूनियन एक्ट के द्वारा पहली बार ट्रेड यूनियन को थोड़ी सी वैधता प्राप्त हुई। 1926 के ट्रेड यूनियन एक्ट ने ट्रेड यूनियन गतिविधियों के पंजीकरण एवं यूनियन के लिए शर्तें निर्धारित कीं। परंतु साथ ही उसकी राजनीतिक गतिविधियों पर कुछ नियंत्रण भी स्थापित कर दिए। सबसे बड़ी हड़ताल बम्बई के मिलों में 1924 में एवं पुनः 1925 में हुई। 1926 में बम्बई सूती वस्त्र मजदूर यूनियन की स्थापना हुई। इसके अध्यक्ष एन. एम. जोशी बने। यह 1926 के एक्ट के अंतर्गत प्रथम पंजीकृत ट्रेड यूनियन था। साम्यवादियों के उदय ने ट्रेड यूनियन कांग्रेस को उग्र बना दिया। 1927 में बहुत से साम्यवादी दलों ने अपने को श्रमिक एवं कृषक पार्टी के रूप में संगठित कर लिया। 1926-29 ए.आई.टी.यू.सी. सुधारवादी एवं क्रांतिकारी दो दलों में विभाजित हो गया। 1928 में साम्यवादियों के द्वारा समर्थित गिरनी कामगार यूनियन के सूती वस्त्र मजदूरों ने छह महीने की ऐतिहासिक हड़ताल की।

विभाजन

दुर्भाग्यवश इस काल में ए.आई.टी.यू.सी. में दो बार विभाजन हुआ। एन. एम. जोशी के अधीन उदारवादी गुट ए.आई.टी.यू.सी. से बाहर हो गया और 1929 में अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन फेडरेशन की स्थापना की। विभाजन का मुख्य मुद्दा था कि ए.आई.टी.यू.सी. को ब्रिटिश सरकार द्वारा श्रमिकों पर नियुक्त रॉयल कमीशन का बहिष्कार करना चाहिए अथवा नहीं। उदारवादियों ने सहयोग देना चाहा जबकि उग्रवादियों ने बहिष्कार करना चाहा। 1931 में फिर दूसरा विभाजन हुआ जबकि साम्यवादियों ने ए.आई.टी.यू.सी. का परित्याग

किया और लाल ट्रेड यूनियन कांग्रेस का गठन किया। इन विभाजनों ने ट्रेड यूनियन आंदोलन को कमजोर कर दिया।

मेरठ षड़यंत्र मुकद्दमा

मार्च, 1929 में ब्रिटिश सरकार ने श्रमिक वर्ग के महत्त्वपूर्ण नेताओं को गिरफ्तार किया और उन पर मुकद्दमा चलाने के लिए उन्हें मेरठ लाया गया। ट्रेड यूनियन नेताओं पर मुख्य अभियोग यह था कि उन्होंने ब्रिटिश क्राउन को भारत की संप्रभुता से वंचित करने का षडयंत्र किया। इस मुकद्दमे के परिणामस्वरूप मुजफ्फर अहमद, डांगे, जोगलकर, फिलिप स्प्रैट, बैन ब्रैडली, हचिंगसन एवं अन्य को सजा दी गयी। 1929-31 का मेरठ मुकद्दमे का विश्व स्तर पर प्रचार हुआ। परंतु मेरठ मुकद्दमे ने तात्कालिक रूप में श्रमिक आंदोलन को गहरा धक्का पहुंचाया।

नया चरण

ट्रेड यूनियन आंदोलन का नया चरण 1935 के बाद प्रारंभ हुआ। ए.आई.टी.यू.सी. की एकता पुनर्स्थापित कर दी गयी। 1937 में राज्यों में कांग्रेस सरकारों के गठन ने श्रमिकों की प्रेरणा एवं आकांक्षाओं को प्रोत्साहित किया। 1936 एवं 1939 के बीच ट्रेड यूनियन की संख्या में दोगुनी वृद्धि हुई और सदस्यों की संख्या में भी काफी वृद्धि हुई। हड़तालों की संख्या 1936 में 157 से बढ़कर 1939 में 406 हो गयीं। आगे एम. एन. राय ने इंडियन फेडरेशन आफ लेबर नामक एक सरकार समर्थक यूनियन की स्थापना की। 1944 में सरदार बल्लभभाई पटेल ने भारतीय राष्ट्रीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस की स्थापना की। अतः स्वतंत्रता के पश्चात् राजनीतिक विचार के आधार पर ट्रेड यूनियन का ध्रुवीकरण हुआ। वास्तविक रूप में यह ट्रेड यूनियन आंदोलन के विस्तार का नया चरण था।

कांग्रेस में समाजवाद

दो विश्व युद्धों के बीच राष्ट्रीय आंदोलन में समाजवादी विचारधाराओं का विकास हुआ। यद्यपि राष्ट्रीय आंदोलन पर इस विचारधारा का कोई निर्णायक प्रभाव नहीं पड़ा परंतु समाजवादी विचारधारा के उदय की अवहेलना नहीं की जा सकती थी। समाजवादी विचारधारा के विकास में 1917 की रूसी क्रान्ति का महत्त्वपूर्ण योगदान है। इस क्रान्ति के चलते मजदूर, किसान और पूँजीवादी व्यवस्था द्वारा शोषित सर्वहारा वर्ग इत्यादि के विचार फैले। इस प्रभाव से भारत भी अछूता नहीं रह सका और भारत में यह दो रूपों में प्रकट हुआ। एक समाजवादी विचारधारा और दूसरी साम्यवादी विचारधारा। परन्तु ये दोनों विचारधाराएँ राष्ट्रीय आंदोलन के अन्तर्गत ही काम करती रही। यहाँ तक कि पृथक् दल निर्माण के बाद भी इन दलों के सदस्य कांग्रेस के सदस्य भी रहे।

1926 तक कांग्रेस में समाजवादी विचारधारा के काफी सदस्य हो गए थे। वे कांग्रेस की नीतियों पर समाजवादी विचारधारा को स्थापित करना चाहते थे। इनकी मुख्य शिकायत देश की भूमि व्यवस्था से थी। समाजवादियों ने जमींदारी प्रथा के उन्मूलन की मांग रखी और कहा कि किसान और सरकार के बीच में किसी अन्य वर्ग की आवश्यकता नहीं है। 1926 में संयुक्त प्रान्त की कांग्रेस ने अखिल भारतीय कांग्रेस समिति के इस मूल सिद्धान्त को स्वीकार करने के लिए आग्रह किया।

1930-31 तक वर्ग संघर्ष के विचार ने काफी जोर पकड़ लिया। कांग्रेस में ऐसे सदस्य थे जो गांधी जी द्वारा निर्धारित रचनात्मक कार्यक्रम की बजाए साम्राज्यवाद की शोषण की नीति के खिलाफ मजदूरों और किसानों को जागृत करना चाहते थे। ऐसे सदस्यों ने कांग्रेस के अन्दर ही 1931 में समाजवादी दल के संगठन किया जिसका अध्यक्ष बिहार के मजदूर नेता अब्दुल बारी थे। इस दल के कार्यक्रम के चलते 1931 में कराची अधिवेशन में कांग्रेस ने पहली बार समाजवादी प्रस्ताव पारित किया। इस आंदोलन के क्रम में समाजवादी दल के अधिकतर नेता गिरफ्तार कर लिए गए।

परन्तु 1934 में सविनय अवज्ञा आंदोलन के स्थगन के बाद समाजवाद और साम्यवाद के विचार फिर से पनपने लगे। मई, 1934 में समाजवादी दल अखिल भारतीय दल के रूप में सामने आ गया। 17 मई, 1934 को इसका अखिल भारतीय अधिवेशन आचार्य नरेन्द्र देव की अध्यक्षता में पटना में हुआ। पटना की बैठक के बाद समाजवादी दल की शाखाएँ विभिन्न प्रान्तों में स्थापित की गई।

समाजवादी दल के साथ कांग्रेस शब्द जुड़ा रहने के दो प्रमुख कारण थे। समाजवादी दल की तरह यह दल कांग्रेस विरोधी नहीं था और यह दल कांग्रेस के अन्दर रह कर अपना कार्यक्रम पूरा करना चाहता था। इसके अतिरिक्त यह भी तय किया गया कि साम्यवादी

दल का सदस्य किसी भी साम्प्रदायिक संगठन का सदस्य नहीं होगा। इन्होंने समाजवादी कार्यक्रम को भी निर्धारित किया। इसमें किसान तथा मजदूरों की माँगों को प्राथमिकता दी गई। 21 तथा 22 अक्टूबर, 1934 ई. में बम्बई में कांग्रेस समाजवादी दल का पहला खुला अधिवेशन हुआ। इसकी अध्यक्षता सम्पूर्णानन्द ने की और इसके अन्य सदस्य थे नरेन्द्र देव, जय प्रकाश नारायण, कमला देवी चट्टोपाध्याय, राम मनोहर लोहिया, अच्युत पटवर्द्धन, एम. आर. मसानी, अरूणा आसफ अली इत्यादि।

1934 का समाजवादी सम्मेलन राजनीतिक तथा आर्थिक दृष्टिकोण से एक क्रान्तिकारी कदम था। खासकर युवा वर्ग ने इसमें जमकर भाग लिया। कांग्रेस के अनेक दक्षिणपंथी नेता इसके विरोधी बन गए। इस प्रकार समाजवादी दल के निर्माण के बाद राष्ट्रीय कांग्रेस फिर से वामपंथी और दक्षिणपंथी विचारों के संघर्ष में पड़ गई। परन्तु इसके बावजूद इस दल के निर्माण ने ही कांग्रेस के कार्यक्रम को समाजवादी ढाँचा प्रदान किया जिसके परिणामस्वरूप 1937 के चुनाव में कांग्रेस के अभूतपूर्व सफलता मिली। बाद में समाजवादी विचारधारा का प्रभाव कांग्रेस के मंच पर दिखा।

कांग्रेस समाजवादियों की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता गांधीवादी पद्धति में उनकी आस्था थी। वे मार्क्सवादियों को मार्क्स के अन्धानुयायी मानते थे। भारत के लिए नवीन प्रकार के समाजवाद के वे समर्थक थे। मार्क्सवादियों के विपरीत उन्होंने 1942 की क्रांति में भाग लिया एवं उसे नेतृत्व प्रदान किया। जय प्रकाश नारायण, अरूणा आसफ अली, राम मनोहर लोहिया एवं अच्युत पटवर्द्धन आदि का इसमें योगदान अत्यंत महत्त्वपूर्ण था।

प्रमुख विचार

1. यदि भारत में धर्म पर अंकुश नहीं लगाया गया तो यह इस देश और इसके लोगों को मारे डालेगा। - **जवाहरलाल नेहरू**
2. मैं स्पष्ट रूप से स्वीकार करता हूँ कि मैं एक समाजवादी और गणतंत्रवादी हूँ और राजाओं नरेशों में या उस व्यवस्था में मेरी कोई आस्था नहीं है जो आधुनिक औद्योगिक सम्राट उत्पन्न करती हैं। - **जवाहर लाल नेहरू**
3. अनेक अंग्रेज सचमुच अपने-आपको भारत का ट्रस्टी समझते हैं और फिर भी उन्होंने हमारे देश की क्या स्थिति कर डाली है। - **जवाहर लाल नेहरू**
4. जिन्होंने हमें समाजवाद का मंत्र दिया है, जेल के बाहर भी होते तो धीरे-धीरे ही उधर का रूख करते। - **जवाहरलाल नेहरू**
5. पर उनके कम्युनिस्ट विचारों से किसी को डरने की आवश्यकता नहीं है। - **गाँधी**

DISCOVERY

9. भारत का आर्थिक इतिहास

धन का निष्कासन

धन निष्कासन के संबंध में सर्वप्रथम दादा भाई नौरोजी ने अपने पत्र 'पोवर्टी एंड अनब्रिटिश रूल इन इंडिया' में अपने विचार रखे। वह धन जो भारत से इंग्लैंड को भेजा जाता था और जिसके बदले भारत को कुछ प्राप्त नहीं होता था, संपदा का निष्कासन कहलाया। इसका एक माध्यम 'अतिरिक्त निर्यात व्यापार' था। भारत से प्राप्त होनेवाले धन से ही माल खरीदकर अंग्रेज व्यापारी उन्हें इंग्लैंड और दूसरी जगहों में भेजते थे। इस प्रकार अंग्रेज दोनों तरह से संपत्ति प्राप्त कर रहे थे। व्यापार से भारत को किसी प्रकार का धन प्राप्त नहीं होता था। इसके अतिरिक्त भारत से स्वदेश वापस जानेवाले अंग्रेज भी अपने साथ पर्याप्त धन ले जाते थे। कंपनी के कर्मचारी वेतन, भत्ते, पेंशन आदि के रूप में पर्याप्त धन इकट्ठा कर इंग्लैंड ले जाते थे। यह धन न सिर्फ सामान के रूप में था, बल्कि धातु (सोना, चाँदी) के रूप में भी पर्याप्त धन इंग्लैंड भेजा गया। इस धन-निर्गम को इंग्लैंड एक 'अप्रत्यक्ष उपहार' समझकर प्रतिवर्ष भारत से साधिकार ग्रहण करता था। भारत से कितना धन इंग्लैंड ले जाया गया इसका सही अनुमान लगाना कठिन है। सरकारी आँकड़ों में दी गई राशि से भी अधिक धन अंग्रेज भारत से ले जाने में सफल रहे। इस संपदा-निष्कासन का भारत की अर्थव्यवस्था पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा। धन निष्कासन के प्रमुख स्रोत की पहचान निम्नरूप से की गई थी :

- कंपनी के कर्मचारियों का वेतन, भत्ता एवं पेंशन;
- बोर्ड ऑफ कंट्रोल एवं बोर्ड ऑफ डायरेक्टर्स के वेतन एवं भत्ते;
- 1858 के बाद कंपनी की सारी देनदारियां;
- उपहार से प्राप्त धन;
- कर्मचारियों द्वारा किए जा रहे निजी व्यापार से प्राप्त लाभ;
- साम्राज्यवाद के विस्तार में भारतीय सेना का उपयोग एवं रक्षा बजट का बोझ भारत पर (20वीं सदी के प्रारम्भ में यह रक्षा बजट 52% तक चला गया था);
- रेल जैसे उद्योग में धन लगाने वाले पूंजीपतियों को निश्चित लाभ का दिया जाना, आदि।

इस संपदा-निष्कासन का परिणाम भारत के लिए बुरा साबित हुआ। दादाभाई नौरोजी ने इसे 'अंग्रेजों द्वारा भारत का रक्त चूसने' की संज्ञा दी। अन्य राष्ट्रवादी इतिहासकारों और व्यक्तियों ने भी अंग्रेजों की इस नीति की तीखी आलोचना की है। इतिहासकारों का एक वर्ग (साम्राज्यवादी विचारधारा से प्रभावित) इस बात से इनकार करता है कि अंग्रेजों ने भारत का आर्थिक शोषण किया। उनका तर्क है कि इंग्लैंड को जो धन प्राप्त हुआ वह भारत की सेवा करने के बदले प्राप्त हुआ। जॉन स्ट्रेची का विचार था कि भारत में उत्तम प्रशासनिक व्यवस्था, कानून और न्याय की स्थापना के बदले ही इंग्लैंड भारत से धन प्राप्त करता था। किंतु इस तर्क में दम नहीं है। यह निर्विवाद है कि अंग्रेजों ने भारत का आर्थिक शोषण किया। सरकारी आर्थिक नीतियों के कारण संपदा का निष्कासन कर भारत को दरिद्र बना दिया गया। संपदा के निष्कासन के परिणामस्वरूप भारत में 'पूँजी संचय' नहीं हो सका, जीवन-स्तर लगातार गिरता गया, गरीबी बढ़ती

गई। यह बात इससे स्पष्ट हो जाती है कि 19वीं-20वीं शताब्दी में भारत में अनेक दुर्भिक्ष पड़े जिनमें लाखों व्यक्तियों को अपने प्राण गँवाने पड़े। परिणामस्वरूप, निर्धनता में वृद्धि हुई। राजस्व का बहुत ही कम भाग ग्रामों पर खर्च किया गया। धन-निष्कासन के कारण जनता पर करों का बोझ अत्यधिक बढ़ गया। इसके साथ-साथ भारत के कुटीर उद्योगों का विनाश हुआ, भूमि पर अधिक दवाब बढ़ता गया और भूमिहीन कृषि मजदूरों की संख्या में वृद्धि हुई। भारत की इस विपन्नता के लिए धन-निष्कासन उत्तरदायी था।

भारतीय हस्तशिल्प का ह्रास

1813 के चार्टर एक्ट द्वारा ब्रिटिश नागरिकों को भारत से व्यापार करने की छूट मिलने के फलस्वरूप भारतीय बाजार सस्ते एवं मशीनें निर्मित आयात से भर गया। दूसरी ओर, भारतीय उत्पादों के लिये यूरोपीय बाजारों में प्रवेश करना अत्यंत कठिन हो गया। 1820 के पश्चात् तो यूरोपीय बाजार भारतीय उत्पादों के लिए लगभग बंद ही हो गए। भारत में रेलवे के विकास ने यूरोपीय उत्पादों को भारत के दूर दराज के क्षेत्रों तक पहुँचने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी।

भारत में परंपरागत हस्तशिल्प उद्योग का ह्रास इसलिये नहीं हुआ कि यहां औद्योगीकरण या औद्योगिक क्रांति हुयी। बल्कि यह ह्रास अंग्रेजी माल के भारतीय बाजारों में भर जाने से हुआ क्योंकि भारतीय हस्तशिल्प, अंग्रेजों के सस्ते माल का मुकाबला नहीं कर सका। लेकिन इस अवधि में यूरोप के अन्य देशों के परंपरागत हस्तशिल्प उद्योग में भी गिरावट आयी पर इसका कारण वहां कारखानों का विकसित होना था। यह वह समय था जहां एक ओर भारतीय हस्तशिल्प उद्योग तेजी से पतन की ओर अग्रसर था तथा वह अपनी मृत्यु के कगार पर पहुंच गया था, वहीं दूसरी ओर इस काल में इंग्लैण्ड में औद्योगिक क्रांति तेजी से अपने पैर जमा रही थी तथा देश का तेजी से औद्योगीकरण हो रहा था । इस समय भारतीय शिल्पकार एवं दस्तकार पर्याप्त संरक्षण के अभाव में विषम परिस्थितियों के दौर से गुजर रहे थे। वहीं नये पाश्चात्य अनुप्रयोगों तथा तकनीक ने उनके संकट को और गंभीर बना दिया।

अनौद्योगीकरण का एक और नकारात्मक प्रभाव था- भारत के अनेक शहरों का पतन तथा भारतीय शिल्पियों का गांवों की ओर पलायन। अंग्रेजों की शोषणकारी तथा भेदभावमूलक नीतियों के कारण बहुत से भारतीय दस्तकारों ने अपने परंपरागत व्यवसाय को त्याग दिया तथा वे गांवों में जाकर खेती करने लगे (बंगाल में कंपनी शासन के दौरान दस्तकारों एवं शिल्पकारों को बहुत कम दरों पर काम करने तथा अपने उत्पाद अत्यंत कम मूल्यों पर बेचने हेतु विवश किया गया) इससे भूमि पर दबाव बढ़ा। अंग्रेज सरकार की कृषि विरोधी नीतियों के कारण यह क्षेत्र पहले से ही संकटग्रस्त था और भूमि पर दबाव बढ़ने के कारण ग्रामीण अर्थव्यवस्था बिल्कुल चरामरा गयी। भारत एक निर्यातक देश से सम्पूर्ण आयातक देश बन गया।

कृषि का वाणिज्यीकरण

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भारतीय कृषि में एक और महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुआ, वह था कृषि का वाणिज्यीकरण। इस समय तक कृषि जीवनयापन का एक मार्ग थी न कि व्यापारिक प्रयत्न। अब कृषि पर वाणिज्यिक प्रभाव बढ़ने लगा। अब कुछ विशेष फसलों का उत्पादन राष्ट्रीय एवं अंतरराष्ट्रीय बाजार के लिये होने लगा न कि ग्रामीण उपयोग के लिये। मूंगफली, गन्ना, पटसन, कपास, तिलहन, तंबाकू, मसालों, फलों तथा सब्जियों जैसे वाणिज्यिक फसलों का उत्पादन बढ़ गया क्योंकि ये फसलें अब अन्न के स्थान पर अधिक लाभदायक सिद्ध होने लगी थी। संभवत: बागान उद्योगों यथा चाय, काफी, रबर एवं नील इत्यादि में तो कृषि का वाणिज्यीकरण अपने चरमोत्कर्ष पर पहुंच गया गया। इन बागान उद्योगों का स्वामित्व लगभग यूरोपियनों के हाथों में था तथा इनके उत्पाद मुख्यतया अंतरराष्ट्रीय बाजार में बेचने के उद्देश्य से ही तैयार किए जाते थे।

वाणिज्यीकरण और विशेषीकरण की इस प्रक्रिया को कई कारणों ने प्रोत्साहित किया। जैसे मुद्रा अर्थव्यवस्था का प्रसार, रूढ़ि और परंपरा के स्थान पर संविदा और प्रतियोगिता, एकीकृत राष्ट्रीय बाजारों का अभ्युदय, देशी एवं विदेशी व्यापार में वृद्धि, रेलवे एवं सड़क संचार साधनों, राष्ट्रीय मंडी का विकास एवं अंग्रेजी पूंजी के आगमन से विदेशी व्यापार में वृद्धि इत्यादि।

भारतीय कृषकों के लिये कृषि का वाणिज्यीकरण एक विवशता थी। भूमि कर अत्यधिक होने से उसे अदा कर पाने में वह असमर्थ था। फलत: उसे साहूकारों से ऋण लेना पड़ता था, जिनकी ब्याज दरें काफी अधिक होती थी। इस ब्याज को चुकाने के लिये उसे

अपने उत्पाद को काफी कम मूल्य पर बेचना पडता था। कई बार तो उसे अपने ही अनाज को साहूकार के यहां बेचकर दुबारा जरूरत पड़ने पर दुगने मूल्य पर उसे खरीदना पड़ जाता था। कृषि मूल्यों पर विदेशी उतार-चढ़ाव का प्रभाव भी पड़ने लगा था। उदाहरणार्थ 1860 के पश्चात् कपास के मूल्यों में जो वृद्धि हुयी, उससे बिचौलियों को काफी लाभ प्राप्त हुआ। जबकि कृषकों को इसका कोई लाभ नहीं मिला। इस प्रकार 1866 में जब मंदी आयी तो इसकी मार किसानों पर पड़ी जिसके फलस्वरूप गांवों में किसान ऋण के बोझ से और दब गए, उनकी जमीन नीलाम हो गयी, उन्हें अकाल का सामना करना पड़ा तथा दक्षिण भारत में व्यापक पैमाने पर किसानों के आंदोलन हुए। इस प्रकार कृषि के वाणिज्यीकरण से न तो कृषकों को कोई लाभ हुआ और न ही कृषि उत्पादन में कोई वृद्धि हुयी।

आधुनिक उद्योगों का विकास

अंग्रेजों ने भारत में औद्योगीकरण का आरभ बागान उद्योग से किया, जैसे-नील, चाय, कॉफी आदि। इसके बाद अंग्रेजों ने वस्त्र उद्योग पर ध्यान दिया। 1850 ई. और 1855 ई. के बीच कपास के कारखाने, पटसन की मिलों और कोयला खानों की शुरूआत हुई। 19वीं शताब्दी के दूसरे भाग में बम्बई में सूती कपड़ों के कारखाने खुले और पहली बार एक भारतीय कावसजी नाना भाई ने एक कपड़ा का कारखाना खोला। भारत में पहला जूट मिल 1855 ई. में जार्ज एलान नामक एक अंग्रेज ने बंगाल में स्थित रिशरा नामक स्थान में खोला।

1880 ई. से 1895 ई. के बीच कोई नया महत्त्वपूर्ण उद्योग स्थापित नहीं हुआ, लेकिन पुराने उद्योगों ने काफी तरक्की की। सूती कपड़ों का उद्योग विशेष तेजी से बढ़ा। 1894-95 ई. में सूती मिलों की संख्या 144, जूट मिलों की संख्या '29' और कोयला खानों की संख्या 123 हो गई। इस औद्योगिक विकास से रानाडे जैसे राष्ट्रवादी अर्थशास्त्री काफी प्रभावित थे और उन्होंने भारत के लिए औद्योगीकरण का सपना देखा।

1905 ई. स्वदेशी आंदोलन के प्रारंभ हो जाने से भारतीय उद्योगों को पुनः प्रोत्साहन मिला और युद्ध काल में इसके विकास में काफी वृद्धि हुई, क्योंकि उस समय अंग्रेजों का सारा ध्यान युद्ध सामग्रियों को जुटाने में ही था, जो इंग्लैंड से नहीं लाए जा सकते थे। फलस्वरूप भारतीय वस्त्र उद्योग और पटसन उद्योग में बहुत वृद्धि हुई। 1913-14 ई. तक कपास मिलों की संख्या बढ़कर '264' हो गई और जूट मिलों की संख्या '641'।

1890 ई. और 1914 ई. के बीच पेट्रोलियम, अबरख और मैंगनीज जैसे नये खनिजों का आरंभ हुआ और इसके उद्योग पनपे। लकड़ी की कई मिलें भी खोली गई। इसके अतिरिक्त लोहे और पीतल के ढलाई घर भारत में खुले। परन्तु ऐसी प्रगति के बावजूद भी भारतीय औद्योगिक विकास का स्तर बहुत ही निम्न रहा और गति काफी धीमी रही। भारी उद्योगों का लगभग अभाव था। धातु और मशीन उद्योग किसी भी देश की औद्योगिक विकास के लिए आवश्यक हैं। परन्तु ऐसे उद्योग भारत में लगभग नहीं के बराबर थे। चूँकि देश के उद्योगों के लिए आवश्यक मशीन, रसायन आदि पदार्थों की कमी थी, इसलिए भारी उद्योगों का विकास संभव नहीं था। इस उद्योग में एक मात्र भारतीय उद्योगपति जे. एन. टाटा थे, जिन्होंने जमशेदपुर में 1907 ई. में इस्पात फैक्ट्री खोला और जिसका उत्पादन कार्य 1911 ई. से प्रारम्भ हुआ। औद्योगिक कमीशन की मुख्य सिफारिश थी कि सरकार देश के औद्योगिक विकास में रुचि ले। 1925 ई. में फिस्कल कमीशन ने सिफारिश की कि सरकार उद्योगों को विवेकपूर्ण संरक्षण और सहायता देने की नीति अपनाये।

लेकिन इन सबके बावजूद भारतीय उद्योग के स्वतंत्र विकास की बुनियादी शर्तें पूरी नहीं हुई। 1939 ई. में द्वितीय महायुद्ध शुरू होने पर भारतीय उद्योगों के विकास की रफ्तार पहले की तुलना में कुछ तेज हुई, लेकिन नवपरिवहन तथा वायुयान क्षेत्र में शायद ही कोई प्रगति हुई। भारी उद्योगों का विकास भारत में इस समय नहीं हो पाया। युद्ध काल में जो प्रगति हुई वह सब उपभोक्ता उद्योग में थी। बड़े उद्योगों की काफी उपेक्षा हुई। युद्ध के कारण देश की जो औद्योगिक प्रगति हुई, वह अस्थायी एवं कृत्रिम थी, वास्तविक और स्थायी नहीं।

प्रमुख विचार

1. भारतीय वस्त्र हमारे घरों, हमारे कक्षों तथा हमारे शयनागारों में भी प्रवेश कर चुके हैं, पर्दे, गद्दे, कुर्सियां और अंत में हमारे विस्त भी मलमल या भारतीय वस्तुओं के अलावा कुछ नहीं रहे। - **डेनियल डिफ**

2. हमारी प्रणाली बहुत कुछ स्पंज की तरह काम करती है जो गंगा के तटों से सभी अच्छी चीजें सोखकर थेम्स के तटों पर निचे देती है। - **जॉन सुलिव**

3. अंग्रेजों की बुनियादी सिद्धांत सारे भारतीय राष्ट्र को हर संभव तौर पर अपने हितों और फायदों के लिए गुलाम बनाना था। - **जॉन शो**

4. अलग-थलग रहने वाले स्वावलंबी गांव के कवच को इस्पात की रेल ने बेध दिया, तथा उसकी प्राण शक्ति को क्षीण दिया। - **बुकान**

5. इस दरिद्रता के समान दरिद्रता वाणिज्य के इतिहास में शायद ही कभी रही है। बुनकरों की हड्डियां भारत के मैदानों को विर्र कर रही हैं। - **विलियम बेंटि**

6. मजे की बात यह है कि भारत में जीवन तथा संपत्ति की सुरक्षा प्राप्त है, मगर यथार्थ में ऐसी कोई बात नहीं है। केवल एक अर्थ या रूप में जीवन और संपति की सुरक्षा प्राप्त है, अर्थात लोग एक-दूसरे की या देशी तानाशाहों की हिंसा से सुरक्षित - **नौरो**

7. विदेशी प्रशासन का अत्यधिक खर्चीलापन बहरहाल इसकी अकेली बुराई नहीं है। यह एक नैतिक बुराई भी है; और बल्कि बड़ी बुराई है। - **गोख**

8. यह देश जो कड़े से कड़े स्वेच्छाचारी शासकों के अधीन भी हराभरा तथा लहलहाता प्रदेश था, जब से कम्पनी को दीवानी f है, उजाड़ हो गया है, जिससे प्रत्येक अंग्रेज को दु:ख होगा। - **रिचर्ड बी**

9. इस व्यवस्था के राजनीतिक लाभों ने इसकी आर्थिक हानियों का सन्तुलन कर दिया। - **सीटन द**

10. प्राचीन काल में भी लुटेरे आते थे परन्तु लूटने के पश्चात् वे वापस चले जाते थे और कुछ ही वर्षों में भारत पुन: अपनी हानि पूर्ति कर लेता था परन्तु अब तो वह निरन्तर अधिक से अधिक निर्धन बनता जा रहा है। उसे इस लूट से दम लेने का अव ही नहीं मिलता। - **नौरं**

11. अंग्रेजी राज्य के कारण 19वीं शताब्दी के अन्त तक भारत एक विशेष वर्गीय उपनिवेश बन गया था। भारतीय अर्थव्यवस्था सामाजिक जीवन अंग्रेजी अर्थव्यवस्था तथा समाज के अधीन हो गया था। - **बिपिन**

12. गृहशिल्प और कृषि के सहज सरल संयोजन एवं तज्जन्य अर्थतंत्र के कारण गांव अपना संतुलन सुरक्षित रख सकता था विघटन की प्रक्रिया का सबल प्रतिरोध प्रस्तुत कर सका। -**शेलव**

13. प्राचीन काल में जब रोम के निजी और सार्वजनिक भवनों में भारतीय कपड़ों, दीवारदरी, तामचीनी मोजेक, हीरे जवाहरात का उपयोग होता था, उस वक्त से औद्योगिक क्रांति के प्रारंभ तक आकर्षक और उद्दीपक वस्तुओं के लिए सारा संसार का मोहताज रहा। - **कौ**

14. यद्यपि स्थायी बंदोबस्त कई अर्थों में, यहां तक कि अपने मूलभूत तत्वों में भी असफल रहा, फिर भी व्यापक जन विद्र क्रांति के विरुद्ध सुरक्षा की दृष्टि से इसका यह बहुत बड़ा फायदा रहा कि इसके जरिए भूमिधरों का ऐसा बड़ा दल तै गया जिसको ब्रिटिश शासन के स्थायित्व से फायदा था, और जिसका जनसाधारण पर पूरा नियंत्रण था। - **लार्ड क**

15. नए भूमि संबंधों एवं नियत धनराशि के रूप में कर के भुगतान की प्रथा के फलस्वरूप ग्रामीण उपभोग के लिए उत्पा बदले बाजार में विक्रय के लिए उत्पादन शुरू हुआ। इस तरह उत्पादन के रूप और चरित्र में मूलभूत परिवर्तन हुए। - **वी एन गा**

16. ऋण के बंधन ने कृषि को जैसे जंजीरों से जकड़ रखा है। सूदखोरी की इस सर्वव्याप्त निर्मम प्रथा ने रैयत की हड्डियों का सारा रस चूस लिया है, और उसे गरीबी और गुलामी की जिंदगी जीने को बाध्य किया है। **- सर हेमिल्टन**

17. जहां देशी राज्य समाप्त नहीं हुए, वहां भी अंग्रेजों का परोक्ष राजनीतिक प्रभुत्व बढ़ता ही गया। देशी राज्यों और उनके अधिकार के ह्रास का, हिंदुस्तान की शहरी दस्तकारी पर तत्काल बड़ा सीधा असर पड़ा। ये देशी राज्य ही शहरी दस्तकारी के समान के सबसे बड़े खरीददार थे। **- वी एन गाडगिल**

18. सत्रहवीं सदी के अंत में रेशम, सूती सामान का बड़े परिमाण में निर्यात हुआ। ईस्ट इंडिया कंपनी के लिए यह बड़े लाभ का रोजगार था और 1672 में कंपनी ने बहुत सारे विलायती पैटर्नों के साथ अंग्रेज धुनिया, रंगरेज और तागा बटने वालों को हिंदुस्तान भेजा कि वे वहां के कारीगरों को अंग्रेजी और यूरोपीय बाजार के उपयुक्त सामान बनाने के नए तरीके सिखा सकें। **- टामसन एंड गैरेट**

19. भारत के साथ सूती माल के व्यापार का इतिहास एक दुखद प्रसंग है। इससे पता चलता है कि जिस देश पर भारत आश्रित हो चुका था, उसने भारत के साथ कैसा अन्याय किया....यदि प्रतिरोधक कर और कानून नहीं होते तो पेंजली और मैनचेस्टर की मिलें शुरू में ही बंद हो जाती। **- होरेस विल्सन**

20. फिर भी, कारखानों में जो उत्पादन के मितव्ययी और लाभकर तरीके अपनाए जाते हैं उनके साथ प्रतियोगिता में हाथ से कताई बुनाई का तरीका नहीं टिक पाता.... जिस तरह, एक जमाने में, यंत्रचालित कारखानों की होड़ के कारण यूरोप में हाथकरघा उद्योग को क्षति पहुंची, वैसे ही भारत में भी हाथकरघा से काम करने वालों को देशी और विदेशी कारखानों में बने सस्ते माल की वजह से काफी नुकसान उठाना पड़ा। - बुकानन

21. लेकिन आधुनिक उद्योगों के अपर्याप्त विकास की स्थिति में गांवों के बचेखुचे उद्योगों ने, अपनी बढ़ती हुई नष्टशीलता के बावजूद देहात के लोगों की जरूरतों को पूरा करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की... आज भी भारत की औद्योगिक आबादी में गांवों के पुराने कारीगरों की ही संख्या अधिक है। **- वी एन गाडगिल**

22. भारत के औद्योगिक विकास संबंधी हमारी कार्यतालिका अतीत में सदैव बहुत श्रेयस्कर नहीं रही है, यह तो केवल युद्ध की आवश्यकताओं के दबाव में सरकार को शुद्ध भारतीय उद्योग के प्रति निस्पृहता की, संभवत: ईर्ष्या की भी, अपनी पुरानी भावना का परित्याग करना पड़ा। **- वेलेंटाइन शिराल**

23. इंग्लैंड को भारत से कुछ नहीं मिलता, सिवाय उसके जो अंग्रेजों की सेवाओं एवं खर्च की हुई उनकी पूँजी के बदले में मिलता है। **- स्ट्रेची**

24. हमारा लक्ष्य पूँजी अथवा पूँजीपतियों को नष्ट करना नहीं है, अपितु पूँजी और श्रम के बीच के संबंधों को नियमित करना है। हम पूँजी को अपने पक्ष में प्रयुक्त करना चाहते हैं। **- गांधी**

25. सरकार की उदासीनता ने हम पूँजीपतियों को कांग्रेस जैसे समाजवादी संगठनों के साथ कार्य करने के लिए बाध्य कर दिया है। **- नारानजी**

मॉडल उत्तर

प्रश्न : 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में मुक्त व्यापार की नीति ने किस प्रकार भारतीय कपड़ा और कुटीर उद्योगों को हानि पहुंचाई? (1998) (150 शब्दों में)

उत्तर : 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ब्रिटिश सरकार द्वारा अपनाई गई मुक्त व्यापार की नीति ने भारतीय कपड़ा उद्योग एवं कुटीर उद्योगों का विनाश कर दिया। इंग्लैंड में भारतीय वस्त्रों की बढ़ती मांग एवं लोकप्रियता से अंग्रेजी वस्त्र उद्योग के बंद होने का खतरा पैदा हो गया। इस स्थिति से घबराकर इंग्लैंड के वस्त्र निर्माताओं ने सरकार पर अंग्रेजी वस्त्र उद्योग को संरक्षण देने के लिए दबाव

DISCOVERY

डाला। बाध्य होकर सरकार को अपने वस्त्रों के लिए संरक्षणात्मक नीति अपनानी पड़ी। जिसके फलस्वरूप भारतीय वस्त्रों के प्रयोग व व्यापार को इंग्लैंड में प्रतिबंधित कर दिया गया जिससे मशीन से बने कपड़े की तुलना में भारतीय जुलाहों द्वारा तैयार माल महंगा हो गया व उसकी मांग घटने लगी।

इंग्लैंड की सरकार ने भारत से तैयार माल आयात करने की अपेक्षा कच्चा माल आयात करना ज्यादा बेहतर समझा। इसके लिए कुटीर उद्योगों का विनाश जरूरी था। इसके लिए कंपनी ने बुनकरों को लागत से भी कम कीमत पर अपना माल कंपनी को बेचने के लिए बाध्य कर दिया। कुटीर उद्योगों पर कठोर प्रतिबन्ध कंपनी द्वारा लगा दिए गए। कपास पर कंपनी का एकाधिकार स्थापित हो जाने से बुनकरों को कच्चा माल मिलना मुश्किल हो गया। फलस्वरूप भारतीय कुटीर उद्योग का विनाश होने लगा। इस नीति के तहत ब्रिटेन का बना सामान नि:शुल्क या नाममात्र के सीमा शुल्क पर भारत आने लगा। भारत में यह सामान नि:शुल्क देशी दस्तकारों द्वारा तैयार माल से सस्ता पड़ता था। फलत: देशी उद्योगों का विनाश प्रारंभ हो गया।

प्रश्न : ब्रिटिश शासन काल में ''धन निर्गम'' से आप क्या समझते हैं? भारत की अर्थव्यवस्था पर इसके क्या प्रभाव पड़े (1997) (150 शब्दों में)

उत्तर : वह धन जो भारत से बाहर मुख्य रूप से इंग्लैंड में भेजा जाता था और जिसके बदले में भारत को कुछ भी प्राप्त नहीं होता था, धन का निर्गम कहा जाता था। धन का यह निर्गम पश्चिम के देशों की ओर धात्विक मुद्रा के रूप में कम हुआ परंतु वस्तुओं के निर्यात के रूप में धन भारत से बाहर अधिक गया। कंपनी जो भी राजस्व भारत में प्राप्त करती थी, उसी से वस्तुओं का क्रय व अपने देश को निर्यात करती थी। 1858 ई. के बाद हुए संवैधानिक सुधारों के कारण कम्पनी के हिस्से का ऋण एवं उसकी समस्त देनदारियाँ भारत के हिस्से में आ गई। अब ब्रिटिश भारत के सारे अधिकारियों की पेंशन, इंग्लैण्ड से भारत के लिए खरीदे जाने वाले सैनिक साज-समान, सैनिकों के प्रशिक्षण पर होने वाला व्यय, परिवहन व्यय, भारत की सीमाओं से बाहर किए जाने वाले अभियानों पर आने वाला व्यय आदि के प्रति भारत सरकार की जिम्मेदारी थी। इसके परिणामस्वरूप भारतीयों पर कर को बोझ बढ़ गया। भारत की अर्थव्यवस्था की अंग्रेजी साम्राज्य पर निर्भरता बढ़ती चली गई। अंग्रेजों ने भारत में व्यापार एवं वाणिज्य पर शनै: शनै: एकाधिकार कर लिया। इस प्रकार भारतीयों का आर्थिक शोषण निरंतर बढ़ता चला गया।

प्रश्न : रेलवे ने भारत में वह किया जो अन्य और ने नहीं किया इसने परिवहन स्थिति के स्वरूप को बदलकर हस्तशिल्प को यांत्रिक उद्योग में बदलने की गति में शीघ्रता प्रदान की।'' विवेचन कीजिए। (1992) (150 शब्दों में)

उत्तर : 1853 ई. में लार्ड डलहौजी के प्रयासों के परिणामस्वरूप भारत में पहली रेल लाइन बंबई से थाने तक चालू कर दी गई। इसके पश्चात् तेजी से रेल का विकास हुआ। इससे भारत में औद्योगीकीरण की प्रक्रिया प्रारंभ हुई, लेकिन यह काम हस्तकला उद्योग की कीमत पर हुआ। देशी उद्योगों का विनाश, जो परम्परागत तकनीक से निर्मित थी, विदेशी वस्तुओं से प्रतिस्पर्द्धा कर पाने में असमर्थ थी, जो मशीनों द्वारा निर्मित थी। रेल की सहायता से ब्रिटेन की बनी वस्तुएं देश के कोने-कोने में सुगमता से पहुंचने लगी। इनका देशी उद्योगों पर बुरा प्रभाव पड़ा। अब लोग ब्रिटेन एवं विदेशों से बनी सस्ती वस्तुएं खरीदना चाहते थे। विदेशी वस्तुओं ने भारत के गांवों में पहुंचकर परम्परागत ग्रामीण उद्योगों को बंद करने की स्थिति में पहुंचा दिया, जिससे शहरी व नगरीय शिल्पकारों को भारी क्षति हुई। रेलवे के विकास के साथ-साथ बड़े व मशीनीकृत उद्योगों की स्थापना ने ग्रामीण एवं कुटीर उद्योगों को पनपने का अवसर नहीं दिया। भारत में धीरे-धीरे हस्तकला उद्योग का मशीनीकरण हो रहा था। लेकिन इससे भारत में आधुनिकीकरण की प्रक्रिया शुरू हुई। इस आधुनिकीकरण के फलस्वरूप भारत में मशीन आधारित उद्योगों का विकास हुआ जैसे - सूती वस्त्र उद्योग, जूट उद्योग आदि। भारत का निर्यात बढ़ा एवं भारतीयों को रोजगार के अवसर प्राप्त हुए। रेल के विकास ने भारत में सामाजिक, आर्थिक,राजनीतिक जीवन में क्रांति उत्पन्न कर दी थी।

10. ब्रिटिश सरकार की प्रशासनिक एवं सैन्य नीतियाँ

भारत में न्यायिक प्रणाली का विकास

आधुनिक न्याय प्रणाली की शुरूआत 18वीं सदी में कलकत्ता में उच्चतम न्यायालय की स्थापना से ही हो गई थी परंतु इसकी वास्तविक शुरूआत तब हुई जब 1861 ई. में बम्बई और मद्रास में उच्च न्यायालय स्थापित हुए। उच्च न्यायालय के कम-से-कम एक-तिहाई जजों की भर्त्ती भारतीय सिविल सर्विस से होनी थी तथा दो-तिहाई इंग्लैण्ड के बैरिस्ट्री एवं स्कॉटलैण्ड के वकीलों से। उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीशों की नियुक्ति इंग्लैण्ड के वकीलों से ही की जाती थी। लार्ड रिपन ने 1881 ई. में पहली बार एक भारतीय रमेशचन्द्र मित्र को कलकत्ता उच्च न्यायालय का मुख्य न्यायाधीश नियुक्त किया। 1911 ई. में लाहौर तथा रंगून में भी उच्च न्यायालय स्थापित किए गए।

सिविल सर्विसेस से न्याय प्रशासकों की नियुक्ति का भारतीय लोकमत ने जमकर विरोध किया और इसे समाप्त करने की मांग की, परन्तु 1935 ई. के भारत शासन अधिनियम द्वारा भी यह संभव नहीं हुई। 1935 ई. के भारतीय अधिनियम द्वारा संघीय प्रशासन के चलते न्यायपालिका में एक परिवर्तन आवश्यक हो गया। इस अधिनियम की धारा 200 और 203 में एक संघीय न्यायालय के गठन की व्यवस्था की गई। इसमें एक मुख्य न्यायाधीश तथा छः जज होने थे। जजों को ब्रिटिश संप्रभु नियुक्त करते थे और वे 65 वर्ष तक पदासीन रह सकते थे। संघीय न्यायालय दो प्रांतों के बीच, एक प्रांत और रियासत के बीच और एक प्रांत तथा संघीय पदाधिकारियों के बीच संवैधानिक झगड़े होने पर निर्णय देने का अधिकार रखता था। संघीय न्यायालय उच्च न्यायालय की अपील भी सुनता था। संघीय न्यायालय एक अक्टूबर, 1937 ई. को स्थापित किया गया और 1947 ई. तक न्याय प्रणाली इस आधार पर ही चलती रही। अंग्रेजों द्वारा स्थापित की गई न्यायिक व्यवस्था ने दो सिद्धान्तों (कम से कम सैद्धांतिक रूप में ही सही) का अनुसरण किया:

1. विधि का शासन
2. कानून के सम्मुख समानता
   - लेकिन व्यवहार में यह जातीय भेदभाव से भरी हुई थी जैसा कि इल्बर्ट बिल विवाद से स्पष्ट है।
   - अधिकारियों ने अतिरिक्त कानूनी अधिकारों का उपयोग किया।
   - कानून स्वयं में ही त्रुटिपूर्ण था क्योंकि इनका निर्माण लोकतांत्रिक पद्धति से नहीं हुआ था।

विधि का शासन

अंग्रेजों ने कानून के शासन या विधि-शासन की आधुनिक अवधारणा को लागू किया। इसका अर्थ था उनका प्रशासन कम से कम सैद्धांतिक रूप में कानूनों के अनुसार चलाया जाएगा, न कि शासक की सनक या व्यक्तिगत इच्छा के अनुसार। कानूनों ने प्रजा के अधिकारों, विशेषाधिकारों एवं जिम्मेदारियों को स्पष्ट रूप से परिभाषित किया था। किसी भी अधिकारी के खिलाफ न्यायालय में सरकारी जिम्मेदारी को नहीं निभाने या अपनी अधिकार सीमा के बाहर जाकर कार्यवाही करने के लिए मुकद्दमा चलाया जा सकता था। भारतीय प्रशासन मुख्य रूप से कानूनों के आधार पर न्यायालयों द्वारा की गयी व्याख्या के अनुसार चलाया जाता था। लेकिन व्यवहार

DISCOVERY

में कानून नौकरशाही एवं पुलिस के हाथों में काफी अधिकार दे देते थे। फलत: ये जनता की स्वतंत्रताओं एवं अधिकारों में हस्तक्षेप करते थे। कानून बहुधा त्रुटिपूर्ण होते थे। कानून जनता द्वारा जनतांत्रिक प्रक्रियाओं के द्वारा नहीं बनाये गए थे।

कानून के सम्मुख समानता

इसका मतलब था कि कानून की निगाहों में सारे मनुष्य बराबर हैं। उसने जाति, वर्ग या धर्म के आधार पर विभेद को त्याग दिया। अब दीनहीन लोग भी न्यायालयों में जा सकते थे। लेकिन इस सिद्धांत का एक अपवाद था कि यूरोपवासियों एवं उनके वंशजों के लिए अलग अदालत और यहाँ तक कि अलग कानून थे। फौजदारी मामलों में उनकी सुनवाई केवल यूरोपीय जज ही कर सकते थे। हांलाकि न्याय की विफलता प्राय: देखी जाती थी। इसके अलावे, इस प्रणाली में न्याय अत्यन्त जटिल एवं महँगा हो गया और धनी लोग कानूनों एवं कचहरियों को अपने पक्ष में कर लेते थे।

सिविल सेवा का विकास

कार्नवालिस को भारत में नागरिक सेवा का जन्मदाता माना जाता है। वह 1786 ई. में भारत का गवर्नर बनकर आया। उस समय प्रशासन में व्यापक भ्रष्टाचार एवं घूसखोरी फैली हुयी थी। क्लाइव एवं वारेन हेस्टिंग्स इसे दूर करने में असफल रहे थे। परंतु कार्नवालिस इन बुराइयों को दूर करने के लिए दृढ़प्रतिज्ञ था। उसने निजी व्यापार और अफसरों द्वारा नजराने एवं घूस लेने के खिलाफ सख्त कानून बनाए। उसके अतिरिक्त अफसरों के वेतन भी बढ़ा दिए तथा जिले में कुल राजस्व रकम की वसूली का एक प्रतिशत देना भी तय हुआ। प्रोन्नति वरिष्ठता के आधार पर दिए जाने का भी प्रावधान किया गया। लॉर्ड वेलेज्ली ने 1800 ई. में अधिकारियों के प्रशिक्षण के लिए कलकत्ता में फोर्ट विलियम कॉलेज खोला जिसे 1806 ई. में इंग्लैंड के हैलोबरी में स्थानांतरित कर दिया गया।

1853 ई. के चार्टर एक्ट के द्वारा नागरिक सेवा की सारी नियुक्तियाँ प्रतियोगी परीक्षा के द्वारा किए जाने का प्रावधान किया गया। इससे पहले सारी नियुक्तियाँ ईस्ट इण्डिया कम्पनी के निदेशक द्वारा किया जाता था। ब्रिटिश नागरिक सेवा की एक प्रमुख विशेषता यह थी कि इससे भारतीयों को अलग रखने का भरपूर प्रयास किया गया। 1793 ई. के एक निर्णय के अनुसार 500 पौंड सलाना से अधिक वेतन पाने वाले पद पर केवल अंग्रेज ही नियुक्त किए जा सकते थे। यह नियम सरकार की सभी शाखाओं में लागू किया गया था। इस नीति के पालन करने की जड़ में दो बातें थी-एक यह कि अंग्रेजों को यह विश्वास था कि उनके विचार एवं नीतियों को सिर्फ अंग्रेज ही लागू कर सकते हैं तथा दूसरा, उन्हें भारतीयों की योग्यता पर विश्वास नहीं था। कार्नवालिस का यह कथन कि "हिन्दुस्तान का हर निवासी भ्रष्ट है" केवल उसकी संकुचित, प्रतिक्रियात्मक एवं पक्षपातपूर्ण नजरिये को ही जाहिर करता है। अगर यह कथन भारतीयों पर लागू होता था, तो इससे ज्यादा यह अंग्रेजों पर लागू होता था, क्योंकि अंग्रेज अफसरों में व्याप्त भ्रष्टाचार को रोकने के लिए ही कार्नवालिस ने उनके वेतनों में वृद्धि की थी।

1853 ई. के बाद से नागरिक सेवाओं में नियुक्ति के लिए लंदन में खुली प्रतियोगिता आयोजित की जाने लगी। इसमें भारतीयों को भी बैठने का अधिकार प्रदान किया गया। 1863 ई. में सत्येन्द्र नाथ टैगोर इस परीक्षा में सफल होनेवाले प्रथम भारतीय बने। इस सेवा में भारतीयों की संख्या नगण्य ही रही। प्रथमत: यह परीक्षा ग्रीक एवं लैटिन ज्ञान पर आधारित थी एवं अंग्रेजी इसका माध्यम थी। इसके अतिरिक्त इस परीक्षा में बैठने की आयु भी कम थी। यह 1859 ई. में 23 वर्ष थी जिसे घटाकर 1875 ई. में 19 वर्ष कर दिया गया। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने अपनी स्थापना के बाद से ही आयु बढ़ाने की मांग तथा इस परीक्षा को लंदन की बजाए भारत में कराने की मांग कर रही थी।

विभिन्न उपायों द्वारा अंग्रेजों का यही प्रयास रहा कि प्रशासन में भारतीयों को कम-से-कम प्रतिनिधित्व दिया जाए। 1918 में भारतीय दबाव में प्रशासन का भारतीयकरण प्रारंभ हुआ। फिर भी स्थिति में कोई खास परिवर्तन नहीं हुआ। अगर कुछ भारतीय इस सेवा में आए भी तो वे मात्र ब्रिटिश शासन में एक एजेंट एवं उनके वफादार सेवक के रूप में ही रहे। परंतु 1930 के बाद के दशक में इस सेवा के स्वरूप में बदलाव आने लगा। बढ़ता राष्ट्रीय आंदोलन अंग्रेजों को इस सेवा में आने से हतोत्साहित करने लगा। 1939 तक तो स्थिति यह बन गई कि इस सेवा से जुड़े भारतीयों की संख्या 50 प्रतिशत हो गई। प्रशासन के स्वरूप में बदलाव दृष्टिगोचर होने लगे थे। ये भारतीय नौकरशाह अब भारतीय पुट लिए हुए ब्रिटिश शासन के प्रति ईमानदार बने हुए थे।

स्थानीय स्वशासन का विकास

आरंभ में स्वशासन संबंधी कार्य कुछ कामचलाऊ संस्थाओं के माध्यम से किए जा रहे थे। सन् 1816 और 1819 में बंगाल में अधिनियम बनाए गए जिसके अन्तर्गत स्वशासन को नौघाटों के रखरखाव, सड़कों के निर्माण एवं इसकी मरम्मत, पुलों एवं नालियों के निर्माण हेतु कर वसूलने का अधिकार दिया गया।

लार्ड मेयो ने 1870 में स्थानीय स्वशासन की व्यवस्था में ऐतिहासिक सुधार लाया। शिक्षा, सफाई, चिकित्सा सहायतार्थ तथा जन कार्य हेतु कोष के प्रबन्धन एवं देख-रेख के लिए अलग-अलग समिति के अन्तर्गत सरकारी तथा गैर-सरकारी सदस्यों के अलावा एक सरकारी अध्यक्ष की नियुक्ति की व्यवस्था की गई। परन्तु, यह व्यवस्था सरकारी सदस्यों के प्रभुत्व में कार्य कर रही थी। लार्ड रिपन ने बाद में खुले व स्वतंत्र रूप से स्थानीय स्वशासन का रूप प्रस्तुत किया। इसके अन्तर्गत 1882 के महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव के तहत सम्पूर्ण देश के लिए स्थानीय परिषदों के तन्त्र की व्यवस्था की गई, जिसमें गैर-सरकारी सदस्यों का बाहुल्य था। इन गैर-सरकारी सदस्यों का निर्वाचन होता था जो सरकार की सहमति से अपने बीच से ही एक अध्यक्ष का चुनाव करते थे। प्रत्येक परिषद् को एक छोटे क्षेत्र, जैसे अनुमण्डल या तालुके का क्षेत्राधिकार सौंपा गया। लापरवाही और दोष के मामलों में कुछ प्रावधानों के अन्तर्गत सरकार इन परिषदों पर अपना नियंत्रण रखने का अधिकार रखती थी। दुर्भाग्य से नौकरशाही के प्रतिरोध के कारण इन प्रावधानों का कार्यान्वयन सही ढंग से नहीं किया जा सका।

सन् 1908 में रॉयल कमीशन ने विकेन्द्रीकरण के आधार पर ग्राम पंचायतों तथा उप-जिला परिषदों के विकास पर जोर डाला। इस आयोग की सिफारिश के आधार पर ग्राम पंचायतों को अर्द्धन्यायिक तथा प्रबंधन से संबंधित अधिकार सौंपने की व्यवस्था की गई तथा पंचायतों को प्रबंधन से संबंधित खर्च के वहन के लिए कर लगाने के अधिकार दिए गए। यह व्यवस्था 1915 तक लागू रही जब लार्ड हार्डिंग ने स्थानीय संस्थाओं को निर्वाचित के बदले मनोनीत अध्यक्ष को ज्यादा उत्तरदायी बनाने का प्रस्ताव किया। 1919 के मान्टेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधार ने स्थानीय स्वशासन को परिवर्तनीय विषय के रूप में रखा और मंत्रियों को नीतियों के व्यावहारिक क्रियान्वयन के लिए उत्तरदायी बनाया गया। परन्तु कोष के अभाव में भारतीय मंत्री ठीक तरह से कार्य नहीं कर सके क्योंकि उस समय 'वित्त' एक कार्यकारी पार्षद के नियंत्रणाधीन 'सुरक्षित' विषय के अंतर्गत था।

1935 के भारतीय शासन अधिनियम के प्रान्तीय स्वायत्तता के प्रावधान के द्वारा स्थानीय संस्थाओं के विकास को प्रेरक शक्ति मिली। लोकप्रिय मंत्रालयों को वित्त के नियंत्रण का अधिकार दिया गया जो स्थानीय स्वशासन के अंगों को समुचित कोष सुनिश्चित कराते थे। व्यावहारिक तौर पर सभी प्रान्तों में नए अधिनियम बनाए गए जिसमें स्थानीय स्वशासन के अंगों को ज्यादा जिम्मेवारी देने का प्रावधान था। लेकिन इन अंगों को भी धनाभाव का सामना करना पड़ता था।

ब्रिटिश सैन्य नीति

1857 के पश्चात् अंग्रेजों ने सेना का व्यवस्थित पुनर्गठन प्रारंभ किया। अंग्रेजों द्वारा सेना के पुनर्गठन का मुख्य उद्देश्य 1857 के विद्रोह जैसी किसी घटना की पुनरावृत्ति को रोकना था। इसके अतिरिक्त ब्रिटिश सरकार इस क्षेत्र में विश्व की अन्य साम्राज्यवादी शक्तियों यथा रूस, जर्मनी फ्रांस इत्यादि से भी अपने उपनिवेशों की रक्षा के निमित भारतीय सेना का उपयोग करना चाहती थी। सरकार की नीति यह थी कि वह सेना की भारतीय शाखा का उपयोग एशिया एवं अफ्रीका में अपने उपनिवेशों के विस्तार में करेगी तथा सेना की ब्रिटिश शाखा का उपयोग भारत में अंग्रेजी शासन की पकड़ मजबूत करने तथा उसे स्थायित्व प्रदान करने में किया जाएगा।

सरकार की इस नीति के तहत सेना की भारतीय शाखा पर यूरोपीय शाखा की सर्वोच्चता सुनिश्चित की गयी। इस संबंध में 1859 एवं 1879 में गठित आयोगों ने सुझाव दिया कि अंग्रेजी सेना की संख्या कम से कम एक-तिहाई अवश्य होनी चाहिए। 1857 से पहले अंग्रेजी सेना की संख्या केवल 14 प्रतिशत थी। यूरोपीय सैनिकों की संख्या, जो 1857 से पूर्व 45 हजार थी अब बढ़ाकर 65 हजार कर दी गयी तथा भारतीय सैनिकों की संख्या 2 लाख 38 हजार से घटाकर 1 लाख 40 हजार कर दी गयी। बंगाल में यूरोपीय सैनिकों का अनुपात 1: 2 रखा गया, जबकि बंबई तथा मद्रास में यह अनुपात 1:3 का सुनिश्चित किया गया। संवदेनशील भौगोलिक

क्षेत्रों तथा सेना के महत्त्वपूर्ण विभागों यथा तोपखाने, सिगनल्स तथा सशस्त्र बलों में कड़ाई से यूरोपियनों का एकाधिकार स्थापित किर गया। यहां तक कि सन् 1900 तक भारतीय सैनिकों को दी जाने वाली बंदूकें, यूरोपियनों की तुलना में घटिया किस्म की होती थ तथा सेना के किसी महत्त्वपूर्ण विभाग में भारतीयों को कोई महत्त्वपूर्ण दायित्व नहीं सौपा जाता था। यह स्थिति द्वितीय विश्व यु तक बनी रही। सेना में आफीसर रैंक के पद पर किसी भारतीय को नियुक्त किए जाने की अनुमति नहीं थी तथा 1914 तक से का सर्वोच्च पद, जहां कोई भारतीय पहुंच सकता था वह सूबेदार का था। 1918 के पश्चात् ही भारतीयों को सेना में कमीशन (रैंक दिया जाना प्रारंभ हुआ। 1926 के अंत में भारतीय सैंडहर्स्ट आयोग ने अनुमान लगाया कि 1952 तक सेना में अधिकारियों का केव 50 प्रतिशत भारतीयकरण ही हो सकेगा।

संतुलन एवं प्रतिसंतुलन नीति के आधार पर सेना की भारतीय शाखा का पुनर्गठन किया गया। 1879 के सेना आयोग ने इस बात पर बल दिया कि सेना में भारतीयों को भारतीयों से संतुलित किया जाए तथा यूरोपियनों की सर्वोच्चता स्थापित की जाए। सन् 1887 1892 तक सेना के कमांडर- इन चीफ रहे लार्ड रार्बट्स के काल में एक नयी विचारधारा का विकास हुआ। इसके अनुसार लड़ा जातियों एवं गैर-लड़ाकू जातियों की स्थिति स्पष्ट होनी चाहिए। इससे विशिष्ट समुदायों से सेना को अच्छे फौजी प्राप्त हो सकें कालांतर में इसी विचारधारा के तहत सिक्ख, गोरखा एवं पठानों को सेना में भर्ती किया गया तथा इनका प्रयोग भारतीयों द्वारा कि जाने वाले विद्रोहों तथा राष्ट्रवादी आंदोलन को कुचलने के लिये किया गया। इसके पीछे सरकार की मंशा यह थी कि इससे भारती में प्रजातीय भेदभाव पनपेगा तथा राष्ट्रवादी आंदोलन स्वयमेव दुर्बल हो जाएगा।

1857 के विद्रोह में वे स्थान, जहां के सैनिकों ने विद्रोहियों का साथ दिया था, गैर-लड़ाकू जाति के घोषित कर दिये गए। इन स्थानों अवध, बिहार, मध्य भारत एवं दक्षिण भारत प्रमुख थे। इससे भी अधिक, सेना की सभी रेजीमेंट्स में जातीय एवं साम्प्रदायिक कंपनि का गठन किया गया तथा भारतीय शाखा में संतुलन के लिये विभिन्न सामाजिक जातीय तबकों से युवाओं को सेना में भर्ती कि गया। सैनिकों में साम्प्रदायिक, जातीय, दलीय तथा क्षेत्रीय भावनाओं को उभारा गया, जिससे राष्ट्रवाद के विकास को रोका जा स भारत सचिव चार्ल्स वुड ने घोषणा की कि उसकी इच्छा है कि सैनिकों में विद्रोह एवं प्रतिद्वंदितापूर्ण भावनाओं का विकास कि जाए, जिससे आवश्यकता पड़ने पर सिक्ख, हिन्दू, गोरखा इत्यादि सभी एक दूसरे पर बिना किसी हिचकिचाहट के गोली चला स

ईस्ट इंडिया कंपनी की सेना भी अंग्रेजी सेना में सम्मिलित कर ली गयी तथा यूरोपीय पदाति एवं घुड़सवार ब्रिटेन के पदातियों घुड़सवारों में सम्मिलित कर लिये गए। अंग्रेजी सेना के सैनिक तथा पदाधिकारी, भारत में सेवा करने तथा अनुभव प्राप्त करने के उद्दे से नियमित रूप से भारत भेजे जाने लगे। बंबई, मद्रास तथा बंगाल के तोपखाने, शाही तोपखाने एवं शाही इंजीनियर्स मे सम्मिलित लिये गए। पंजाब, नेपाल तथा उत्तर पश्चिमी प्रांतों की जातियों को अच्छा फौजी मानकर उन्हें बहुसंख्या में सेना में भर्ती किया ग जिन प्रदेशों के सैनिकों ने विद्रोहों में अधिक भाग लिया था, वहां के लोगों की सेना में भर्ती बंद कर दी गयी।

सेना के इस पुनर्गठन से रक्षा व्यय बहुत अधिक बढ़ गया, जिसका बोझ भारतीय जनता पर डाल दिया गया। यह कार्य वस्तुत: अं लोलुपता के लिये था, भारत की रक्षा के लिये नहीं।

अंतत: सेना को समाज एवं देश की मुख्य-धारा से बिल्कुल अलग कर देने का प्रयास किया गया जिससे उनमें देशप्रेम की भा बिल्कुल जागृत न हो सके। इसके लिये राष्ट्रवादी समाचार पत्रों, पत्रिकाओं एवं जर्नल्स से उन्हें दूर कर दिया गया तथा सैनिकों उनकी गतिविधियों तक ही सीमित कर देने के उपाय किए गए।

इस प्रकार ब्रिटिश भारतीय सेना साम्राज्यवाद की रक्षा करने वाली एक मशीन बनकर रह गयी।

अंग्रेजों की शिक्षा नीति

1813 ई. के पश्चात् बंगाल में भारतीयों का अंग्रेजी शिक्षा की मांग करने का मुख्य उद्देश्य लौकिक क्षेत्र की अज्ञानता को करने तथा प्रशासन में भाग लेने योग्य बनना था। ईसाई मिशनरी भी अंग्रेजी शिक्षा को लौकिक ज्ञान तथा उदार शिक्षा के विका सहायक समझते थे। साथ ही उनका विचार यह भी था कि इस ज्ञान से भारतीय विद्यार्थी अपने पुराने धर्मों के अंधविश्वासी होने सहज यकीन कर सकेंगे और ईसाई धर्म को सुविधापूर्वक ग्रहण कर लेंगे। कुछ अंग्रेज प्रशासक भी इस विचार से सहमत थे। मै

ने स्वयं अपने पिता को लिखा था : 'यह मेरा दृढ़ विश्वास है कि यदि हमारी शिक्षा योजनाओं पर कार्य किया गया तो तीस वर्ष पश्चात् बंगाल के सम्मानित वर्गों में एक भी मूर्तिपूजक नहीं बचेगा।' आरंभ में अंग्रेजी शिक्षा के प्रति इसलिए भी आकर्षण था कि इससे कंपनी के अधीन नौकरी सरलता से मिल सकती थी।

1823 ई. में कंपनी ने शिक्षा से संबंधित एक जनरल कमेटी का गठन किया। जेम्स मिल के प्रभाव में 1824 ई. में संचालक समिति ने आदेश भेजे कि कंपनी को उदार शिक्षा को प्रोत्साहित करना चाहिए। उपयोगिता के आधार पर संचालकों ने पश्चिमी शिक्षा के महत्त्व पर बल दिया। 1824 ई. से 1835 ई. तक संचालकों ने कंपनी सरकार का ध्यान कई बार इस ओर आकर्षित किया। बेंटिक ने प्रशासन का खर्च कम करने के लिए अंग्रेजों की बजाए कुछ निम्न पदों पर भारतीयों को नियुक्त करना आरंभ किया। इससे अंग्रेजी शिक्षा के पक्ष में जनमत और अधिक बढ़ा। बेंटिक स्वयं बेंथम के प्रभाव में था और उपयोगितावाद से प्रभावित होकर अंग्रेजी शिक्षा को फैलाना चाहता था। भारतीय नेता भी अंग्रेजी शिक्षा के पक्ष में थे। 1834 ई. में मैकाले गवर्नर जनरल की कौंसिल में विधि सदस्य बना उसी समय बैंटिक ने अंग्रेजी शिक्षा के पक्ष में नीति-निर्धारित करने का निश्चय किया।

मैकाले स्वयं बेंथम के उपयोगितावाद तथा ईसाई मिशनरियों से प्रभावित था। वह अंग्रेजी शिक्षा का समर्थक था और यह समझता था कि समस्त ज्ञान पश्चिमी दर्शन तथा साहित्य में भरा हुआ था। कुछ अंग्रेज अधिकारियों ने मैकाले की नीति का समर्थन नहीं किया। वाद-विवाद इतना बढ़ा कि मैकाले ने त्यागपत्र की धमकी दी। बेंटिक ने मैकाले का समर्थन किया और 7 मार्च, 1835 ई. के प्रस्ताव में उसने घोषणा की : 'अंग्रेजी सरकार का महान उद्देश्य भारत के निवासियों में यूरोपीय साहित्य तथा विज्ञान को प्रोत्साहन देना होना चाहिए इसलिए शिक्षा के उपलब्ध समस्त धनराशि का उत्तम उपयोग अंग्रेजी शिक्षा मात्र पर खर्च करना होगा।'

कंपनी द्वारा अंग्रेजी शिक्षा मात्र पर ही धनराशि खर्च करने के निर्णय की काफी आलोचना हुई। प्राच्यवेत्ताओं ने संचालक समिति को विरोध पत्र भेजकर असंतोष व्यक्त किया। एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल और लंदन की रॉयल एशियाटिक सोसायटी ने भी इस नीति का विरोध किया। उनका मुख्य तर्क था कि इससे प्राच्य विद्याओं का विकास नहीं हो सकेगा। वे अंग्रेजी शिक्षा के सरकारी भाषा बनाए जाने के विरुद्ध नहीं थे। उनका विरोध मैकाले द्वारा प्राच्य विद्याओं के संबंध में कही गई अपमानजनक बातों से था। वे मैकाले के उस लक्ष्य से भी सहमत नहीं थे जिसके अनुसार वह भारतवासियों को चिंतन और रुचि से अंग्रेज बना देना चाहता था। कालांतर में मैकाले का कथन कुछ अंशों में सही सिद्ध होता दिखाई पड़ा क्योंकि अंग्रेजी पढ़े-लिखे नवयुवक अपने साधारण देशवासियों के चिंतन और रुचि से अलग-थलग पड़ गए।

1835 ई. के पश्चात् अंग्रेजी शिक्षा के प्रसार में तीव्रगति से वृद्धि हुई। इसका सबसे अधिक प्रभाव बंगाल पर पड़ा। 1844 ई. में लार्ड हार्डिंग ने यह घोषणा की कि सार्वजनिक सेवाओं में केवल उन लोगों को ही नौकरी दी जाएगी जिन्होंने पश्चिमी शिक्षा संस्थाओं में शिक्षा प्राप्त की थी।

चार्ल्स वुड डिस्पैच

शिक्षा नीति के विकास में एक महत्त्वपूर्ण कार्य 1854 ई. के 'वुड डिस्पैच' ने किया। सर चार्ल्स वुड उस समय बोर्ड ऑफ कंट्रोल का अध्यक्ष था। उस समय इंग्लैंड में ईसाई मिशनरियों का पक्ष काफी प्रभावशाली था। मिशनरियों द्वारा बंगाल तथा अन्य प्रांतों में विभिन्न स्कूलों तथा कॉलेजों का संचालन होता था। वे शिक्षा के प्रसार से भारतवासियों को अधिक संख्या में ईसाई बनाने की कल्पना करते थे। उन्हें इस कार्य के लिए धन की आवश्यकता थी। लंदन से विभिन्न ईसाई संस्थाएं धन भेजती थीं किंतु वह अपर्याप्त होता था। इसलिए वे सरकार से निश्चित सहायता चाहते थे। सर चार्ल्स वुड ईसाई मिशनरियों के अतिरिक्त उच्च शिक्षा के समर्थकों को भी संतुष्ट करना चाहता था। इस डिस्पैच ने मुख्य रूप से निम्न व्यवस्था को स्थापित करने का प्रयत्न किया।

1. शिक्षा प्रशासन के लिए एक पृथक् विभाग की स्थापना की जाए। फलस्वरूप विभिन्न प्रान्तों में डायरेक्टर (निदेशक), पब्लिक इंस्ट्रक्शन की नियुक्ति की गई। उनकी सहायता के लिए विभिन्न इंस्पेक्टर नियुक्त किए गए। इस प्रकार शिक्षा प्रसार प्रशासकों के अधीन हो गया।
2. तीनों प्रेसिडेंसियों के मुख्य नगरों में विश्वविद्यालयों की स्थापना की जाए। इन विश्वविद्यालयों की स्थापना 1858 ई. में की गई। इन विश्वविद्यालयों को लंदन विश्वविद्यालय के आधार पर स्थापित करने का प्रयत्न किया गया। लंदन विश्वविद्यालय मुख्यत:

परीक्षाएं संचालित करता था। ये विश्वविद्यालय ऑक्सफोर्ड और कैंब्रिज के आधार पर स्थापित नहीं किए गए। डलहौजी ने इन विश्वविद्यालयों में प्रोफेसरों की नियुक्ति का विरोध किया था।

3. प्रशिक्षित अध्यापकों के लिए ट्रेनिंग कॉलेजों की स्थापना की जाए। नए माध्यमिक स्कूलों की स्थापना की जाए। सरकारी हाई स्कूलों और कॉलेजों को आवश्यकतानुसार बढ़ाया जाए।
4. प्रारंभिक शिक्षा और वर्नाक्यूलर स्कूलों पर अधिक ध्यान दिया जाए। स्त्री शिक्षा पर भी ध्यान देने की सिफारिश की गई।
5. शिक्षा संस्थाओं को ग्रांट-इन एड (अनुदान पद्धति) के आधार पर सहायता दी जाए। इस सिद्धान्त के लागू करने से धार्मिक भेदभाव समाप्त करने में मदद मिली। इसका स्पष्ट परिणाम यह हुआ कि ईसाई मिशनरियों के स्कूलों को अब सरकारी सहायता सरलता से उपलब्ध हो गई।

इस डिस्पैच के आधार पर कार्य 1858 ई. के पश्चात् ही संभव हो सका क्योंकि 1855-56 ई. में डलहौजी अन्य राजनीतिक कार्यों में लगा रहा और 1857-58 ई. में व्यापक जन विप्लव के फलस्वरूप सामान्य प्रशासन में शिक्षा की ओर ध्यान नहीं दिया जा सका।

1850 के पश्चात् अधिक ध्यान माध्यमिक तथा उच्च शिक्षा के विकास पर दिया गया। 1870 ई. में वित्तीय विकेंद्रीकरण के पश्चात् शिक्षा का खर्च प्रांतों को हस्तांतरित कर दिया गया। इससे शिक्षा प्रसार के लिए उपलब्ध साधनों में कमी आ गई। कुछ प्रांतों में शिक्षा कर लगाए गए अथवा सरकारी अनुदान प्राप्त करने के लिए शिक्षा के क्षेत्र में निजी प्रयत्नों को प्रोत्साहन दिया गया। प्राइमरी शिक्षा की ओर कम ध्यान दिए जाने का एक कारण यह भी था कि 1859 ई. में भारत सचिव ने सरकारी अनुदान को केवल माध्यमिक तथा उच्च शिक्षा के लिए ही निर्धारित कर दिया। वर्नाक्यूलर शिक्षा के लिए सरकारी अनुदान को अनुपयुक्त बताया गया। इसलिए प्राइमरी और वर्नाक्यूलर शिक्षा विभिन्न प्रांतों में बहुत कम विकसित हुई।

प्राइमरी शिक्षा के पिछड़े रहने के कुछ अन्य कारण थे। साधारण जनता के पास धन की कमी थी और गांवों तथा छोटे नगरों में श्रमिकों तथा कृषकों को अपने बालकों को छोटी आयु से ही काम पर भेजना पड़ता था। परंपरागत शिक्षा का महत्त्व भी अधिक समझा जाता था इसलिए कुछ अक्षर ज्ञान ही पर्याप्त होता था। 1870 ई. के पश्चात् कुछ उच्च शिक्षा प्राप्त भारतीय आई. सी. एस. की परीक्षाओं में सफल होने लगे। फलत: अंग्रेज सरकार ने एक ओर परीक्षाओं में बैठने की अधिकतम आयु कम कर दी, दूसरी ओर उच्च शिक्षा की अपेक्षा प्रारंभिक शिक्षा पर भी अधिक ध्यान देना आरंभ किया। सरकार का प्रारंभिक शिक्षा के अविकसित होने पर चिंता व्यक्त करना एक ओर जहां व्यर्थ की व्याख्या करना था दूसरी ओर सरकार के उच्च शिक्षा पर खर्च किए जाने वाले धन को कम करने के मंतव्य को भी स्पष्ट करता था। लिटन के समय में दिल्ली कॉलेज को बंद कर दिया गया तथा यूरोपियन और एंग्लो-इंडियन बालकों की शिक्षा के लिए अधिक धन खर्च किया गया। संयोगवश 1870 ई. में लिबरल मंत्रिमंडल ने अनिवार्य प्रारंभिक शिक्षा अधिनियम भी पास कर दिया। रिपन (जिसका 1870 ई. अधिनियम में योगदान उल्लेखनीय था) के भारत आगमन के पश्चात् लिबरल विचारधारा और साम्राज्यवादियों की महत्त्वाकांक्षा एक ही दिशा में कार्य करने लगी।

हंटर कमीशन

रिपन ने 1854 ई. के वुड्स डिस्पैच के कार्यों का मूल्यांकन करने के लिए डब्लू हंटर की अध्यक्षता में एक कमीशन नियुक्त किया। इस कमीशन में अध्यक्ष के अतिरिक्त 20 सदस्य थे, जिनमें से 8 भारतीय थे। इस कमीशन का मुख्य लक्ष्य ऐसे उपाय सुझाना था जिससे प्रारंभिक शिक्षा का प्रसार अधिक हो सके। इस कमीशन ने विभिन्न प्रांतों का दौरा करके एक विस्तृत रिपोर्ट 1883 ई. में प्रस्तुत की। इसकी उच्च शिक्षा संबंधी मुख्य सिफारिशें इस प्रकार थीं : (1) सरकार को उच्च शिक्षा संस्थाओं के सीधे संचालन तथा प्रबंध से अपना हाथ धीरे-धीरे हटा लेना चाहिए। इसके स्थान पर सरकार द्वारा कॉलेजों के लिए सामान्य वित्तीय सहायता तथा विशेष अनुदान निर्धारित कर दिया जाना चाहिए। (2) विभिन्न कॉलेजों में एक ही प्रकार का पाठ्यक्रम निर्धारित न किया जाए बल्कि विश्वविद्यालय को कई प्रकार के पाठ्यक्रम निर्धारित करने चाहिए। (3) नैतिक शिक्षा की एक पुस्तक, जिसमें धर्म के आवश्यक तथा मौलिक सिद्धांतों का उल्लेख हो, तैयार करवाई जाए और उसे सरकारी तथा गैर सरकारी स्कूलों में अनिवार्य कर दिया जाए। (4) कॉलेज के छात्रों से ली जाने वाली फीस तथा उनकी उपस्थिति के संबंध में कुछ सामान्य नियमों का पालन किया जाना चाहिए। छात्रवृत्ति से संबंधित नियमों को भी नए सिरे से बनाया जाना चाहिए।

माध्यमिक और प्राइमरी शिक्षा से संबंधित मुख्य सिफारिशें इस प्रकार थीं : (1) हाई स्कूलों में दो प्रकार की शिक्षा का प्रबंध होना चाहिए। एक प्रवेश परीक्षा के लिए हो, दूसरी विद्यार्थियों को व्यापारिक तथा अन्य व्यवसायों के लिए हो। (2) स्कूलों में पुस्तकालयों और फर्नीचर आदि के लिए व्यवस्था की जानी चाहिए। (3) राज्य की प्रारंभिक शिक्षा संस्थाओं की स्थापना के लिए स्थानीय सहयोग की प्रतीक्षा नहीं करनी चाहिए (4) प्राथमिक शिक्षा का नियंत्रण स्थानीय प्रशासनिक संस्थाओं को सौंप दिया जाए। इन स्थानीय संस्थाओं को शिक्षा खर्च का एक-तिहाई अनुदान के रूप में दिया जाना निश्चित किया गया। इसका परिणाम प्रारंभिक शिक्षा के प्रसार को अवरुद्ध करना ही हुआ।

अंग्रेजी शिक्षा के विकास के संबंध में एक उल्लेखनीय बात यह थी कि कुलीन वर्ग यद्यपि शिक्षा की आवश्यकता अनुभव करता था लेकिन उसने वैज्ञानिक शिक्षा की ओर ध्यान नहीं दिया। उसने न तो सरकारी नौकरियों की और न पृथक् व्यापार अथवा वाणिज्य की आवश्यकता थी। अधिकांश भारतीय जनता निर्धनता और परंपरागत जीवन पद्धति से संतुष्ट थी। मध्यम वर्ग और इसमें भी अपेक्षाकृत कम धनी वर्ग अंग्रेजी शिक्षा की ओर झुका और उसने इस शिक्षा को सरकारी नौकरी प्राप्त करने का एक साधन समझा। इसलिए भारत की शिक्षा संस्थाएं इंग्लैंड की भांति न तो कुलीन वर्गों के आकर्षण का केंद्र बन सकीं और न ही बौद्धिक अनुसंधान और संस्कृति का केंद्र बन सकीं। वे केवल नौकरी तलाश करने वालों तथा अंग्रेज प्रशंसकों के लिए प्रमुख केन्द्र बनीं। 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त करने वालों में हिंदू विद्यार्थियों की संख्या अधिक रही।

रैले कमीशन रिपोर्ट, 1902

इस कमीशन ने भारत के विभिन्न प्रांतों का दौरा करके एक रिपोर्ट जून, 1902 ई. में प्रस्तुत कर दी। यह रिपोर्ट तथा सरकार की उस पर टिप्पणी अक्तूबर में प्रकाशित हुई। इस रिपोर्ट में भविष्य में उच्च शिक्षा से संबंधित कॉलेजों की सरलता से मान्यता न देने, विश्वविद्यालयों की विभिन्न संस्थाओं में सरकारी प्रतिनिधित्व बढ़ाने, विधि शिक्षा को केन्द्रित करने के सुझाव थे। शिक्षित भारतीय नेताओं को सबसे अधिक आपत्ति उच्च शिक्षा प्रस्तावों से थी। इंडियन नेशनल कांग्रेस ने भी इन प्रस्तावों की आलोचना की। कर्जन ने आलोचना की चिंता न करते हुए 1904 ई. में 'इंडियन यूनिवर्सिटीज़ एक्ट' पास कर दिया। इसकी मुख्य धाराएं निम्नलिखित थीं :

1. तीनों पुराने विश्वविद्यालयों के सीनेट की सदस्यों की संख्या कम से कम 50 और अधिक से अधिक 100 निर्धारित कर दी गई। नए विश्वविद्यालयों के लिए यह संख्या क्रमश: 40 और 75 निर्धारित कर दी गई। विश्वविद्यालय सिंडीकेट के सदस्यों की संख्या भी 20 से कम कर दी गई।
2. कॉलेजों को विश्वविद्यालयों से संबंधित करने का अधिकार सरकार को दे दिया गया। प्रोफेसर तथा प्राध्यापकों की नियुक्ति के लिए भी सरकार की स्वीकृति आवश्यक हो गई। शिक्षा नीति संबंधी प्रश्न भी सरकार की अनुमति के बिना तय नहीं किए जाएंगे।
3. विश्वविद्यालयों को स्नातकोत्तर शिक्षा के प्रबंध के भी अधिकार दे दिए गए और इस प्रकार अनुसंधान तथा शिक्षा के लिए कुछ सुविधाएं उपलब्ध कराई गईं।

कर्जन द्वारा पास किए विश्वविद्यालय अधिनियम से यह भली-भांति स्पष्ट होता था कि उसका लक्ष्य प्राइमरी शिक्षा को प्रोत्साहन देना कम था। उसका वास्तविक उद्देश्य उच्च शिक्षा को सरकारी नियंत्रण में लाने का प्रयत्न था। कुछ लेखकों ने 1950 ई. के पश्चात् स्वतंत्र भारत में शिक्षा पर सरकारी नियंत्रण स्थापित करने के प्रयत्न को कर्जन की नीति का पर्याप्त औचित्य बताया है। यह तर्क भ्रांतिपूर्ण है। कर्जन की नीति का लक्ष्य उच्च शिक्षा को नियंत्रित करके भारतीय राष्ट्रीय विचारधारा को कुंठित करना था। इस विश्वविद्यालय अधिनियम का इतना लाभ अवश्य हुआ कि अब विश्वविद्यालय केवल परीक्षा संचालन संस्थाएं नहीं रह गई बल्कि शिक्षण संस्थाएं भी बन गईं। इससे कालांतर में उच्च शिक्षा का स्तर बढ़ा।

1904-1919 के मध्य शिक्षा का विकास

1901 ई. तक शिक्षा का प्रबंध गृह विभाग के अधीन था। उस वर्ष एक पृथक् शिक्षा विभाग का गठन किया गया। 1913 ई. में भारत सरकार ने शिक्षा के संबंध में एक प्रस्ताव पास किया जिसमें इस बात पर बल दिया गया कि प्रत्येक विश्वविद्यालय का क्षेत्र निर्धारित कर लिया जाए। प्रत्येक प्रांत में एक विश्वविद्यालय स्थापित किया जाए। साथ ही कुछ शिक्षण विश्वविद्यालयों की भी स्थापना की

जाए। इसी प्रस्ताव में प्राइमरी और माध्यमिक स्कूलों के लिए अध्यापकों के प्रशिक्षण के लिए अधिक सुविधाएं उपलब्ध करने की बात कही गई। माध्यमिक शिक्षा के विकास के लिए निजी प्रयत्नों के महत्त्व पर बल दिया गया।

सैडलर आयोग

1917 ई. में कलकत्ता यूनीवर्सिटी कमीशन की नियुक्ति की गई। इसके अध्यक्ष सर माइकेल सैडलर थे। सैडलर ने अपना ध्यान केवल कलकत्ता विश्वविद्यालय तक ही सीमित नहीं रखा बल्कि माध्यमिक और स्नातकोत्तर शिक्षा के प्रत्येक पक्ष पर बल दिया। इसकी प्रमुख सिफारिशें, जिन पर कालांतर में कार्य किया गया, अग्रांकित थीं :

1. इंटरमीडिएट कक्षाओं को विश्वविद्यालयों के नियंत्रण से हटा दिया जाए। एक माध्यमिक बोर्ड बनाया जाए जो इंटरमीडिएट की परीक्षाओं का संचालन करे।
2. भारत सरकार के स्थान पर बंगाल सरकार का कलकत्ता विश्वविद्यालय पर नियंत्रण हो।
3. डिग्री (स्नातक) पाठ्यक्रम तीन वर्षों का होना चाहिए।

इन सुझावों को भारत सरकार ने शीघ्र ही मान लिया। सर्वप्रथम उत्तर प्रदेश में एक बोर्ड ऑफ सेकेंडरी एजुकेशन की स्थापना हुई। 1919 ई. के सुधारों में शिक्षा एक प्रांतीय विषय बन गया और विश्वविद्यालयों के संचालन का कार्य प्रांतीय सरकारों को मिला।

हार्टोग समिति

शिक्षण संस्थाओं की संख्या में अंधाधुंध वृद्धि के कारण शिक्षा के स्तर में गिरावट आने लगी। शिक्षा में हुए विकास के संदर्भ में रिपोर्ट देने के लिये वर्ष 1929 में सर फिलिफ हार्टोग की अध्यक्षता में एक समिति की नियुक्ति की गयी। इस समिति की प्रमुख सिफारिशें निम्न थी-

1. इसमें प्राथमिक शिक्षा की महत्ता पर बल दिया गया लेकिन अनिवार्यता या शीघ्र प्रसार को अनुचित बताया गया।
2. केवल समर्पित विद्यार्थियों को ही उत्तर माध्यमिक एवं उच्च शिक्षा के विद्यालयों में प्रवेश लेना चाहिए। जबकि सामान्य स्तर के विद्यार्थियों को 8 वीं कक्षा के पश्चात् व्यावसायिक पाठ्यक्रमों में दाखिला लेना चाहिए।
3. विश्वविद्यालयीय शिक्षा में सुधार के लिये, विश्वविद्यालयों में प्रवेश संबंधी नियम अत्यंत कड़े होने चाहिए।

मूल शिक्षा की वर्धा योजना

अक्टूबर, 1937 में, कांग्रेस ने शिक्षा पर एक राष्ट्रीय सम्मेलन वर्धा में आयोजित किया। इस सम्मेलन में पारित किए प्रस्तावों के अंतर्गत, आधारभूत शिक्षा पर राष्ट्रीय नीति बनाने के लिये जाकिर हुसैन की अध्यक्षता में एक समिति गठित की गयी। इस समिति ने 1938 में अपनी अनुशंसाएं प्रस्तुत की। इस समिति के गठन का मूल उद्देश्य था 'गतिविधियों के माध्यम से शिक्षा प्राप्त करना। यह अवधारणा गांधीजी द्वारा हरिजन नामक साप्ताहिक पत्र में प्रकाशित लेखों की एक श्रृंखला पर आधारित थी। गांधीजी का मानना था कि पाश्चात्य शिक्षा ने मुट्ठी भर शिक्षित भारतीयों एवं जनसाधारण के मध्य एक खाई पैदा कर दी है तथा इससे इन शिक्षित भारतीयों की विद्वता अप्रभावी हो गयी है। इस योजना को मूल शिक्षा की वर्धा योजना के नाम से जाना गया। इस योजना में निम्न प्रावधान थे-

1. पाठ्यक्रम में दस्तकारी को सम्मिलित किया जाए।
2. राष्ट्रीय शिक्षा व्यवस्था के प्रथम सात वर्ष निःशुल्क एवं अनिवार्य होने चाहिए तथा यह शिक्षा मातृभाषा में दी जाए।
3. कक्षा 2 से कक्षा 7 तक की शिक्षा का माध्यम हिन्दी होना चाहिए। अंग्रेजी भाषा में शिक्षा कक्षा आठ के पश्चात् ही दी जाए।
4. शिक्षा हस्त-उत्पादित कार्यों पर आधारित होनी चाहिए। अर्थात् मूल शिक्षा की योजना का कार्यान्वयन उपयुक्त तकनीकी शिक्ष द्वारा देने के सिद्धांत पर आधारित होना चाहिए। इसके लिए छात्रों के कुछ चुनिंदा दस्तकारी तकनीकों के माध्यम से शिक्षित किय जाना चाहिए।

शिक्षा की यह योजना नये समाज की नयी जिंदगी के लिये नए विचारों पर आधारित थी। इस योजना के पीछे यह भावना थी वि

इससे देश धीरे-धीरे आत्मनिर्भरता एवं स्वतंत्रता की ओर बढ़ेगा तथा इससे हिंसा-रहित समाज का निर्माण होगा। यह शिक्षा सहकारिता एवं बच्चों पर केंद्रित थी। किन्तु 1939 में द्वितीय विश्व युद्ध प्रारंभ होने तथा कांग्रेसी सरकारों के त्यागपत्र देने के कारण यह योजना खटाई में पड़ गयी।

सार्जेन्ट योजना

वर्ष 1944 में केंद्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड ने शिक्षा की एक राष्ट्रीय योजना तैयार की, जिसे सार्जेन्ट योजना के नाम से जाना जाता है। सर जॉन सार्जेन्ट भारत सरकार के शिक्षा सलाहकार थे। इस योजना के अनुसार-

1. तकनीकी, वाणिज्यिक एवं कला विषयक शिक्षा की व्यवस्था होनी चाहिए।
2. उत्तर माध्यमिक पाठ्यक्रमों को समाप्त कर दिया जाना चाहिए।
3. 20 वर्षों में वयस्कों को साक्षर बना दिया जाना चाहिए।
4. शिक्षकों के प्रशिक्षण, शारीरिक शिक्षा तथा मानसिक एवं शारीरिक तौर पर विकलांगों को शिक्षा दिए जाने पर बल दिया गया।

इस योजना में 40 वर्ष में देश में शिक्षा के पुनर्निर्माण का कार्य पूरा होना था तथा इंग्लैण्ड के समान शिक्षा के स्तर को प्राप्त करना था। यद्यपि यह एक सशक्त व प्रभावशाली योजना थी। किन्तु इसमें इन उपायों के क्रियान्वयन के लिए कोई कार्य योजना प्रस्तुत नहीं की गयी थी। साथ ही इंग्लैण्ड जैसे शिक्षा के स्तर को प्राप्त करना भी भारतीय परिस्थितियों के अनुकूल नहीं था।

राधाकृष्णन आयोग

नवंबर, 1948 में राधाकृष्णन आयोग का गठन देश में विश्वविद्यालय शिक्षा के संबंध में रिपोर्ट देने हेतु किया गया। स्वतंत्र भारत में विश्वविद्यालय शिक्षा के क्षेत्र में इस आयोग की रिपोर्ट का अत्यंत महत्त्व है। इस आयोग ने निम्न सिफारिशें की थी-

1. विश्वविद्यालय पूर्व 12 वर्ष का अध्ययन होना चाहिए।
2. प्रशासनिक सेवाओं के लिये विश्वविद्यालय की स्नातक उपाधि आवश्यक नहीं होनी चाहिए।
3. शांति निकेतन एवं जामिया मिलिया की तर्ज पर ग्रामीण विश्वविद्यालयों की स्थापना की जानी चाहिए।
4. विश्वविद्यालयों के द्वारा आयोजित की जाने वाली परीक्षा के स्तर में सुधार लाया जाए तथा विश्वविद्यालय शिक्षा को समवर्ती सूची में सम्मिलित किया जाए।
5. देश में विश्वविद्यालय शिक्षा की देख-रेख के लिये एक विश्वविद्यालय अनुदान आयोग का गठन किया जाए।
6. उच्च शिक्षा में अंग्रेजी माध्यम को जल्दबाजी में न हटाया जाए।
7. विश्वविद्यालयों में कम से कम 180 दिनों का अध्ययन अनिवार्य किया जाए।
8. जहां राज्यों की भाषा एवं मातृभाषा का माध्यम समान न हो वहां संघीय भाषा अर्थात राज्यों की भाषा में शिक्षा देने को प्राथमिकता दी जाए। जहां राज्यों की भाषा एवं स्थानीय भाषा समान हो वहां छात्रों को परंपरागत या आधुनिक भारतीय भाषाओं का चयन करना चाहिए।

इन्हीं सिफारिशों के आधार पर 1953 में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग का गठन किया गया तथा 1956 में संसद द्वारा कानून बनाकर इसे स्वायत्तशासी निकाय का दर्जा दे दिया गया। इस आयोग का कार्य विश्वविद्यालय शिक्षा की देखरेख करना, विश्वविद्यालयों में शिक्षा एवं शोध संबंधी सुविधाओं के स्तर की जांच करना तथा उनमें समन्वय स्थापित करना है। सरकार विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के लिये पर्याप्त धन की व्यवस्था करती है। तदुपरांत आयोग देश के विभिन्न विश्वविद्यालयों को धन आवंटित करने का सुझाव देता है तथा विश्वविद्यालय शिक्षा से संबंधित विभिन्न विकास योजनाओं को क्रियान्वित करता है।

कोठारी शिक्षा आयोग

जुलाई, 1964 में डाक्टर डी. एस. कोठारी की अध्यक्षता में एक उच्चस्तरीय आयोग का गठन किया गया। इसका कार्य शिक्षा

के सभी पक्षों तथा चरणों के विषय में साधारण सिद्धांत, नीतियों एवं राष्ट्रीय नमूने की रूपरेखा तैयार कर उनसे सरकार को अवगत कराना था। आयोग को अमेरिका, रूस, इंग्लैण्ड एवं यूनेस्को के शिक्षा शास्त्रियों एवं वैज्ञानिकों की सेवाएं भी उपलब्ध करायी गयी थी। आयोग ने वर्तमान शिक्षा पद्धति की कठोरता की आलोचना की तथा शिक्षा नीति को इस प्रकार लचीला बनाये जाने की आवश्यकता पर बल दिया जो बदलती हुयी परिस्थितियों के अनुकूल हो। आयोग की सिफारिशों के आधार पर 1968 में राष्ट्रीय शिक्षा नीति की घोषणा की गयी। जिसमें निम्नलिखित तथ्यों पर बल दिया गया :

- 14 वर्ष की आयु तक नि:शुल्क तथा अनिवार्य शिक्षा।
- शिक्षा के लिये तीन भाषायी फार्मूला-मातृभाषा, हिन्दी एवं अंग्रेजी तथा क्षेत्रीय भाषाओं का विकास।
- राष्ट्रीय आय का 6 प्रतिशत शिक्षा पर व्यय करना।
- अध्यापकों के प्रशिक्षण की व्यवस्था तथा उनके लिये मानक तय करना।
- कृषि तथा औद्योगिक शिक्षा का विकास।
- विज्ञान तथा अनुसंधान शिक्षा का समानीकरण।

तकनीकी शिक्षा का विकास

1847 ई. में रूड़की इंजीनियरिंग कॉलेज की स्थापना हो चुकी थी। लेकिन पश्चिमी देशों के औद्योगिक विकास को देखकर इस दिशा में अधिक विकास की आवश्यकता महसूस होती थी। 20वीं सदी के आरंभ होने के पश्चात् विभिन्न तकनीकी तथा वैज्ञानिक शोध संस्थाओं की स्थापना की गई। जमशेदजी टाटा की स्मृति में उनके पुत्रों ने इंडियन इंस्टीट्यूट आफ साइंस, बंगलौर (1911), सर जगदीशचंद बोस द्वारा कलकत्ता में बोस रिसर्च इंस्टीट्यूट (1917), देहरादून में फारेस्ट रिसर्च इंस्टीट्यूट (1914), कानपुर में हरकोर्ट बटलर टेक्नोलोजीकल इंस्टीट्यूट (1921), धनबाद में इंडियन स्कूल आफ माइंस (1926) आदि स्थापित किए गए। इन सभी संस्थाओं में निजी योगदान बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण रहा।

इन संस्थाओं के होते हुए भी 1947 ई. तक भारत को प्राय: सभी क्षेत्रों में डिजाइन और तकनीकी जानकारी के लिए विदेशी संस्थाओं पर निर्भर रहना पड़ता था। भारत औद्योगिक दृष्टि से बहुत पिछड़ा हुआ था और उसके वैज्ञानिकों को विदेशी सहायता पर निर्भर रहने की प्राय: आदत-सी बन गई। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् ही इस पराधीनता को कुछ कम किया जा सका।

मुसलमानों का अंग्रेजी शिक्षा के प्रति दृष्टिकोण

मुसलमानों का अंग्रेजी शिक्षा के प्रति आकर्षण कम था। उन्हें अंग्रेजी शिक्षा से इस्लाम धर्म के प्रति अरुचि पैदा होने की आशंका रहती थी तथा मुसलमान विद्यार्थी कुछ विषयों–गणित तथा अंग्रेजी–में पिछड़ जाते थे। 1871 ई. में भारत सरकार ने विभिन्न प्रांतीय सरकारों से पूछा कि मुसलमानों का शिक्षा में पिछड़ापन किस प्रकार दूर किया जा सकता है। सभी प्रांतीय सरकारों ने उत्तर दिया कि जनसंख्या के अनुपात में मुसलमान अधिक शिक्षित थे। पर इतना अवश्य था कि अंग्रेजी शिक्षा में वे हिंदुओं की अपेक्षा पिछड़े हुए थे। सर सैयद अहमद मुसलमानों की सांसारिक प्रतिष्ठा को बढ़ाना चाहते थे। उनके अनुसार इसका एकमात्र साधन उच्च अंग्रेज़ी शिक्षा थी। इसलिए वह चाहते थे कि मुसलमान अधिकाधिक संख्या में अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त करें। उन्होंने मुसलमानों के लिए अलीगढ़ में मोहमडन एंग्लो-ओरिएंटल कॉलेज की स्थापना की और मुसलमानों की प्रगति के लिए इसे एकमात्र साधन बताया।

सर सैयद अहमद ने इस बात पर अत्यधिक बल दिया कि मुसलमान अपनी शिक्षा अलीगढ़ कॉलेज में प्राप्त करें। वह एक विशिष्ट प्रकार का मुस्लिम शिक्षित वर्ग तैयार करना चाहते थे जो मुस्लिम संप्रदाय के हितों को बढ़ाने की भावना से प्रेरित हो। वह यह भी चाहते थे कि कुलीन वर्ग के मुसलमान युवक अलीगढ़ में ही अपनी शिक्षा प्राप्त करें। उनका लक्ष्य अंग्रेजों और मुसलमानों में सामाजिक संपर्क स्थापित करना था। यह संपर्क कुलीन मुसलमानों और अंग्रेजों में समानता के आधार पर सरलता से बढ़ सकता था। कुलीन शिक्षित वर्ग मुस्लिम समाज का भी नेतृत्व कर सकता था। अलीगढ़ कॉलेज में मुसलमानों की शिक्षा पर बल देने में सर सैयद का वास्तविक मंतव्य भारत के विभिन्न भागों के कुलीन मुसलमान परिवारों के लड़कों को अलीगढ़ में शिक्षा देना था जिससे अलीगढ़

कॉलेज का प्रभाव सारे भारत में फैल सके।

अलीगढ़ कॉलेज को मुसलमानों का शिक्षा केन्द्र बनाने के लिए सर सैयद ने विभिन्न स्थानों पर मुसलमानों के लिए हाई स्कूल खोलने का विरोध भी किया। वह समझते थे कि मुस्लिम संप्रदाय आर्थिक दृष्टि से कमजोर था इसलिए उसे अपने साधनों को विभिन्न स्थानों पर फैलाने के बजाए एक स्थान पर ही लगाना चाहिए। यह अलीगढ़ कॉलेज के लिए धन उपलब्ध कराने में सहायक तो अवश्य हुआ लेकिन इसका परिणाम यह हुआ कि मुसलमानों में जो उत्साह शिक्षा के प्रति जागृत हुआ था, वह शीघ्र ही शिथिल पड़ गया। उस समय बहुत से स्कूल केवल विद्यार्थियों की फीस और सरकारी अनुदान के सहारे चलते थे। यदि अधिक स्कूल उस समय स्थापित हो जाते तो वे कालांतर में मुसलमानों की शिक्षा संबंधी आवश्यकता को पूरा कर सकते थे।

समाचार-पत्रों का विकास एवं नीतियां

19वीं सदी के इतिहास की सबसे बड़ी विशेषता समाचार पत्रों का विकास है। 18वीं सदी के अंत तक इंग्लैंड में भी समाचार पत्रों का महत्त्व तथा प्रभाव अधिक नहीं था। भारत में सबसे पहले छापेखाने की स्थापना 1550 ई. में पुर्तगालियों ने की थी, लेकिन उसमें केवल धार्मिक पुस्तकें ही छपती थीं 18वीं सदी में कई समाचार पत्र प्रकाशित होने आरंभ हो गए। 1780 ई. में जे. ए. व्हिक्की ने 'बंगाल गजट' प्रकाशित करना आरंभ किया।

भारतीयों द्वारा पहला अंग्रेजी समाचार पत्र 1816 में कलकत्ता से प्रकाशित किया गया। गंगाधर भट्टाचार्य ने 'बंगाल गजट' नाम से एक साप्ताहिक समाचार पत्र प्रकाशित करना आरंभ किया। इसकी प्रतियां अब उपलब्ध नहीं है, न ही इसके संपादक के विषय में अधिक ज्ञान है।

19वीं सदी के पूर्वार्द्ध में भारतीय समाचार-पत्र सामान्यत: सरकार की आलोचना कम करते थे। इनकी वितरण संख्या भी कम थी। जमींदार वर्ग इस ओर ध्यान नहीं देता था। साधारण जनता राजनीतिक विषयों से अनभिज्ञ थी। प्रशासक वर्ग इन अखबारों की परवाह नहीं करता था क्योंकि वह जानता था कि इसका जनमत पर प्रभाव कम था। फारसी और अन्य भारतीय भाषायी समाचार-पत्रों में प्रजातीय विभेद, धर्म हस्तक्षेप अथवा अंग्रेजी न्यायालयों में प्रचलित अन्याय पर अवश्य कुछ तीव्र आलोचना होती थी, लेकिन राजनीतिक विषयों पर चर्चा कम थी। इस अर्द्धशताब्दी में सामाजिक और धार्मिक विषयों तथा शिक्षा सम्बन्धी समस्याओं पर चर्चा करके भारतीय जनमत को जागृत किया जा सका। इस प्रकार धार्मिक तथा सामाजिक सुधार आन्दोलनों ने भारतीय प्रेस और जनमत के विकास में योगदान दिया।

19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में 'टाइम्स ऑफ इंडिया' (जिसमें बांबे टाइम्स, बांबे स्टैंडर्ड तथा दो अन्य को मिलाया गया) बंबई से 1861 ई. में प्रकाशित होना आरंभ हुआ। कलकत्ता से 'स्टेट्समैन', 'इंग्लिशमैन', और 'फ्रेंड ऑफ इंडिया', मद्रास से 'मद्रास मेल', इलाहाबाद से 'पायनियर', लाहौर से 'सिविल एंड मिलिटरी गजट' प्रकाशित होते थे। इन एंग्लो इंडियन पत्रों में भी 'इंग्लिशमैन' विशेषकर रूढ़िवादी और प्रतिक्रियावादी था।

भारतीयों द्वारा अंग्रेजी तथा क्षेत्रीय भाषाओं में विभिन्न समाचार-पत्रों का प्रकाशन आरंभ हुआ। इन समाचार-पत्रों में भी एक नया दृष्टिकोण देखने को मिलता है। राष्ट्रीय तथा राजनीतिक प्रश्नों पर चर्चा तथा प्रशासनिक नीतियों की आलोचना पहले की अपेक्षा अधिक तीव्र होने लगी। आरंभ में बंगलाभाषी समाचार-पत्रों में 'अमृत बाजार पत्रिका' (जो 1878 ई. में अंग्रेजी में निकलने लगा) 'बंगवासी', 'संजीवनी' प्रमुख थे। वर्नाक्यूलर प्रेस एक्ट के पश्चात् मद्रास प्रांत में अंग्रेजी में 'हिंदू' पत्र आरंभ किया गया। यह आरंभ में साप्ताहिक था, लेकिन 1889 ई. में दैनिक पत्र बन गया। 1881 ई. में बंबई प्रांत में दो समाचार-पत्र (जो बाद में बहुत प्रसिद्ध हुए) 'केसरी' मराठी भाषा में और 'मराठा' अंग्रेजी भाषा में आरंभ हुए। इन पत्रों के संचालन का श्रेय बालगंगाधर तिलक और उनके कुछ मित्रों को है। आरंभ में अगरकर ने 'केसरी' और केलकर ने 'मराठा' का संपादन किया लेकिन बाद में इन दोनों पत्रों के संपादन तथा स्वामित्व का उत्तरदायित्व तिलक पर आ पड़ा।

1880 ई. के पश्चात् भारतीय समाचार-पत्रों का कार्य उसी भांति था जैसा संसदीय पद्धति में विरोधी दल का होता है अर्थात् अंग्रेजी सरकार की नीतियों का निरंतर मूल्यांकन करते रहना। यह कार्य समाचार-पत्रों पर इसलिए और अधिक पड़ गया था क्योंकि लेजि-

स्लेटिव कौंसिलों के भारतीय सदस्यों को बहुत कम अधिकार थे। सार्वजनिक खर्च में कमी, भारतीयों को उच्च प्रशासनिक पदों पर नियुक्त करना, न्याय प्रशासन में सुधार, प्रजातीय विभेद आदि कुछ प्रमुख प्रश्न थे जिन पर चर्चा होती थी। इंडियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना के पश्चात् राजनीतिक शिक्षा का प्रसार इन पत्रों का मुख्य लक्ष्य हो गया। कांग्रेस की 'नरम' नीति तक ही सीमित न रहकर बहुत से पत्र सरकार की कड़ी आलोचना करते थे। इस आलोचनात्मक दृष्टिकोण को विकसित करने में एंग्लो इंडियन समाचार-पत्रों का काफी योगदान था। वे कांग्रेस की नीति की तीव्र आलोचना करते थे।

भारतीय-पत्रों में धन के निष्कासन और अंग्रेजों द्वारा प्रजातीय विभेद की नीति की आलोचना की जाती थी। ये दोनों विषय ऐसे थे जिनसे अंग्रेजों के वायदे, उनकी न्यायप्रियता और देश के आर्थिक विकास के तर्क खोखले पड़ जाते थे। इसलिए 19वीं सदी के अंत तक आते-आते अंग्रेज प्रशासक भारतीय समाचार-पत्रों से काफी असंतुष्ट हो गए। डफरिन (लिबरल दल का प्रतिनिधि) और कर्जन (कंजर्वेटिव दल का प्रतिनिधि) दोनों ही भारतीय समाचार-पत्रों की आलोचना से क्रुद्ध थे। बंगाल के समाचार-पत्रों में अधिक कटु भाषा का प्रयोग होता था लेकिन बंबई प्रदेश के प्रभावशाली समाचार-पत्रों–'केसरी', 'मराठा' आदि–में राजनीतिक प्रचार अधिक होता था और भाषा अपेक्षाकृत कम कटु होती थी। इसी प्रकार मद्रास और उत्तर-पश्चिमी प्रांत के समाचार-पत्रों में भी भाषा कम आलोचनात्मक और कटु होती थी।

भारतीय समाचार-पत्रों के विकास में 1905 ई. के बंगाल विभाजन का काफी योगदान है। इस घटना का समाचार-पत्रों ने काफी विरोध किया किन्तु फिर भी कर्जन ने प्रांत का विभाजन कर दिया। इस प्रकार सरकार और समाचार-पत्रों में स्पष्ट संघर्ष आरंभ हुआ। इस संघर्ष ने यह चुनौती प्रस्तुत की कि समाचार-पत्र किस सीमा तक जनमत का प्रतिनिधित्व करते थे। 1911 ई. में विभाजन रद्द करने से पत्रों में इस प्रकार का आत्मविश्वास पैदा हुआ। इस घटना को पत्रकारिता और पत्रों के प्रभावों के विकास में अत्यंत महत्त्वपूर्ण माना जाता है।

1919 ई. के पश्चात् महात्मा गांधी का नेतृत्व भारतीय रंगमंच पर अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हो गया। राष्ट्रीय आंदोलन उत्तरोत्तर लोकप्रिय होता गया इसलिए राष्ट्रीय आंदोलन और समाचार-पत्रों में परस्पर समर्थक और सहायक का संबंध होता गया। समाचार-पत्रों ने न केवल राष्ट्रीय आंदोलन में विभिन्न प्रेरणाओं को प्रेरित किया बल्कि स्वयं भी राष्ट्रीय आंदोलन की घटनाओं से प्रेरणा ली। अंग्रेजी साम्राज्य के विरुद्ध राष्ट्रीय चेतना जागृत करने तथा अंग्रेजी शोषण की व्यापक चर्चा फैलाने में प्रेस का विशेष योगदान रहा। यह स्वाभाविक ही था कि अलग-अलग समाचार-पत्र विभिन्न राजनीतिक विचारधाराओं के प्रभाव में रहे। अंग्रेजी साम्राज्यवादी प्रशासकों के दृष्टिकोण भी समाचार-पत्रों के विचारों से बहुत प्रभावित रहे।

इस काल में एंग्लो-इंडियन समाचार-पत्रों का दृष्टिकोण उभरकर अधिक स्पष्ट हुआ। अंग्रेजी साम्राज्य के समर्थक अब केवल वे ही रह गए। इन समाचार-पत्रों के समर्थन में कुछ आंशिक अन्तर होता था लेकिन कोई मौलिक भेद नहीं था। कलकत्ता से निकलने वाला 'स्टेट्समैन', बंबई से 'टाइम्स ऑफ इंडिया', लाहौर से 'सिविल एंड मिलिटरी गजट' आदि ऐसे प्रमुख अखबार थे।

अंग्रेज अधिकारियों ने भारतीय समाचार-पत्रों को कुचलने के लिए विभिन्न संपादकों को जेल भेजा अथवा उनके समाचार-पत्रों को बन्द करवा दिया। 1918-19 ई. की घटनाओं ने–जनरल डायर और जलियांवाला बाग–भारतीय और एंग्लो-इंडियन पत्रों के अन्तर को भली-भांति स्पष्ट कर दिया। पंजाब सरकार के प्रेस पर अत्यधिक नियंत्रण होते हुए भी जलियांवाला बाग और जनता पर अत्याचार की कुछ सूचना भारतीय अखबारों में छप जाती थी। इसके विपरीत अंग्रेजी अखबारों ने जनरल डायर की प्रशंसा की और उसे निर्दोष घोषित कर दिया। 'बंबई क्रॉनिकल', 'अमृत बाजार पत्रिका', 'ट्रिब्यून', 'हिन्दू' आदि कितने ही अखबारों की जमानत जब्त कर ली गई। कई संपादकों को जेल में भी डाल दिया गया।

1920 ई. के पश्चात् राष्ट्रवादी समाचार-पत्रों ने गांधीजी के नेतृत्व में चल रहे राष्ट्रीय संघर्ष का समर्थन किया। दूसरी ओर अंग्रेजी सरकार ने एंग्लो इंडियन, मुस्लिम तथा अन्य सांप्रदायिक और रूढ़िवादी समाचार-पत्रों को प्रश्रय देना आरंभ किया तथा दलित एवं पिछड़े वर्गों, मुसलमानों, गैर ब्राह्मणों तथा अन्य अल्पसंख्यक वर्गों की मांग को अत्यधिक बढ़ावा दिया। सरकार ने अखबारों की स्वतंत्र विचारधारा को नियंत्रित करने के विभिन्न प्रयत्न किए। एक ओर विचारों की स्वतंत्रता पर प्रतिबंध लगाए गए, दूसरी ओर सरकारी प्रभाव का प्रयोग करके गुप्त रूप से राष्ट्रवादी समाचार-पत्रों के संपादकों की नीतियों को बदलने का प्रयत्न किया गया।

इस समय दो नए साप्ताहिक पत्र अत्यधिक महत्त्वपूर्ण एवं प्रभावशाली बने। गुजराती में 'नवजीवन' तथा अंग्रेजी में 'यंग इंडिया'। दोनों का संपादन तथा संचालन महात्मा गांधी करते थे। कुछ पत्रों ने गांधीजी के कार्यक्रम की आलोचना की लेकिन अन्य ने उनका समर्थन किया। 1923 ई. में 'हिन्दुस्तान टाइम्स' का प्रकाशन आरंभ हुआ। 1923 ई. में ही मद्रास में "स्वराज्य' पत्र आरंभ किया गया जो गांधीजी का समर्थक था। 1940-47 ई. के मध्य कई उच्च कोटि के राष्ट्रीय समाचार-पत्र प्रकाशित हुए।

समाचार-पत्रों का आधुनिक भारत के इतिहास में राष्ट्रीय विचारों के फैलाने तथा अंग्रेजी साम्राज्यवादी नीति की वास्तविकता को स्पष्ट करने में उल्लेखनीय योगदान रहा। यह भी सही है कि कुछ साम्प्रदायिक और संकीर्ण दृष्टिकोण के समाचार-पत्र प्रकाशित होते थे लेकिन उनकी वास्तविकता बड़ी सरलता से स्पष्ट हो जाती थी और उनका प्रभाव बहुत कम होता था।

20वीं सदी में सरकारी प्रेस नीति

1906 ई. के पश्चात् साम्राज्य विरोधी गतिविधियों के बढ़ जाने के कारण अंग्रेज प्रशासकों ने भारतीय प्रेस और समाचार-पत्रों पर नियंत्रण स्थापित किया। 1908 ई. के समाचार-पत्र अधिनियम से जिलाधीश को किसी भी समाचार पत्र को बंद करने तथा उसके छापेखाने की मशीनों पर कब्जा करने का अधिकार दे दिया गया यदि उसके विचार में वह समाचार-पत्र विद्रोह की भावना भड़का रहा था। जिलाधीश के विरुद्ध केवल भारत सचिव को ही अपील की जा सकती थी। इस अधिनियम के अधीन बंगाल में उग्र समाचार-पत्रों–'वंदे मातरम्', 'संध्या', 'युगांतर' आदि–को बंद कर दिया गया।

इस अधिनियम द्वारा दिए गए निरंकुश अधिकारों को भी अंग्रेजी सरकार कम समझती थी। इसलिए 1910 ई. में इंडियन प्रेस एक्ट पास किया गया। इसके अधीन जिलाधीश को किसी भी प्रचलित अथवा नए समाचार-पत्र के प्रकाशन तथा छापेखाने के मालिक से 500 से 5,000 की जमानत लेने का अधिकार दे दिया गया। यह जमानत सरकार विरोधी अथवा आपत्तिजनक लेख लिखने पर जब्त हो जाती थी। सरकार विरोधी और आपत्तिजनक की परिभाषा इतनी व्यापक थी कि किसी भी विषय को इसके अंतर्गत लाया जा सकता था। यह निर्णय कि कौन-सा विषय आपत्तिजनक है, सरकारी अधिकारियों द्वारा किया जाता था। एक बार जमानत जब्त कर लिए जाने के बाद जमानत की राशि और अधिक बढ़ाई जा सकती थी। किसी भी पुस्तिका अथवा पुस्तक का विवरण रोका जा सकता था। इस एक्ट को 1909 ई. के अंतर्गत बनाई गई कौंसिलों द्वारा पास किया गया। गोखले ने इस अधिनियम का समर्थन किया था।

1910-1919 ई. के मध्य लगभग 1000 समाचार-पत्रों और छापेखानों के विरुद्ध इस अधिनियम के अंतर्गत कार्रवाई की गई। नए छापेखानों का खोला जाना और समाचार-पत्रों का संचालन इस जमानत की राशि के कारण अत्यधिक कठिन हो गया। लगभग 500 पुस्तकों को अवैध घोषित करके उनके प्रसार को रोक दिया गया। 5 लाख रुपए से अधिक धनराशि जमानत जब्त करने से उपलब्ध हुई। 'केसरी' के कुछ लेखों पर आपत्ति करते हुए तिलक को 6 वर्ष के लिए काले पानी की सजा दी गई। तिलक पर मुकद्दमा चलाने से सरकार विरोधी लेख अथवा समाचार-पत्रों में कमी नहीं हुई बल्कि सरकार की नेकनीयत पर संदेह अधिक बढ़ा।

1919 ई. के मोंटफोर्ड सुधारों तथा असहयोग आंदोलन के पश्चात् 1910 ई. के प्रेस अधिनियम को 1922 ई. में समाप्त कर दिया गया। प्रेस से संबंधित वे सब प्रतिबंध बने रहे जो इंडियन पिनल कोड द्वारा लगाए हुए थे। इसके अतिरिक्त सरकार ने समाचार-पत्रों के विरुद्ध विभिन्न अंग्रेज अधिकारियों द्वारा मुकद्दमे चलाए जाने की नीति को प्रोत्साहन दिया। यह नीति पत्रों पर नियंत्रण रखने में बहुत सीमा तक लाभदायक रही। 1930 ई. में गांधीजी द्वारा सविनय अवज्ञा आंदोलन आरंभ किए जाने के पश्चात् पुन: सरकार ने एक अध्यादेश द्वारा 1910 ई. के प्रेस एक्ट को पुनर्जीवित कर दिया। 1931 ई. में प्रेस इमर्जेंसी पावर्स एक्ट पास किया गया। 1932 ई. में फौजदारी अधिनियम में एक संशोधन करके 1930 ई. के प्रेस संबंधी अध्यादेश को सामान्य नियम का रूप दे दिया गया। विभिन्न समाचार-पत्रों को परोक्ष रूप से प्रभावित करने तथा उनकी नीति में परिवर्तन कराने के प्रयत्न किए गए। 1942 ई. के भारत छोड़ो आन्दोलन और 1943 ई. के बंगाल अकाल के समय के बहुत कम समाचार साधारण जनता को प्राप्त होते थे। डिफेंस ऑफ इंडिया नियमों के अधीन विभिन्न प्रकार के अधिकार अंग्रेजी सरकार को उपलब्ध थे 1946 ई. में जवाहरलाल नेहरू के अधीन अंतरिक सरकार के गठन के पश्चात् प्रेस पर लगे प्रतिबंध समाप्त कर दिए गए लेकिन शीघ्र ही सांप्रदायिक विद्रोह के दुष्परिणामों को फैलने से रोकने के लिए पुन: कई प्रतिबंध समाचार-पत्रों पर लगाए गए।

ब्रिटिश सरकार की विदेश नीति

लॉरेन्स की अफगान नीति

- लॉरेन्स के अफगान नीति को कुशल अकर्मण्यता/कुशल निष्क्रियता के सिद्धांतों से जोड़ा जाता है।
- लॉरेन्स के काल में आंग्ल-अफगान संबंधों को नई दिशा दी गई। अफगानों के साथ राजनीतिक मैत्री स्थापित कर शांतिपूर्ण संबंधों को बल दिया गया।
- इस नीति के अंतर्गत अहस्तक्षेप के सिद्धांत को बल प्रदान किया गया। साथ-साथ क्षेत्रीय अखंडता को सम्मान देने की बात की गई।
- लॉरेन्स के उत्तरी-पश्चिमी सीमा क्षेत्र के प्रति कुछ विशेष विचार थे। लॉरेन्स ने प्रथम आंग्ल-अफगान युद्ध के परिणामों को भी भली-भाँति समझा था। इस नीति के अंतर्गत उसने तटस्थता के सिद्धांतों को स्वीकार किया था।
- लॉरेन्स की कुशल निष्क्रियता नीति अफगान मामलों के प्रति उदासीनता को नहीं दर्शाती अपितु इसमें सतर्कता के तत्व निहित थे। साथ ही अफगान क्षेत्रों में निगरानी रखने का दृष्टिकोण निहित था। इन क्षेत्रों की घटनाओं के प्रति वह सजग था।
- रूसी खतरे के प्रति भी लॉरेन्स ने सजगता दिखाई। इस क्षेत्र में रूसी महत्त्वाकांक्षाओं से वह परिचित था और इस क्षेत्र पर किसी विदेशी आक्रमण के प्रति भी सजग था।

लिटन की अफगान नीति

- लिटन का अफगानिस्तान के प्रति आक्रमक दृष्टिकोण था, जिसकी परिणति द्वितीय आंग्ल-अफगान युद्ध में हुई।
- अफगान मामलों के प्रति लिटन के विचार ब्रिटिश सरकारी विचार और ब्रिटिश जनमत से प्रभावित थे।
- इस प्रभाव के अंतर्गत रूसी आक्रमण का खतरा महत्त्वपूर्ण था। इस काल में आंग्ल-रूसी महत्त्वाकांक्षाएँ पश्चिमी एशिया तथा बाल्कन क्षेत्र में परस्पर विरोधी थी।
- लिटन का दृष्टिकोण अफगानिस्तान को प्रत्यक्ष नियंत्रण में लाकर मध्य एशिया में ब्रिटिश साम्राज्य के विस्तार का आधार तैयार करना था।
- लिटन के अफगान दृष्टिकोण के दो पहलू थे
  (i) अफगानिस्तान पर नियंत्रण,
  (ii) अफगानिस्तान में पतन की स्थिति को लाना ताकि यह एक मजबूत शक्ति के रूप में न उभर सके।
- 1876 में लिटन ने कलात खान के साथ संधि की और क्वेटा को प्राप्त किया। क्वेटा का विशेष सामरिक महत्त्व था।
- लिटन ने कश्मीर के शासक के साथ गुप्त समझौता कर गिलमिट में ब्रिटिश एजेंसी स्थापित की।
- अफगानिस्तान में रूसी मिशन के आगमन से अंग्रेज चिन्तित हुए। बाद के दिनों में लिटन ने जो प्रभावी प्रयास किए उससे अंतत: युद्ध का प्रारंभ हुआ। युद्ध में दक्षिणी अफगानिस्तान पर ब्रिटिश अधिकार की स्थापना हुई और लिटन की राजनीतिक इच्छा थी कि अफगानिस्तान को ब्रिटिश साम्राज्य में मिला लिया जाए लेकिन गृह सरकार से इस विचार को समर्थन नहीं मिला।
- लिटन की अफगान नीति के अंतर्गत गंडमार्क की संधि जो लिटन की अफगान नीति की पराकाष्ठा का द्योतक था।

डफरिन की बर्मा नीति

- प्रथम एवं द्वितीय आंग्ल-बर्मा युद्ध में निचले बर्मा को ब्रिटिश साम्राज्य में मिला लिया गया किन्तु ऊपरी बर्मा क्षेत्र स्वतंत्र था।
- बर्मा के प्रति डफरिन का दृष्टिकोण साम्राज्यवादी दृष्टिकोण से प्रभावित था। उसकी दृष्टि संपूर्ण बर्मा क्षेत्र पर थी।

DISCOVERY

- डफरिन के दृष्टिकोण के कई महत्त्वपूर्ण पहलू थे :
  (i) बर्मा क्षेत्र के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप,
  (ii) ब्रिटिश दावा कि बर्मा के नागरिकों की सुरक्षा का अधिकार उन्हें प्राप्त है,
  (iii) 1871 में बर्मा के राजा का अपमान जिसके अंतर्गत उसने गर्वनर-जनरल और बर्मा के राजा के बीच के संबंधों की घोषणा की। इसके अंतर्गत बर्मा के राज की अधीनस्थ स्थिति को स्थापित करने का प्रयास किया गया।
- बर्मा-फ्रांस के बीच राजनीतिक संबंधों का विकास हुआ और इस प्रकार के विकास से ब्रिटिश साम्राज्य के लिए खतरा उत्पन्न हुआ।
- बर्मा के शासक के द्वारा अंग्रेजों के वाणिज्यिक हितों की पूर्ति के अंतर्गत ब्रिटिश अनुरोध अस्वीकार किया गया।
- इस प्रकार के संबंध ने अंतत: 1885 में आंग्ल-बर्मा युद्ध को जन्म दिया जिसका परिणाम बर्मा क्षेत्र पर ब्रिटिश नियंत्रण की स्थापना था। अंग्रेजों ने रंगून को बर्मा की राजधानी बनाकर उसका विलय ब्रिटिश साम्राज्य में कर दिया।
- डफरिन की बर्मा नीति से ब्रिटिश सीमा का विस्तार हुआ। अंग्रेजों के लिए इस क्षेत्र का विशेष सामरिक महत्त्व था।

लॉर्ड कर्जन की तिब्बत नीति

- कर्जन के काल में आंग्ल-तिब्बत संबंधों में पतन की स्थिति से ब्रिटिश व्यापारिक एवं वाणिज्यिक हित प्रतिकूल रूप से प्रभावित हुए।
- 1893 में आंग्ल-चीन समझौते द्वारा अंग्रेजों को तिब्बत में व्यापार का अधिकार मिला लेकिन दलाई लामा द्वारा इस व्यापारिक संबंध को स्वीकार नहीं किया गया।
- कर्जन द्वारा इस संघर्ष की स्थिति को समाप्त करने का प्रयास किया गया और दलाई लामा के साथ पत्राचार की शुरूआत की गई लेकिन दलाई लामा ने इस पत्राचार के प्रति उदासीनता दिखलाई। दलाई लामा व रूस के संबंधों के विकास से तिब्बत क्षेत्र में रूसी प्रभाव स्थापित होने का खतरा भी उत्पन्न हुआ।
- कर्जन द्वारा यंग हसबैंड मिशन को भेजा गया जिसके द्वारा द्विपक्षीय वार्ता प्रारंभ करने का प्रयास था। दलाई लामा के उदासीन दृष्टिकोण के कारण इस मिशन का सैन्य कार्यवाही में परिवर्तन हुआ एवं तिब्बत पर ब्रिटिश नियंत्रण स्थापित हुआ।
- कर्जन की इस नीति के अंतर्गत इस संधि में अंग्रेजों को कई व्यापारिक लाभ मिले। तिब्बत के साथ व्यापार की शुरूआत हुई। तिब्बत में ब्रिटिश वाणिज्यिक एजेंट की नियुक्ति की अनुमति मिली। तिब्बत के बाह्य संबंधों की सीमाओं का निर्धारण हुआ जिसमें कहा गया कि तिब्बत में किसी विदेशी एजेन्ट के प्रवेश को अनुमति नहीं दी जाएगी- यदि तिब्बत किसी अन्य राष्ट्र को कोई सुविधा देता है तो उस सुविधा की प्राप्ति का अधिकार ब्रिटिश सरकार को भी होगा।
- संतुलित अर्थों में इस नीति की प्रभाव तिब्बत क्षेत्र में रूसी प्रभाव की समाप्ति के अंतर्गत देखा जा सकता है। यह ब्रिटिश साम्राज्यवाद के सुदृढ़ीकरण के अंतर्गत महत्त्वपूर्ण कदम था।

रियासतों के प्रति ब्रिटिश नीति

भारत में 560 से अधिक रियासतें थीं। ये रियासतें भारतीय प्रायद्वीप के अल्प उर्वर एवं दुर्गम प्रदेशों में स्थित थीं। ईस्ट इंडिया कंपनी ने अपने विजय अभियान में महत्त्वपूर्ण तटीय क्षेत्रों, बड़ी-बड़ी नदी घाटियों-अत्यधिक उर्वर प्रदेश, तथा दूर-दराज के दुर्गम प्रदेश इन सभी को अपने अधीन कर लिया। जिन कारकों ने ईस्ट इंडिया कंपनी को सुदृढ़ बनाया, प्राय: वही कारक इन रियासतों के अस्तित्व में आने के लिये उत्तरदायी थे। इनमें से बहुत सी रियासतें स्वायत्त एवं अर्द्ध-स्वायत्त रूप में अपने अस्तित्व को बनाये हुयी थीं तथा संबंधित भू-क्षेत्रों में शासन कर रही थीं। कंपनी ने इन रियासतों के आपसी संघर्ष तथा आंतरिक दुर्बलता से लाभ उठाकर इन्हें अपने नियंत्रण में ले लिया। यद्यपि कंपनी ने अलग-अलग रियासतों के प्रति अलग-अलग नीतियां अपनायीं। कुछ को उसने प्रत्यक्ष

रुप से अधिग्रहित कर लिया तथा कुछ पर अप्रत्यक्ष नियंत्रण बनाये। इन भारतीय रियासतों के साथ ईस्ट इंडिया कंपनी के संबंधों को निम्न अवस्थाओं में विश्लेषित किया जा सकता है।

1. भारतीय रियासतों से समानता का चरण (1740-1765)

यह चरण आंग्ल-फ्रांसीसी प्रतिद्वंदिता से प्रारंभ हुआ, जब डूप्ले ने भारतीय रियासतों के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप करने की नीति अपनायी। अपने व्यापारिक हितों की रक्षा के लिये अंग्रेजों ने भी डूप्ले की नीति का अनुसरण किया तथा अपनी राजनीतिक सत्ता को सिद्ध करने के लिये अर्काट का घेरा (1751) डाल दिया। प्लासी के युद्ध के पश्चात् उसने बंगाल के नवाबों को अपने हाथों की कठपुतली बना लिया। 1765 में मुगल बादशाह शाह आलम द्वितीय से बंगाल, बिहार एवं उड़ीसा की दीवानी का अधिकार प्राप्त होने पर कंपनी की स्थिति में अत्यधिक वृद्धि हुयी। इस अधिकार से कंपनी की स्थिति, राजस्व वसूल करने वाले अन्य मुगल गवर्नरों के समान हो गयी तथा अब उसे अन्य भारतीय रियासतों के समान समानता का अधिकार प्राप्त हो गया।

2. घेरे की नीति (1765-1813)

वारेन हेस्टिंग्स ने मैसूर तथा मराठों के साथ युद्ध अपने राज्य के चारों ओर मध्य राज्य बनाने का प्रयत्न किया। कंपनी को इस समय मुख्य भय मराठों एवं अफगान आक्रांताओं के आक्रमण से था (इसीलिए कंपनी ने बंगाल की रक्षा के निमित्त अवध की रक्षा व्यवस्था का दायित्व संभाल लिया)। वेलेजली की सहायक संधि की नीति घेरे की नीति का ही विस्तार था, जिसका उद्देश्य भारतीय रियासतों को अपनी रक्षा के लिये कम्पनी पर निर्भर करने के लिये बाध्य करना था। हैदराबाद, अवध एवं मैसूर जैसी विशाल रियासतों ने वेलेजली की सहायक संधि को स्वीकार किया, जिससे अंग्रेजी प्रभुसत्ता की स्थापना की दिशा में काफी प्रगति हुई।

3. अधीनस्थ पार्थक्य की नीति (1813-1857)

वारेन हेस्टिंग्स की नीतियों के फलस्वरूप अंग्रेजों की साम्राज्यवादी भावनाएं जाग उठीं तथा सर्वश्रेष्ठता का सिद्धांत विकसित होने लगा। अब अंग्रेजों द्वारा भारतीय रियासतों से संबंधों का आधार अधीनस्थ सहयोग तथा कंपनी की सर्वश्रेष्ठता को स्वीकार करने की नीति थी न कि पारस्परिक समानता पर आधारित मैत्रीपूर्ण संबंध। इस नयी नीति के तहत रियासतों ने अपनी समस्त बाह्य संप्रभुता कम्पनी के अधीन कर दी। हालांकि अपने आंतरिक मामलों में वे पूर्ण स्वतंत्र थीं। प्रारंभ में ब्रिटिश रेजीडेन्ट कम्पनी, एवं भारतीय रियासतों के मध्य सम्पर्क सूत्र की भूमिका निभाता था। किंतु धीरे-धीरे रियासतों के आंतरिक प्रशासन में उसके प्रभाव में वृद्धि होने लगी।

1833 के चार्टर एक्ट से कम्पनी की समस्त व्यापारिक शक्तियां समाप्त हो गयीं तथा अब वह पूर्णरूपेण एक राजनीतिक शक्ति के रूप में कार्य करने लगी। रियासतों के प्रति कम्पनी की नीति में एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन यह किया गया कि उत्तराधिकार के मसले पर अब उसे कम्पनी की स्वीकृति प्राप्त करना आवश्यक था। कालांतर में कम्पनी ने उनके मंत्रियों तथा अधिकारियों की नियुक्ति में भी हस्तक्षेप करना आरंभ कर दिया।

1834 में कंपनी के डायरेक्टरों ने रियासतों के विलय संबंधी एक विस्तृत दिशा-निर्देश जारी किए, जिसके अनुसार 'जब कभी और जहां कहीं संभव हो' रियासतों का कंपनी में विलय कर लिया जाए। लार्ड डलहौजी के विलय के सिद्धांत द्वारा लगभग आधा दर्जन रियासतें अंग्रेजी साम्राज्य में विलय कर ली गयीं, जिनमें सतारा एवं नागपुर जैसी बड़ी रियासतें भी सम्मिलित थीं। इन सभी का सम्मिश्रण ही कंपनी की सर्वश्रेष्ठता थी।

4. अधीनस्थ संघ की नीति (1857-1935)

1858 में ब्रिटिश ताज द्वारा भारत का शासन कंपनी से अपने हाथों में लेने पर भारतीय रियासतों तथा सरकार के संबंधों की परिभाषा अधिक स्पष्ट हो गयी। 1857 के विद्रोह में भारतीय रियासतों की कम्पनी के प्रति राजभक्ति एवं निष्ठा तथा भविष्य में किसी राजनीतिक आंदोलन को रोकने में उसकी शक्ति के उपयोग की संभावना के मद्देनजर रियासतों के विलय की नीति त्याग दी गयी। अब नयी नीति, शासक को कुशासन के लिये दंडित करने या आवश्यकता पड़े तो अपदस्थ करने की थी न कि पूरी रियासत को विलय करने की। 1858 के पश्चात् नाममात्र का मुगल शासन भी समाप्त हो गया। अब ताज ही भारत की सर्वोच्च एवं असंदिग्ध शक्ति के

रूप में भारत में उपस्थित था। अतः सभी उत्तराधिकारियों को ताज की स्वीकृति लेना आवश्यक था। अब गद्दी पर शासक का पैतृक अधिकार नहीं रह गया था, अपितु अब यह सर्वश्रेष्ठ शक्ति से एक उपहार के रूप में शासकों को मिलती थी। क्योंकि भारतीय राजाओं और ताज के बीच बराबरी की भावना सदा के लिये समाप्त हो गयी थी। 1776 में महारानी विक्टोरिया द्वारा कैसर-ए-हिन्द की उपाधि धारण करने के बाद तो इस बात पर मुहर लग गयी कि अब भारतीय राज्यों की संप्रभुता समाप्त हो चुकी है तथा ब्रिटिश ताज ही भारत में सर्वश्रेष्ठ है। सर्वश्रेष्ठ अब न केवल एक ऐतिहासिक सत्य था अपितु एक कानूनी सिद्धांत था। अब सरकार को रियासतों के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप करने का अधिकार भी मिल गया था, चाहे वह हस्तक्षेप महाराजा के हितों की रक्षा के लिये हो अथवा उसकी प्रजा के हित के लिये या अंग्रेजों के हितों के लिए।

आधुनिक संचार व्यवस्था, रेलवे, सड़कें, टेलीग्राफ, नहरें, पोस्ट, आफिस, प्रेस तथा भारतीय जनमत ने भी अंग्रेजों को भारतीय रियासतों के मामलों में हस्तक्षेप करने तथा उनके अधिकार को कम करने में सहायक परिस्थितियों की भूमिका निभायी। भारत सरकार इन रियासतों के बाहरी और विदेशी संबंधों में भी पूर्ण नियंत्रण रखती थी। सरकार इनकी ओर से स्वयं युद्ध की घोषणा कर सकती थी, मध्यस्थता कर सकती थी एवं शांति संधि का प्रस्ताव पारित कर सकती थी। इस संबंध में बटलर आयोग ने 1927 में कहा कि "अंतरराष्ट्रीय मामलों में रियासतों के प्रदेश अंग्रेजी भारत के प्रदेश हैं और रियासतों के नागरिक अंग्रेजी नागरिकों के समान हैं।"

5. बराबर के संघ की नीति (1935-1947)

1935 के भारत सरकार अधिनियम में, प्रस्तावित समस्त भारतीय संघ की संघीय विधानसभा में भारतीय नरेंद्रों को 375 में से 125 स्थान दिये गए तथा राज्य विधान परिषद् के 260 स्थानों में से 104 स्थान उनके लिये सुरक्षित किए गए। योजना के अनुसार यह संघ तब अस्तित्व में आना था, जब परिषद् में आधे स्थानों वाली रियासतें तथा कम से कम आधी जनसंख्या प्रस्तावित संघ में सम्मिलित होने की स्वीकृति दें।

नरेन्द्र मंडल

नरेंद्रमंडल के प्रावधानों के अनुसार देशी रियासतों को तीन श्रेणियों में विभक्त कर उनके साथ संबंध निश्चित किए गए। पहली श्रेणी में 109 'पूर्ण वैधानिक और क्षेत्राधिकार प्राप्त राज्यों' को रखा गया। इन्हें सीधा प्रतिनिधित्व मिला। दूसरी श्रेणी 127 वैसे देशी नरेशों की थी जिनके 'सीमित वैधानिक और क्षेत्राधिकार' थे। ये मनोनीत कर 12 प्रतिनिधि नरेंद्रमंडल में भेजते थे। तीसरी श्रेणी में अन्य सभी (326) रियासतों को 'जागीरों अथवा सामंतशाही जागीरों के मालिकों की श्रेणी' में रखा गया। मंडल के उद्घाटन के समय ब्रिटिश ताज ने देशी राजाओं के विशेषाधिकारों और मान-सम्मान की सुरक्षा के आश्वासन को दुहराया। नरेंद्रमंडल ने देशी रियासतों को ब्रिटिश सरकार के और नजदीक ला दिया। नरेंद्रमंडल सिर्फ एक परामर्शदात्री संस्था थी, इसका किसी राज्य के आंतरिक मामलों से कोई भी संबंध नहीं था।

बटलर समिति

लॉर्ड रिडिंग के 1926 ई. के वक्तव्य ने देशी शासकों को प्रेरित किया कि वे सरकार के साथ अपने संबंधों को स्पष्ट करें। ऐसी माँग लॉर्ड इरविन से की गई। फलतः 1927 ई. में सरकार ने दोनों शक्तियों के मध्य संबंध सुनिश्चित करने के लिए बटलर समिति नियुक्त की। इस कमिटी ने निम्नलिखित सिफारिशें प्रस्तुत कीं-

- सर्वश्रेष्ठता सर्वश्रेष्ठ रहनी चाहिए, इसे बदलती हुई परिस्थितियों के अनुसार अपना कर्तव्य निभाना चाहिए। अस्पष्ट मामलों में रीति-रिवाजों के अनुसार निर्णय होने चाहिए।
- देशी राज्यों के साथ संबंध के लिए सपरिषद् गवर्नर जनरल नहीं, बल्कि वायसराय ब्रिटिश सम्राट् का प्रतिनिधि माना जाए।
- देशी नरेशों की सहमति के बिना ब्रिटिश सरकार और देशी राज्यों के संबंध किसी ऐसी भारतीय सरकार को हस्तांतरित नहीं किए जाएँ जो व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी हो।

- देशी राज्यों की परिषद् बनाने की योजना रद्द कर दी जाए।
- किसी राज्य के प्रशासन में हस्तक्षेप का अधिकार वायसराय के जिम्मे सुरक्षित रहे।
- देशी रियासतों एवं ब्रिटिश भारत में होनेवाले मतभेदों को सुलझाने के लिए समितियाँ नियुक्त हों।
- यह व्यवस्था आर्थिक मामलों के सबंध में भी हो।
- राजनीतिक पदाधिकरियों की नियुक्ति इंग्लैंड में शिक्षाप्राप्त व्यक्तियों में से की जाए और उनकी शिक्षा की अलग व्यवस्था हो।
- देशी शासकों एवं राष्ट्रीय नेताओं ने इन सिफारिशों की कड़ी आलोचना की।

प्रमुख विचार

1. हमें सिंध पर कब्जा करने का कोई हक नहीं है, फिर भी हम ऐसा करेंगे, और यह बदमाशी का एक बहुत ही लाभदायक, उपयोगी और मानवीय उदाहरण होगा। - **नेपियर**
2. हमें ऐसा वर्ग बनाने के लिए जी-जान से प्रयत्न करना चाहिए जो हमारे और उन करोड़ों लोगों के बीच, जिन पर हम शासन करते हैं, दुभाषिए का काम कर सके; यह उन लोगों का वर्ग हो जो रक्त और रंग की दृष्टि से भारतीय मगर रुचि, विचारों, आचरण तथा बुद्धि की दृष्टि से अंग्रेज हों। - **मैकाले**
3. अनेक अंग्रेज और भारतीय अधिकारी ईमानदारी के साथ यह मानते हैं कि वे दुनिया की सबसे अच्छी प्रणालियों में से एक को यहां लागू कर रहे हैं। - **गांधी**
4. यदि हमारी शिक्षा योजनाओं का अनुसरण किया गया तो बंगाल के प्रतिष्ठित वर्ग में आने वाले 30 वर्षों में एक भी मूर्तिपूजक नहीं रहेगा। - **मैकाले**
5. सिंध को जीतना तो बुरा था परन्तु छोड़ना उससे भी अधिक बुरा होता। - **ग्लैडस्टन**
6. पंजाब का साम्राज्य में मिलाना न्यायसंगत तो सम्भवत: हो परन्तु अनुचित था। - **हेनरी लारेंस**
7. हमारी भारत में सामान्य प्रतिनिधि परम्परा द्वारा कानून बनाने की प्रणाली आरम्भ करने की कोई इच्छा नहीं है। - **चार्ल्स वुड**
8. ऐसे भारतीय भद्र पुरुषों को, जो अपने प्रभाव तथा अपनी योग्यताओं से अपने देशवासियों में विश्वास उत्पन्न कर सकते हैं और जिनमें इतनी बुद्धि तथा क्षमता है कि वे देश के प्रशासकों की अपने सुझावों से सहायता कर सकें, उनको लोक कार्यों के प्रशासन में अधिक भाग लेने का अवसर दिया जाए। - **लार्ड डफरिन**
9. न्यायालय में इतनी शक्ति नहीं थी जो सरकार के सैनिक और असैनिक पदाधिकारियों को नियंत्रण में रख सकता और अराजकता और अव्यवस्था पहले की भांति ही चलती रही। - **एस एन सेन**
10. मेरा दृढ़ विश्वास है कि भारत में उपयोगी शिक्षा के माध्यम के रूप में देशी भाषाओं का इस्तेमाल अंग्रेजी के मुकाबले अधिक फायदे का है। लोगों को अपनी भाषा में जो कुछ शिक्षा दी जाएगी उसे समझने में उन्हें कम कठिनाई होगी, और किसी विदेशी भाषा के माध्यम से उन्हें वह शिक्षा दी जाए तो उन्हें अधिक कठिनाई होगी। - **शंकर सेठ**
11. व्यक्तिगत नियंत्रण वाली शैक्षणिक संस्थाएं ठीक से काम नहीं कर रही थी, शिक्षित भारतीय विदेशी संस्कृति को आत्मसात करने में प्रकृया अयोग्य थे। और चरित्रवान व्यक्तित्व के निर्माण की दृष्टि से शिक्षा व्यवस्था का पुनर्गठन होना चाहिए। - **हार्टोग कमिटी**
12. जनशिक्षा की उपेक्षा ये यह स्पष्ट है कि भारत के नए शासक इस देश के सामाजिक उत्थान के लिए यहां नहीं आए थे। अंग्रेजी को इतना अधिक महत्व देने का कारण यह था कि वे स्वभावत: यही चाहते थे कि शासन में कम खर्च हो। - **गोखले**
13. इस शिक्षा व्यवस्था का उद्देश्य था मध्यमवर्गीय भारतीय नौजवानों पर ब्रिटेन के गौरव और समृद्धि की छाप डालना और उन्हें विदेशी अफसरशाही के सुयोग्य नौकर बनाना। - **गोखले**

14. भारत का राष्ट्रीय आंदोलन साम्राज्यवाद और इसकी शोषण व्यवस्था से पैदा हुआ शिक्षा व्यवस्था चाहे जो भी रहती, भारतीय बुर्जुआजी का उदय और ब्रिटिश बुर्जुआजी के प्रभुत्व के खिलाफ इसकी बढ़ती हुई प्रतिद्वंद्विता अवश्यंभावी थी। -आर सी दत

15. अधिकांश संख्या में उच्च पद जो यूरोपीयों के लिए थे और शुद्धत: तथा खासकर उन्हीं के लिए रखे जाने चाहिए थे दसी लोगों की श्रेष्ठतर बुद्धि के कारण उन्हीं के हाथों में पहुँचते जा रहे हैं। - कर्जन

16. एक संस्था से हम कभी इसके प्रकार्य और विशेषाधिकार नहीं छीनेंगे और यह संस्था है भारत की ब्रिटिश सिविल सर्विस। - लॉयड जॉर्ज

मॉडल उत्तर

प्रश्न : भारतीय रियासतों के प्रति अधीनस्थ सम्मिलन की नीति का परीक्षण कीजिए। अधीनस्थ पार्थक्य की नीति से अंतरण के कारण बताएं। (250 शब्द) 2005.

उत्तर : हेस्टिंग्स की विस्तारवादी नीति से प्रेरित होकर अंग्रेजों ने सर्वश्रेष्टता की नीति का प्रतिपादन किया। अब भारतीय रियासतों से संबंधों का आधार अधीनस्थ सहयोग एवं कंपनी की सर्वश्रेष्ठता को स्वीकार करने की नीति थी। इस नीति के तहत रियासतों ने अपनी बाह्य संप्रभुता कंपनी के हवाले कर दी। लेकिन आंतरिक मामले में उन्हें काफी स्वतंत्रता प्राप्त थी। 1833 के चार्टर एक्ट में कंपनी की व्यापारिक शक्तियां समाप्त कर दी गई एवं उसे राजनीतिक शक्ति के रूप में स्थापित किया गया। भारत में कंपनी की राजनीतिक शक्ति के विस्तार के लिए अब इन रियासतों के मामले में हस्तक्षेप की आवश्यकता महसूस हुई। अत: कंपनी ने अधीनस्थ पार्थक्य की नीति को त्यागकर अधीनस्थ सम्मिलन की नीति अपनाई। इस नीति के अंतर्गत कंपनी ने रियासतों के आंतरिक मामलों में भी हस्तक्षेप किया। उतराधिकार के मामले में अब कंपनी की इस नीति को सख्ती से लागू किया गया। यहाँ तक कि शासकों को कुशासन के लिए दंडित भी किया गया।

आधुनिक संचार व्यवस्था, रेलवे, सड़कें, टेलीग्राम, नहरें, पोस्ट आफिस, प्रेस तथा भारतीय जनमत ने भी अंग्रेजों को भारतीय रियासतों के मामलों में हस्तक्षेप करने तथा उनके अधिकार को कम करने में सहायक परिस्थितियों की भूमिका निभाई। भारत सरकार इन रियासतों के बाहरी एवं विदेशी संबंधों में भी पूर्ण नियंत्रण रखती थी। सरकार इनकी ओर से स्वयं युद्ध की घोषणा कर सकती थी एवं मध्यस्थता कर सकती थी। इस संबंध में बटलर आयोग ने 1927 में कहा कि अंतरराष्ट्रीय मामलों में रियासतों के प्रदेश अंग्रेजी भारत के प्रदेश हैं और रियासतों के नागरिक अंग्रेजी नागरिकों के समान हैं।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि अधीनस्थ-सम्मिलन की नीति के कारण भारतीय रियासतों की स्थिति ब्रिटिश प्रांतों की तरह हो गई। अब वे पूरी तरह से अंग्रेजों की दया पर निर्भर हो गए।

प्रश्न : भारतीय रजवाड़ों को ''तूफान में तरंग रोध'' मानने की लार्ड केनिंग की नीति को अंग्रेजों ने किस प्रकार चित्रित किया?

उत्तर : भारतीय रजवाड़ों के प्रति अंग्रेजों की नीति ब्रिटिश साम्राज्य की नीति के एक अंग के रूप में रही। 1857 के संघर्ष में अनेक भारतीय रजवाड़ों ने अंग्रेजों का साथ दिया था। बड़ौदा, ग्वालियर, हैदराबाद और जींद के शासकों ने पूरी तरह से अंग्रेजों की मदद की थी। ब्रिटिश सरकार इस व्यवस्था को कायम रखना चाहती थी। इसलिए ब्रिटिश सरकार ने उन्हें अपने एक हितैषी के रूप में खड़ा किया। वफादार राजाओं, नवाबों, जमींदारों को पुरस्कृत करने व विद्रोहियों को सजा देने की नीति अपनाई गई। इन राजाओं, नवाबों व जमींदारों को भूमि, सनद, उपाधियाँ, तलवारें व अन्य उपहार प्रदान किए जाते थे। गोद लेने की प्रथा को पुन: स्वीकृति प्रदान की गई। देखने में ब्रिटिश सरकार ने भूमिगत विस्तार, विलय और विजय की नीति त्याग दी थी परन्तु उन्हें कुशासन के नाम पर दंडित किया जाने लगा। इस तरह भारतीय रियासतों की अपनी स्वतंत्रता, शक्ति तथा स्थान जाती रही। ब्रिटिश क्राउन समूचे भारत के रजवाड़ों का सर्वोच्च बन गया। उनकी नवीन नीति थी कि राजाओं को कु-शासन के लिए दंडित तो किया जाए लेकिन प्रदेश विलय न किए जाएं। धीरे-धीरे अंग्रेजों द्वारा रजवाड़ों के आंतरिक मामलों में भी हस्तक्षेप किया जाने लगा।

प्रश्न : दक्ष निष्क्रीय नीति क्या थी? इसका क्यों त्याग किया गया? (1996) (150 शब्दों में)

उत्तर : दक्ष निष्क्रीय नीति लार्ड एलेनबरा के काल से प्रारंभ होकर लार्ड नार्थब्रुक के समय तक चलती रही, लेकिन लॉरेंस के समय में इस नीति की रूपरेखा स्पष्टत: निश्चित की गई। प्रथम अफगान युद्ध के पश्चात् दोस्त मुहम्मद के पुन: गद्दी पर आने से अंग्रेजों ने अफगानिस्तान के प्रति उदासीनता का रूख अपनाया तथा उसके आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप न करने की नीति अपनाई। दोस्त मुहम्मद ने कंपनी से एक संधि कर ली जिसके अनुसार दोनों ने एक-दूसरे के मामले में अहस्तक्षेप व मित्रता की नीति अपनाई।

लार्ड लॉरेंस ने भी दक्ष निष्क्रीय नीति का पालन किया। उसने यह बात स्पष्ट कर दी कि वह अफगानिस्तान के मामले में हस्तक्षेप नहीं करेगा, उसके आन्तरिक झगड़ों एवं उत्तराधिकार के युद्धों में नहीं उलझेगा। परंतु जो भी शासक अपनी स्थिति सुदृढ़ करने के लिए सहायता माँगेगा वह उसे सहायता अवश्य देगा। दोस्त मुहम्मद की मृत्यु के पश्चात् उत्पन्न हुए उत्तराधिकार के प्रश्न पर लार्ड लॉरेंस द्वारा शेर अली को मान्यता देकर उसे शासक स्वीकार कर लिया गया। लार्ड मेयो ने शेर अली को रूस के खिलाफ सैनिक एवं आर्थिक सहायता की माँग करने पर उसे स्वीकार नहीं किया और नार्थब्रुक ने काबुल के मामले में हस्तक्षेप न कर इस नीति का पालन किया। 1876 ई. में लार्ड लिटन भारत का वायसराय बनकर आया। उस पर ब्रिटेन के प्रधानमंत्री डिजरैली का प्रभाव था जो अफगानिस्तान के साथ संबंधों में अनिश्चितता को दूर कर स्पष्टता के पक्ष में था तथा वह एशिया और यूरोप में रूसी शक्ति के प्रसार को रोकना चाहता था। इसलिए लिटन ने "दक्ष निष्क्रीय नीति" का परित्याग कर दिया एवं अफगान मामले में "अग्रगामी नीति" अपनाई गई।

प्रश्न : उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त से लेकर लार्ड कर्जन के वायसराय के पद पर बने रहने तक तिब्बत के प्रति रही ब्रिटिश नीति का विवेचन किजिए। (1994, 1999) (150 शब्दों में)

उत्तर : तिब्बत सामरिक दृष्टिकोण से रूस, चीन एवं ब्रिटिश सरकार के लिए एक महत्त्वपूर्ण केन्द्र था। 1890 तक तिब्बत के दक्षिण में एक शक्तिशाली ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना हो चुकी थी, यह एशिया की राजनीति का केन्द्र बन गया था। भारत की अंग्रेज सरकार की तिब्बत में केवल व्यापार के लिए रुचि थी, क्योंकि इस विशाल औद्योगिक राष्ट्र को अब भी मंडियों की आवश्यकता थी इसी समय रूस की तिब्बत में बढ़ती शक्ति को देख अंग्रेजी शासन को खतरे की आशंका हुई। उसके फलस्वरूप 1903 में लार्ड कर्जन ने तिब्बत में एक छोटी सेना कर्नल यंग हस्बैंड के नेतृत्व में भेजी। तिब्बतियों को अंग्रेजी सेना के साथ संधि करनी पड़ी। संधि द्वारा तिब्बतियों पर अनेक शर्तें थोपी गई जिसके अन्तर्गत तिब्बत पर युद्ध के हर्जाने के रूप में बड़ी भारी राशि थोप दी गई। हर्जाना चुकाया जाने की अवधि तक चुम्बी घाटी पर अंग्रेजों का अधिकार स्वीकार कर लिया गया। तिब्बत के साथ यह तय किया गया कि तिब्बत इंग्लैण्ड के अलावा अन्य किसी भी विदेशी शक्ति को अपने यहां रेल, सड़क, तार आदि बनाने की सुविधा प्रदान नहीं करेगा। इस नीति से तिब्बत पर रूसी प्रभाव कम अवश्य हो गया। इस तरह तिब्बत की विदेश नीति पर अंग्रेजों का नियन्त्रण कायम हो गया।

प्रश्न : अंग्रेज शासकों द्वारा भारत में प्रेस की स्वतंत्रता पर अंकुश लगाने के लिए अधिनियमित प्रमुख विनियमों पर चर्चा कीजिए। (1999, 2004) (250 शब्दों में)

उत्तर : सर्वप्रथम 1799 ई. में फ्रांसीसी आक्रमण के भय से लार्ड वेलेजली ने समाचार पत्रों का "अधिनियम" लागू किया। जिस अनुसार प्रकाशित होने वाले समाचार पत्र के साथ संपादक व स्वामी का नाम छापना पड़ता था और इसे सरकार के समक्ष पेश किया जाना अनिवार्य था। हालांकि लार्ड वेलिंग्टन ने अपने प्रगतिशील विचारों के कारण इसमें छूट अवश्य दी, लेकिन जनहित को उद्वेलित करने वाले विषयों पर रोक लगी रही। 1823 ई. में जॉन एडम्स ने बिना सरकार से लाइसेंस लिए प्रकाशन पर रोक लगा दी। जिस फलस्वरूप मिरातुल अखबार पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। समाचार पत्रों पर से प्रतिबंध हटाने के लिए लार्ड बेंटिक द्वारा किए प्रयासों को पूरा करने का श्रेय लार्ड मेटकाफ को जाता है।

1857 ई. में "पंजीकरण अधिनियम" के तहत मुद्रणालयों और समाचार-पत्रों को नियमित किया गया किंतु सरकार से अनुमति का सिलसिला जारी रहा। 1870 में ब्रिटिश सरकार ने "भारतीय दंड संहिता" में धारा 124 ए को जोड़ा, जिसके तहत राजद्रोह को आजीवन निर्वासन व जुर्माना की सजा दिए जाने का प्रावधान था। 1878 में "वर्नाकुलर प्रेस एक्ट" लागू किया गया। यह क भाषायी अखबारों पर अंकुश लगाने के लिए बनाया गया था क्योंकि ब्रिटिश सरकार को उनकी ओर से खतरा महसूस होने लगा इसके तहत कोई अखबार यदि राजद्रोहात्मक सामग्री छापता या सरकारी चेतावनी का उल्लंघन करता है तो सरकार उस अखबार

प्रेस व अन्य सामग्री को जब्त कर सकती थी। 1881 ई. में लार्ड रिपन ने यह कानून वापस ले लिया। ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध बढ़ते आक्रोश को रोकने के लिए 1908 ई. में ''दी न्यूजपेपर्स एक्ट'' लागू किया जिसके तहत बहुत से अखबारों और संपादकों के खिलाफ मुकद्दमें चलाए गए और प्रेस की आजादी लगभग पूरी तरह कुचल दी गई। ऐसे सभी अखबारों को प्रतिबंधित कर दिया गया जिनसे किसी प्रकार की हिंसक वारदातों को प्रेरणा मिलती हो।

1910 ई. में ''इंडियन प्रेस एक्ट'' पास किया गया जिसके तहत समाचार-पत्र के प्रकाशक से कम से कम 500 रुपए तथा अधिक से अधिक 2000 रुपए की पंजीकरण जमानत लेने का स्थानीय सरकार को अधिकार प्राप्त था।

नोट : उत्तर का प्रथम वाक्यांश जानकारी हेतु अधिक विस्तार से दिया गया है। उत्तर लिखते वक्त इसे संक्षेप में देना है, क्योंकि इतिहास का पाठ्यक्रम 1857 से प्रारंभ होता है।

प्रश्न : 1919 तक के विश्वविद्यालय शिक्षा की वृद्धि एवं विकास को लिखिए। (1991) (150 शब्दों में)

उत्तर : 1854 तक उच्च शिक्षा की गति धीमी रही, परंतु 1854 से ईस्ट इंडिया द्वारा अपनी नई शिक्षा-नीति की घोषणा की गई जो ''वुड डिस्पैच'' के नाम से जानी जाती है। इसे ''भारतीय शिक्षा का मैग्नाकार्टा' कहा जाता है। इस सिफारिशों के आधार पर बंबई कलकत्ता और मद्रास में विश्वविद्यालय स्थापित किए गए। ये विश्वविद्यालय लंदन के नमूने के आधार पर स्थापित किए गए थे। इनका मुख्य कार्य परीक्षाएं लेना व उपाधियां देना था। लार्ड रिपन के शासन काल में गठित ''हंटर कमिटी'' की सिफरिशों के आधार पर 1882 में पंजाब विश्वविद्यालय की स्थापना की गई। लार्ड कर्जन शिक्षा के क्षेत्र में आमूल परिवर्तन लाना चाहता था। अपने उद्देश्यों की पूर्ति हेतु उसने सितंबर, 1901 में भारत के उच्चतम शिक्षा और विश्वविद्यालय अधिकारियों का एक सम्मेलन शिमला में बुलाया, जिसमें उच्च शिक्षा के सुधार हेतु प्रस्ताव किए। साथ ही उच्च शिक्षा पर सरकारी नियन्त्रण बढ़ाने की बात भी कही। 1902 में गठित ''यूनिवर्सिटी कमीशन'' की सिफारिशों के आधार पर कर्जन द्वारा भारतीय विश्वविद्यालय अधिनियम, 1904 पारित किया गया। जिसके अन्तर्गत तीनों पुराने विश्वविद्यालयों के संगठन में परिवर्तन कर दिया गया। विश्वविद्यालयों को प्राध्यापकों की अध्यापन एवं शोध के लिए नियुक्ति तथा प्रयोगशालाएँ एवं पुस्तकालय स्थापित करने का अधिकार प्रदान किया। इसी क्रम में, 1913 ई. के ''सरकारी प्रस्ताव'' में प्रत्येक प्रान्त में एक विश्वविद्यालय स्थापित करने की बात कही गई। 1917 में ''सैडलर आयोग'' गठित किया गया जिसकी रिपोर्ट के आधार पर मैसूर, पटना, बनारस, अलीगढ़, ढ़ाका, लखनऊ एवं हैदराबाद में विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई। विश्वविद्यालयों के संचालन की जिम्मेदारी प्रान्तीय सरकारों ने ले ली।

प्रश्न: अंग्रेजों के शासनकाल में तकनीकी शिक्षा के वर्द्धन और विकास का मूल्यांकन कीजिए। (1995) (150 शब्दों में)

उत्तर : अंग्रेजों के शासनकाल में तकनीकी शिक्षा के विकास पर इतना ही ध्यान दिया गया जितना उन्हें अपनी सेनाओं तथा अपने हितों की पूर्ति के लिए आवश्यक था। 1857 ई. तक समूचे भारत में सिर्फ तीन मेडिकल कॉलेज, कलकत्ता, बम्बई और मद्रास में थे तथा रूड़की में एक इंजीनियरिंग कॉलेज था। इन कॉलेजों में भी भारतीयों में प्रवेश वर्जित था। लार्ड कर्जन द्वारा चिकित्सा, इंजीनियरिंग, पशु चिकित्सा, विज्ञान एवं अन्य क्षेत्रों में तकनीकी शिक्षा के विकास के लिए विशेष प्रयास किए गए तथा कर्जन ने बिहार में पूसा कृषि महाविद्यालय की स्थापना की। लेकिन उसका उद्देश्य मात्र ब्रिटिश हितों तक सीमित था। इसी क्रम में 20 वीं शताब्दी में अनेक औद्योगिक एवं वैज्ञानिक संस्थानों की स्थापना हुई जिनमें, इन्डियन इंस्टीट्यूट ऑफ साइंस, बंगलौर, बोस रिसर्च इंस्टीट्यूट, कलकत्ता, फॉरेस्ट रिसर्च इंस्टीट्यूट, देहरादून, इंडियन स्कूल ऑफ माइंस, धनबाद इत्यादि प्रमुख हैं। ये सभी संस्थान मुख्यतया निजी प्रयासों से स्थापित किए गए। फिर भी, स्वतन्त्रता से पूर्व भारत तकनीकी शिक्षा के क्षेत्र में वास्तविक प्रगति नहीं कर सका। ऐसा अंग्रेजी नीति के कारण हुआ। परंतु यह कहेना कि भारत में तकनीकी शिक्षा के प्रचार-प्रसार में अंग्रेजों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा, तार्किक प्रतीत होता है।

के तथ्य को अस्वीकृत किए बिना राष्ट्रवादी विद्वान कांग्रेस को "तड़ित-चालक" के निर्माण की प्रक्रिया बताते हैं। लेकिन उस काल की राजनीतिक गतिविधियों की पृष्ठभूमि में कांग्रेस जैसे किसी राजनीतिक संगठन का आरंभ वस्तुत: एक ऐतिहासिक अनिवार्यता थी। कांग्रेस तत्कालीन शिक्षित भारतीयों की राष्ट्रवादी चेतना के संघनित होने का परिणाम था। सुरक्षा कपाट की अवधारणा वस्तुत: उग्रवादी राजनीति के नेताओं की उपज थी, जिन्होंने उदारवादी नेताओं की राजनीति से क्षुब्ध होकर इस प्रकार की अवधारणा बना ली थी।

कांग्रेस का आविर्भाव प्रकटत: उन भोले-भाले सरल प्रतीत होने वाले लक्ष्यों की प्राप्ति तक सीमित था, जिनमें प्रमुख थे-भारत के विभिन्न-प्रान्तों के राजनीतिक कार्यकलापों के बीच मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों का विकास, राष्ट्रीय एकता की भावना को प्रोत्साहन, सार्वजनिक माँगों को सूत्रबद्ध कर के सरकार के समक्ष प्रस्तुत करना तथा देश में जनमत को प्रशिक्षित एवं संगठित करना आदि। लेकिन जल्द ही यह संगठन अखिल भारतीय राष्ट्रीय चेतना का वाहक बन गया और राष्ट्रीय आंदोलनों का नेतृत्व संभाल लिया।

कांग्रेस के प्रारम्भिक लक्ष्य

- देशवासियों में व्यक्तिगत घनिष्टता और मैत्री को बढ़ावा देना।
- जाति, धर्म या प्रांतों से संबंधित सभी संभावित पूर्वाग्रहों का उन्मूलन।
- राष्ट्रीय एकता की भावनाओं को सुदृढ़ करना।
- समकालीन विकट समस्याओं के संबंध में शिक्षित वर्गों की सहमति प्राप्त करना।
- लोकहित में भावी कार्य-दिशा का निर्धारण।

उदारवादी राजनीति का चरण

कांग्रेस के नेतृत्व में ही भारत में राष्ट्रीय आन्दोलन का सूत्रपात हुआ जिसका उद्देश्य भारत को विदेशी शासन से मुक्त करना था। कांग्रेस की स्थापना के साथ ही इस पर उदारवादी राष्ट्रीय नेताओं का वर्चस्व हो गया। प्रारंभ में यह भारत के शिक्षित तथा अभिजात वर्ग के लोगों की एक संस्था थी। यह सही मायने में भारत की प्रतिनिधि सभा नहीं थी। इसके सदस्य नरम राष्ट्रीयता के पोषक थे और विनम्र शब्दों में सरकारी कार्यों की आलोचना कर उनमें सुधार के सुझाव देते थे। कांग्रेस का उद्देश्य प्रारम्भ में भारत को अंग्रेजी शासन से मुक्त कराना नहीं था। कांग्रेस के अधिवेशन में पास प्रस्ताव बड़े विनम्र शब्दों में होते थे और सरकार के प्रति किसी प्रकार के विद्रोह का लक्ष्य नहीं रखते थे। चूँकि सरकार से कांग्रेस को कोई विरोध नहीं था इसलिए भारतीय तथा अंग्रेज कर्मचारी भी इसके कार्यों में भाग लेते थे। लार्ड डफरिन तथा मद्रास के गवर्नर ने क्रमश: इसके दूसरे तथा तीसरे अधिवेशन में भाग लेने वाले प्रतिनिधियों को सरकारी भवन में प्रीतिभोज दिया था।

नरम राष्ट्रवादियों की अंग्रेजों की न्यायप्रियता में दृढ़ आस्था थी। उनका प्रमुख ध्येय था भारतीय शासन का प्रजातंत्रीकरण तथा विधानसभाओं में भारतीय प्रतिनिधियों की संख्या में वृद्धि। वे ब्रिटिश सम्राट के प्रति राजभक्ति दिखाते थे और राजनीतिक जागरण के लिए अपने को अंग्रेजों का कृतज्ञ मानते थे। कांग्रेस के 12वें अधिवेशन में रहमतुल्ला ने कहा था- 'अंग्रेजों से अधिक ईमानदार और शक्तिसम्पन्न जाति सूर्य के नीचे और कोई नहीं है।' चूँकि उदारवादियों का अंग्रेजों की न्यायप्रियता में अटूट विश्वास था इसलिए वे वैधानिक आन्दोलन द्वारा ही अपनी माँगों की पूर्ति करने का प्रयास करते थे। उदारवादी युग में कांग्रेस द्वारा कई राजनीतिक माँगें पेश की गई थी:

- धारा-सभा का विस्तार हो और इसके सदस्य जनता द्वारा निर्वाचित हों।
- केन्द्रीय तथा प्रांतीय धारा-सभाओं में भारतीय सदस्यों की संख्या में वृद्धि लाई जाए।
- न्याय-व्यवस्था में जूरी का प्रयोग हो।
- परिषद् में तथा उच्च नौकरियों में भारतीयों के स्थान मिलें तथा भारतीयों को उच्च सैनिक शिक्षा दी जाए।
- शस्त्र कानून में संशोधन लाया जाए।

- 1905 ई. में गोखले ने ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत स्वायत्त शासन की मांग की। 1906 ई. में इसी मांग को दादाभाई नौरोजी ने दुहराया।

कांग्रेस ने सामाजिक और आर्थिक जीवन के क्षेत्र में आवश्यक सुधार लाने के लिए कुछ मांगे रखी थी:

- भूमि कर में कमी की जाए।
- सिंचाई की व्यवस्था हो।
- भारतीय उद्योग-धंधों को प्रोत्साहित किया जाए एवं उसका आधुनिकीकरण किया जाए।
- भारत से बाहर भेजे जाने वाले अनाज के निर्यात पर प्रतिबंध लगाया जाए।
- शासन के व्यय में कमी की जाए।
- नमक-कर को समाप्त किया जाए।

1887 में दादाभाई नौरोजी ने इंग्लैंड में भारतीय सुधार समिति की स्थापना की। 1889 में कांग्रेस की ब्रिटिश समिति बनी जिसने इंडिया नामक की एक मासिक पत्रिका का प्रकाशन किया। इसके माध्यम से इंग्लैंड के नागरिकों को भारत की यथास्थिति से परिचित कराया जाता था। कांग्रेस ने भारतीयों की समस्याओं के निवारण हेतु समय-समय पर अपना प्रतिनिधि मंडल ब्रिटेन भेजा। इन समस्त प्रयासों का प्रतिफल यह रहा कि इंग्लैंड में भारतीय जनमानस की समस्याओं के प्रति सहानुभूति रखने वाले एक गुट का निर्माण हुआ। नि:संदेह यह कहा जा सकता है कि उदारवादियों ने सर्वप्रथम भारत में राष्ट्रीय एकता की प्रेरणा दी और कांग्रेस के मंच से ही भारतीयों की राजनीतिक शिक्षा दी जा सकी।

आरम्भ में कांग्रेस की स्थापना को ब्रिटिश कूटनीति की महान विजय समझा जाता था परन्तु सरकार और कांग्रेस के बीच यह मधुर संबंध अधिक समय तक कायम नहीं रह सका। 1888 ई. से सरकार की कांग्रेस संबंधी नीति में परिवर्तन हुआ। डफरिन ने एक भोज के अवसर पर कहा- अब कांग्रेस का झुकाव राजद्रोह की ओर हो गया है और यह शिक्षित भारतीयों का नाममात्र का प्रतिनिधित्व करती है। 1890 ई. में सरकार ने एक विज्ञप्ति निकाली जिसके अनुसार सरकारी कर्मचारियों को इस संगठन में भाग लेने की मनाही की गई। मुसलमानों को भी कांग्रेस के कार्यों से अलग रखने की चेष्टा होने लगी। सरकार के इस बदलते रूख के बावजूद कांग्रेस अपने रास्ते पर चलती रही। कांग्रेस की ओर से देश के विभिन्न भागों में सभाएँ की जाने लगीं और राष्ट्रीय माँगों की पूर्ति के लिए प्रस्ताव पारित होने लगे। किन्तु, अब भी कांग्रेसी नेताओं का अंग्रेजों में विश्वास था। ब्रिटिश पार्लियामेंट के सदस्य चार्ल्स ब्रेडले और सर वेडरबर्न के प्रयत्नों के फलस्वरूप 1892 में इंडियन कौंसिल एक्ट पास हुआ जिससे भारतीय विधानमंडल में कुछ सुधार हुए। पर, भारतीयों को जो थोड़े-बहुत राजनीतिक अधिकार प्राप्त हुए थे उनपर भी कुठाराघात होने लगा। 1898 में एक कानून पारित हुआ जिसके अनुसार अंग्रेजी शासन की आलोचना करना अपराध माना गया। 1899 में कलकत्ता कॉरपोरेशन के भारतीय सदस्यों की संख्या को कम कर दिया गया। 1904 में प्रेस की स्वतंत्रता सीमित कर दी गई इससे उदारवादियों में असंतोष बढ़ने लगा। कांग्रेस के कुछ सदस्यों को विश्वास हो गया कि केवल प्रस्ताव पारित करने से उद्देश्य सिद्धि नहीं होगी, इसके लिए कुछ अधिक ठोस कदम उठाने होंगे।

उदारवादियों के समय ही भारतीय राजनीतिक रंगमंच पर बाल गंगाधर तिलक का पदार्पण हुआ। उनका कहना था कि कांग्रेस की नरमी और राजभक्ति स्वतंत्रता प्राप्त करने में बाधक है। केवल प्रस्ताव पास करने तथा अंग्रेजों के सामने हाथ पसारने से राजनीतिक अधिकार प्राप्त नहीं होंगे, बल्कि उनके लिए आन्दोलन करना होगा। उनका दृढ़ विश्वास था कि ब्रिटिश शासन के अंत के बिना देश का कल्याण संभव नहीं है। उन्होंने गणपति समारोह और शिवाजी समारोह का आयोजन कर लोगों की धार्मिक भावना को जगाया तथा उनमें राष्ट्र के प्रति भक्ति पैदा की। उन्होंने विद्यार्थियों के लिए अनुशासन एवं स्वास्थ्य पर भी अधिक जोर दिया ताकि युवकों में साहस का विकास हो और वे निर्भीक होकर राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग ले सकें। तिलक, जिन्हें अंग्रेज 'भारतीय अशांति का जनक' कहकर पुकारते थे, 1897 में राजद्रोह के अपराध में गिरफ्तार कर लिए गए और उन्हें अठारह माह के कारावास की सजा दी गई। तिलक की गिरफ्तारी से भारतवासी क्षुब्ध हो उठे और देश में घोर असंतोष फैल गया। नि:सन्देह कुछ समय के लिए राष्ट्रीय प्रगति रूक गई थी और भारत के राजनीतिक गगन में शांति कायम हो गई थी, किंतु यह शांति आने वाले झंझावात का द्योतक थी, जो

- 1905 ई. में गोखले ने ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत स्वायत्त शासन की मांग की। 1906 ई. में इसी मांग को दादाभाई नौरोजी ने दुहराया।

कांग्रेस ने सामाजिक और आर्थिक जीवन के क्षेत्र में आवश्यक सुधार लाने के लिए कुछ मांगे रखी थी:

- भूमि कर में कमी की जाए।
- सिंचाई की व्यवस्था हो।
- भारतीय उद्योग-धंधों को प्रोत्साहित किया जाए एवं उसका आधुनिकीकरण किया जाए।
- भारत से बाहर भेजे जाने वाले अनाज के निर्यात पर प्रतिबंध लगाया जाए।
- शासन के व्यय में कमी की जाए।
- नमक-कर को समाप्त किया जाए।

1887 में दादाभाई नौरोजी ने इंग्लैंड में भारतीय सुधार समिति की स्थापना की। 1889 में कांग्रेस की ब्रिटिश समिति बनी जिसने इंडिया नामक की एक मासिक पत्रिका का प्रकाशन किया। इसके माध्यम से इंग्लैंड के नागरिकों को भारत की यथास्थिति से परिचित कराया जाता था। कांग्रेस ने भारतीयों की समस्याओं के निवारण हेतु समय-समय पर अपना प्रतिनिधि मंडल ब्रिटेन भेजा। इन समस्त प्रयासों का प्रतिफल यह रहा कि इंग्लैंड में भारतीय जनमानस की समस्याओं के प्रति सहानुभूति रखने वाले एक गुट का निर्माण हुआ। नि:संदेह यह कहा जा सकता है कि उदारवादियों ने सर्वप्रथम भारत में राष्ट्रीय एकता की प्रेरणा दी और कांग्रेस के मंच से ही भारतीयों की राजनीतिक शिक्षा दी जा सकी।

आरम्भ में कांग्रेस की स्थापना को ब्रिटिश कूटनीति की महान विजय समझा जाता था परन्तु सरकार और कांग्रेस के बीच यह मधुर संबंध अधिक समय तक कायम नहीं रह सका। 1888 ई. से सरकार की कांग्रेस संबंधी नीति में परिवर्तन हुआ। डफरिन ने एक भोज के अवसर पर कहा- अब कांग्रेस का झुकाव राजद्रोह की ओर हो गया है और यह शिक्षित भारतीयों का नाममात्र का प्रतिनिधित्व करती है। 1890 ई. में सरकार ने एक विज्ञप्ति निकाली जिसके अनुसार सरकारी कर्मचारियों को इस संगठन में भाग लेने की मनाही की गई। मुसलमानों को भी कांग्रेस के कार्यों से अलग रखने की चेष्टा होने लगी। सरकार के इस बदलते रूख के बावजूद कांग्रेस अपने रास्ते पर चलती रही। कांग्रेस की ओर से देश के विभिन्न भागों में सभाएँ की जाने लगीं और राष्ट्रीय माँगों की पूर्ति के लिए प्रस्ताव पारित होने लगे। किन्तु, अब भी कांग्रेसी नेताओं का अंग्रेजों में विश्वास था। ब्रिटिश पार्लियामेंट के सदस्य चार्ल्स ब्रेडले और सर वेडरबर्न के प्रयत्नों के फलस्वरूप 1892 में इंडियन कौंसिल एक्ट पास हुआ जिससे भारतीय विधानमंडल में कुछ सुधार हुए। पर, भारतीयों को जो थोड़े-बहुत राजनीतिक अधिकार प्राप्त हुए थे उनपर भी कुठाराघात होने लगा। 1898 में एक कानून पारित हुआ जिसके अनुसार अंग्रेजी शासन की आलोचना करना अपराध माना गया। 1899 में कलकत्ता कॉरपोरेशन के भारतीय सदस्यों की संख्या को कम कर दिया गया। 1904 में प्रेस की स्वतंत्रता सीमित कर दी गई इससे उदारवादियों में असंतोष बढ़ने लगा। कांग्रेस के कुछ सदस्यों को विश्वास हो गया कि केवल प्रस्ताव पारित करने से उद्देश्य सिद्धि नहीं होगी, इसके लिए कुछ अधिक ठोस कदम उठाने होंगे।

उदारवादियों के समय ही भारतीय राजनीतिक रंगमंच पर बाल गंगाधर तिलक का पदार्पण हुआ। उनका कहना था कि कांग्रेस की नरमी और राजभक्ति स्वतंत्रता प्राप्त करने में बाधक है। केवल प्रस्ताव पास करने तथा अंग्रेजों के सामने हाथ पसारने से राजनीतिक अधिकार प्राप्त नहीं होंगे, बल्कि उनके लिए आन्दोलन करना होगा। उनका दृढ़ विश्वास था कि ब्रिटिश शासन के अंत के बिना देश का कल्याण संभव नहीं है। उन्होंने गणपति समारोह और शिवाजी समारोह का आयोजन कर लोगों की धार्मिक भावना को जगाया तथा उनमें राष्ट्र के प्रति भक्ति पैदा की। उन्होंने विद्यार्थियों के लिए अनुशासन एवं स्वास्थ्य पर भी अधिक जोर दिया ताकि युवकों में साहस का विकास हो और वे निर्भीक होकर राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग ले सकें। तिलक, जिन्हें अंग्रेज 'भारतीय अशांति का जनक' कहकर पुकारते थे, 1897 में राजद्रोह के अपराध में गिरफ्तार कर लिए गए और उन्हें अठारह माह के कारावास की सजा दी गई। तिलक की गिरफ्तारी से भारतवासी क्षुब्ध हो उठे और देश में घोर असंतोष फैल गया। नि:सन्देह कुछ समय के लिए राष्ट्रीय प्रगति रूक गई थी और भारत के राजनीतिक गगन में शांति कायम हो गई थी, किंतु यह शांति आने वाले झंझावात का द्योतक थी, जो

1905 में फूट पड़ी।

1905 ई. तक कांग्रेस पूर्णत: उदारवादियों तथा नरमदलीय नेताओं के प्रभाव में थी, जो अंग्रेजों की न्यायशीलता तथा सच्चाई में विश्वास करते थे। वे शासन में किसी महत्त्वपूर्ण या मूलभूत परिवर्तन के समर्थक नहीं थे, अपितु परिषदों, सरकारी सेवाओं, स्थानीय संस्थाओं और रक्षा सेवाओं में क्रमिक सुधार की माँग करते रहे। दादाभाई नौरोजी, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, गोपालकृष्ण गोखले, फिरोजशाह मेहता, महादेव गोविन्द राणाडे प्रमुख उदारवादी नेता थे। राष्ट्रवादी लेखक गुरुमुख निहाल सिंह के शब्दों में - आरम्भ में कांग्रेस द्वारा राजभक्ति की प्रतिज्ञा, नरम नीति, आवेदन की नहीं वरन् भिक्षावृति की नीति अपनाने पर भी, उसने यह समय राष्ट्रीय जागृति, राजनीतिक शिक्षा तथा भारतीयों को एक सूत्र में बाँधने और उनमें सामान्य भारतीय राष्ट्रीयता की भावना जागृत करने में लगाया।

उदारवादी राजनीति की कमियां

ब्रिटिश साम्राज्य के प्रति मिथ्या धारणा : उदारवादी नेता यह समझ नहीं सके कि भारत में ब्रिटिश साम्राज्य का वास्तविक आधार क्या है। उसकी क्या प्रवृत्ति है। शासक और शासित के स्वार्थ परस्पर विरोधी होते हैं। उदारवादियों का यह गलत अनुमान था कि अंग्रेजों और भारतीयों के हित परस्पर विरोधी न होकर एक दूसरे से जुड़े हैं। एक आधुनिक लेखक का यह कहना है कि उदारवादियों को अंग्रेजों पर विश्वास था और वे समझते थे कि अंग्रेजों की शासन प्रक्रिया ही सबसे अच्छी है। वे भूल गए थे कि ब्रिटिश सरकार का मूल उद्देश्य भारत का आर्थिक शोषण और राजनीतिक पराधीनता है।

राष्ट्रीय तत्वों का अभाव : कांग्रेस की स्थापना का आधार शिक्षित भारतीयों का सहयोग था। जनसाधारण के बीच उनकी पैठ नहीं थी। लाला लाजपत राय ने लिखा है-प्रारम्भ में कांग्रेस आन्दोलन में राष्ट्रीय आन्दोलन के तत्वों की कमी थी। यह आन्दोलन न तो जनता द्वारा संयोजित था और न उसके द्वारा अनुप्राणित ही।

जन आंदोलन का अभाव : जनता में पैठ न होना तथा जनता की शक्ति में आस्था न हो पाने के कारण ये जन आंदोलनों को जन्म देने में असफल रहे।

उदारवादी राजनीति की सफलताएँ

उदारवादियों को अपने उद्देश्य में विशेष सफलता नहीं मिली जिसके चलते उनके महत्त्व को नजरअंदाज कर दिया जाता है। वे तत्कालीन परिस्थिति से विवश थे। फिर भी जो सेवा उन्होंने भारत के लिए की उसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। उन्हीं के प्रयास से औपनिवेशिक स्वशासन तथा प्रशासनिक सुधार की मांग की जाने लगी भारतीयों को राजनीतिक प्रशिक्षण दिलाने की दिशा में उनका योगदान प्रशंसनीय था। उदारवादियों के राजनीति पर प्रभाव से एक लाभ अवश्य हुआ- राष्ट्रवादियों के हृदय में आत्मविश्वास तथा आत्मसम्मान की भावना जागृत हुई। वे धीरे-धीरे समझने लगे कि ब्रिटिश शासन उनका कल्याण करना नहीं चाहती।

भारतीय स्वतंत्रता संग्राम की नींव इन्हीं उदारवादियों के प्रयास से डाली गई। डॉ. सीतारमैया ने उदारवादियों के कार्यों की प्रशंसा में यह विचार व्यक्त किया है- प्रारंभिक राष्ट्रवादियों ने ही आधुनिक स्वतंत्रता की इमारत की नींव डाली। उनके प्रयत्नों से ही इस नींव पर एक-एक मंजिल करके इमारत बनती चली गई। पहले उपनिवेशों के ढंग का स्वशासन, फिर साम्राज्य के अन्तर्गत होमरूल, इसके ऊपर स्वराज्य और सबसे ऊपर पूर्ण स्वाधीनता की मंजिलें बन सकी हैं।

उग्रवादी चरण

बीसवीं शताब्दी के आरम्भ होते ही भारतीय राष्ट्रीय जीवन में नई भावनाओं का प्रादुर्भाव हुआ और भारतीय राष्ट्रीयता ने अपना शैशव छोड़कर तरुणाई में प्रवेश किया। कांग्रेस के युवा वर्ग के नेताओं में उदारवादियों की भिक्षा-वृति नीति के प्रति आस्था नहीं रही। इस युग में एक ओर उग्रवादी तो दूसरी ओर क्रांतिकारी आन्दोलन चलाये गए। जहाँ एक ओर उग्रवादी शान्तिपूर्ण सक्रिय राजनीतिक आंदोलनों में विश्वास करते थे, वहीं क्रांतिकारी अंग्रेजों को भारत से भगाने में शक्ति एवं हिंसा के उपयोग में विश्वास करते थे। जवाहरलाल नेहरू ने कहा है - राष्ट्रीय आन्दोलन हर जगह उदार रूप से प्रारंभ होते हैं तथा अनिवार्यत: अधिक उग्र हो जाते हैं और स्वतंत्रता की मांग दबायी जाने पर चक्रवृद्धि ब्याज सहित पूरी करनी पड़ती है।

उग्रवाद के उदय के कारण

ब्रिटिश सरकार की प्रतिक्रियावादी नीति

1892 से 1906 तक इंग्लैंड में टोरी दल सतारूढ़ था। इस दल की नीति प्रतिक्रियावादी थी। सरकार ने इस अवधि में जो नीतियां अपनाई और जो सुधार किए उनसे भारतीय जनता बहुत ही क्षुब्ध हो उठी। 1892 के अधिनियम द्वारा जो सुधार किए गए वे अपर्याप्त और निराशाजनक थे। गैर सरकारी सदस्य जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित नहीं होते थे और न विधान परिषदों को कोई उल्लेखनीय अधिकार प्रदान किए गए थे।

1893 ई. के कांग्रेस अधिवेशन में गोखले ने बताया- 'विधान परिषद् के विषय में जो कानून बनाए गए हैं उन्होंने तो सुधार योजना का उद्देश्य ही नष्ट कर दिया है।' भारतीय राजनीति में उग्रवाद के उदय का मुख्य कारण यही असंतोष था।

कांग्रेस की मांग की उपेक्षा

सरकार की प्रतिक्रियावादी नीति के बावजूद कांग्रेस अपनी मांगों को पूरा करवाने में प्रयासरत रही पर इसका कोई फायदा नहीं हुआ। परिणाम यह हुआ कि कांग्रेस के युवा वर्ग का वैधानिक आन्दोलन में विश्वास नहीं रहा। लाला लाजपत राय का कहना था- 'भारतीयों को अब भिखारी बने रहने में ही संतोष नहीं करना चाहिए और न उन्हें अंग्रेजों की कृपा पाने के लिए गिड़गिड़ाना चाहिए।' तिलक ने तो यहाँ तक कहा- 'मांगने से कोई चीज प्राप्त नहीं हो सकती। इन नेताओं ने ब्रिटिश सरकार से अहिंसात्मक लड़ाई लड़ने, विदेशी कपड़ों का बहिष्कार करने और राष्ट्रीय शिक्षा द्वारा युवकों को संगठित करने के पक्ष में जोरदार आंदोलन प्रारम्भ किया।

प्राकृतिक प्रकोप

1876 से 1900 के मध्य भारत करीब 18 बार अकाल की चपेट में आ चुका था जिससे धन-जन की काफी हानि हुई। 1897-98 में बम्बई में प्लेग की चपेट में आकर करीब एक लाख 75 हजार लोग काल-कलवित हो गए। सरकार ने इसे रोकने का कोई प्रयास नहीं किया बल्कि उलटे प्लेग की जांच के बहाने भारतीयों के घरों में घुसकर उनकी बहन-बेटियों के साथ अमानवीय व्यवहार किया गया, प्लेग के समय की ज्यादतियों से प्रभावित होकर पूना के चापेकर बन्धुओं ने प्लेग अधिकारी रैण्ड एवं एमहर्स्ट को गोली मार दी। इन घटनाओं ने उग्र राष्ट्रवाद को प्रोत्साहन दिया।

आर्थिक असंतोष

प्रसिद्ध विद्वान लॉर्ड बेकन का यह कथन कि अधिक दरिद्रता और आर्थिक असंतोष क्रांति को जन्म देता है, भारत के सन्दर्भ में अक्षरश: सत्य है। अंग्रेजों की तीव्र आर्थिक शोषण की नीति ने सचमुच भारत में उग्रवाद को जन्म दिया। शिक्षित भारतीयों को रोजगार से दूर रखने की सरकार की नीति ने भी उग्रवाद को बढ़ावा दिया। अंग्रेजों की व्यापार नीति भारत को नुकसान पहुँचाने वाली थी। भारतीय वस्त्रकला और उसके व्यापार को भारी नुकसान पहुँचाया गया।

हिंदू धर्म का पुनरुत्थान

हिन्दू धर्म के पुनरुत्थान ने भी उग्रवाद के उदय में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। कांग्रेस के उदारवादी नेताओं ने पश्चिमी सभ्यता एवं संस्कृति में अपनी पूर्ण निष्ठा जताई, परंतु दूसरी ओर स्वामी विवेकानन्द, दयानंद सरस्वती, तिलक, लाला लाजपतराय, अरविंद घोष एवं विपिनचन्द्र पाल जैसे लोग भी थे जिन्होंने अपनी सभ्यता और संस्कृति को पाश्चात्य संस्कृति से श्रेष्ठ प्रमाणित किया। अरविंद घोष ने कहा- 'स्वतंत्रता हमारे जीवन का उद्देश्य है और हिन्दू धर्म ही हमारे उद्देश्यों की पूर्ति करेगा। राष्ट्रीयता एक धर्म है और वह ईश्वर की देन है।' एनी बेसेंट ने कहा कि 'सारी हिन्दू प्रणाली पश्चिमी सभ्यता से बढ़कर है।'

लॉर्ड कर्जन का प्रतिगामी शासन

कर्जन की प्रतिक्रियावादी नीतियों की भारतीय युवा मन पर कड़ी प्रतिक्रिया हुई। कर्जन के 7 वर्ष के शासन काल को शिष्ट मण्डलों, भूलों तथा आयोगों का काल कहा जाता है। कर्जन के प्रतिक्रियावादी कार्यों जैसे- कलकत्ता कॉरपोरेशन अधिनियम, विश्वविद्यालय

अधिनियम एवं बंगाल विभाजन ने भारत में उग्रवाद को बढ़ाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई।

अंतरराष्ट्रीय घटनाओं का प्रभाव

मिस्र, फारस एवं तुर्की में सफल स्वतंत्रता संग्राम ने भारतीयों को काफी उत्साहित किया। 1897 में अफ्रीका के पिछड़े एवं छोटे राष्ट्र अबिसीनिया (इथियोपिया) ने इटली को पराजित किया और 1905 में जापान की रूस पर विजय आदि से उग्र राष्ट्रवादी विचार को बढ़ावा मिला। गैरेट ने कहा- इटली की हार ने 1897 में तिलक के आन्दोलन को बड़ा बल प्रदान किया।

ब्रिटिश उपनिवेशों में भारतीयों का अपमान

ब्रिटिश उपनिवेशों में भारतीयों के साथ जो अपमानपूर्ण नीति अपनाई जाती थी उससे भी भारतीय बहुत क्षुब्ध थे, विशेषकर द. अफ्रीका में भारतीयों के साथ बहुत बुरा बर्ताव होता था।

उग्रवाद की विचारधारा का प्रकटीकरण प्रथमत: अरविन्द घोष के 'न्यूलैंप्स फॉर द ओल्ड' नामक लेख में हुआ। कालान्तर में तिलक के मराठा एवं केसरी तथा बंगाल से प्रकाशित होने वाले सांध्य एवं युगान्तर में भी इस विचार को पर्याप्त स्थान मिला। अरविन्द का भवानी मंदिर तथा वंदे मातरम् नामक पत्र भी इस सशक्त विचार शक्ति का पोषण कर रही थी। पंजाब में लाला लाजपत राय, महाराष्ट्र में महात्मा तिलक एवं बंगाल में विपिनचंद्र पाल इस विचार पद्धति के प्रमुख उन्नायक थे।

उग्रवादी आंदोलन का उद्देश्य

उग्र राष्ट्रवादी विचारकों का अंतिम लक्ष्य स्वतंत्रता की प्राप्ति था। वे ब्रिटिश सरकार से पूर्ण रूप से संबंध विच्छेद करने के पक्ष में थे तथा प्राचीन भारतीय संस्कृति एवं परंपराओं स्थापना के अनुसार शासन संस्थाओं की स्थापना करना चाहते थे। तिलक ने कहा था, "स्वराज्य मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है और मैं इसे लेकर रहूँगा।" तिलक ने स्वतंत्रता के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए कहा था कि "स्वतंत्रता ही मनुष्य को स्वतंत्रता के योग्य बनाती है और इसलिए एक बार जब भारत को स्वतंत्रता मिल जाएगी, तब दूसरे क्षेत्रों में उन्नति अवश्यम्भावी है।" अरविंद घोष ने कहा था कि "स्वतंत्रता हमारे जीवन का लक्ष्य है और हिन्दू धर्म के माध्यम से इस आकांक्षा की पूर्ति हो सकती है।"

कार्य प्रणाली

उग्र राष्टवादी उदारवादियों की भांति संवैधानिक तरीकों में विश्वास नहीं करते थे। बाल गंगाधर तिलक ने उग्रवादी दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए कहा था कि "हमारा आदर्श दया याचना नहीं आत्मनिर्भरता है।" विपिनचन्द्र पाल का कहना था कि-"अगर सरकार स्वत: स्वराज्य का दान देती है तो मैं उसे धन्यवाद दूंगा, लेकिन मैं उसे स्वीकार नहीं करूँगा जब तक कि उसे मैं स्वयं हासिल न कर पाऊँ।" उग्रवादियों का विश्वास था कि प्रार्थना पत्र देने, भाषणबाजी करने और प्रस्ताव पास करने से स्वराज्य की प्राप्ति नहीं हो सकती, इसके लिए वे जनता में राजनीतिक चेतना जागृत कर ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध सशक्त आंदोलन चलाना चाहते थे। उग्र राष्ट्रवादियों ने भारतीयों के हृदय से इस बात को निकालने का प्रयास किया कि अंग्रेज सर्वशक्तिमान नहीं हैं बल्कि इन्हें भारत से भगाया जा सकता है। इन्होंने अपने कार्यक्रम में बहिष्कार, स्वदेशी आंदोलन, सविनय अवज्ञा और असहयोग की नीति आदि को अपनाया। राष्ट्रीय शिक्षा पर भी उग्र राष्ट्रवादियों ने बहुत जोर दिया।

उग्रवादी आंदोलन का विकास

उग्र राष्ट्रवादी आंदोलन का प्रारंभ महाराष्ट्र में तिलक के नेतृत्व में शुरू हुआ। तिलक ने 1880 ई. में केसरी तथा मराठा साप्ताहिक पत्रों का प्रकाशन शुरू किया। पत्रों के माध्यम से तिलक ने जनता में ब्रिटिश सरकार के शोषणकारी कार्यों का खुलासा कर देशभक्ति एवं देशप्रेम की शिक्षा दी। जनता में राजनीतिक चेतना जागृत करने के लिए तिलक ने 1893 ई. में 'गणपति उत्सव' तथा 1895 ई. में 'शिवाजी उत्सव' का प्रारंभ किया। तिलक ने महाराष्ट्र की जनता को एक नया जीवन दिया तथा लोगों में उग्र राष्ट्रीयता व देशभक्ति की भावना का संचार किया। 1896-97 ई. में महाराष्ट्र में भीषण अकाल तथा महामारी का प्रकोप हुआ। दैवी प्रकोप से जन धन की बहुत बर्बादी हुई। सरकार की ओर से इस संकट की घड़ी में कोई ठोस कदम नहीं उठाया गया। तिलक ने अपने पत्रों में सरकार द्वारा

किए गए कार्यों को अपर्याप्त और असंतोषजनक बताया। चापेकर बंधुओं ने गुस्से में आकर पूना के प्लेग कमिश्नर रैण्ड तथा उसके सहयोगी लेफ्टिनेन्ट एमहर्स्ट को गोली मार दी। हत्या के लिए चापेकर बंधुओं को फांसी की सजा दी गई तथा तिलक को 18 माह का कठोर कारावास दिया गया। संपूर्ण राष्ट्र की ओर से तिलक की सजा का विरोध किया गया।

बंगाल में उग्र राष्ट्रवादी आंदोलन का प्रारंभ लॉर्ड कर्जन के बंगाल विभाजन की घोषणा से शुरू हुआ। बंगाल राष्ट्रीय आंदोलन का प्रमुख केन्द्र था। लॉर्ड कर्जन ने सोचा कि यदि बंगाल का विभाजन कर दिया जाए तो इससे राष्ट्रीय आंदोलन अपने आप कमजोर हो जाएगा। साथ ही बढ़ती हुई उग्र राष्ट्रवादी आंदोलन पर काबू पाया जा सकता है। बंगाल विभाजन का राष्ट्रवादियों ने घोर विरोध किया। उन्होंने महसूस किया कि ब्रिटिश सरकार इस विभाजन से हिन्दू और मुसलमानों में फूट डालने का प्रयास कर रही है। बंगाल विभाजन के विरुद्ध जन आंदोलन केवल बंगाल में नहीं बल्कि सारे राष्ट्र में फैल गया। 16 अक्टूबर, 1905 ई. को जब विभाजन को व्यावहारिक रूप दिया गया तो सारे बंगाल में राष्ट्रीय शोक मनाया गया। कलकत्ता में सार्वजनिक हड़ताल की गई। वन्दे मातरम् के नारों से शहर गूँज उठा। आनंद बोस् ने जनता को संगठित होकर आंदोलन करने को कहा। आंदोलन के दौरान विदेशी वस्तुओं की होली जलायी गयी तथा हथकरघे के विकास के लिए राष्ट्रीय संस्था की स्थापना की गयी। स्वदेशी वस्तुओं के प्रयोग पर अधिक जोर दिया गया। लोगों ने प्रतिज्ञा की-''हम ईश्वर को साक्ष्य मानकर प्रतिज्ञा करते हैं कि जहाँ तक संभव और व्यावहारिक हो सकेगा हम अपने देश में बनी हुई वस्तुओं का प्रयोग करेंगे और ब्रिटिश वस्तुओं का प्रयोग नहीं करेंगे।'' अनेक कवियों और लेखकों ने राष्ट्रवादी रचनाएँ करके स्वदेशी और बहिष्कार आंदोलन को बढ़ावा दिया। 1907 ई. में सभा और सम्मेलन पर प्रतिबंध लगाने के उद्देश्य से 'षड्यंत्रकारी सभा अधिनियम' पास हुआ।

1907 ई. के कांग्रेस के सूरत अधिवेशन में कांग्रेस में फूट पड़ी। इस अधिवेशन में उग्र राष्ट्रवादी लोकमान्य तिलक को सभापति पद पर आसीन करना चाहते थे। किन्तु उदारवादियों ने अपने बहुमत से डॉ. रासबिहारी घोष को सभापति निर्वाचित किया। परिणामस्वरूप अध्यक्ष के भाषण के पहले ही हंगामा हो गया और अधिवेशन स्थगित करना पड़ा। श्रीमती एनी बेसेन्ट ने सूरत की घटना को कांग्रेस के इतिहास में सर्वाधिक शोकपूर्ण घटना कहा था। उग्र राष्ट्रवादी कांग्रेस से अलग हो गए।

1908 ई. में 'केसरी' में प्रकाशित लेखों के आधार पर तिलक तथा लाला लाजपत राय को काला पानी की सजा दी गयी। इसका विरोध पूरे भारतवर्ष में किया गया। ब्रिटिश सरकार उग्रवादी आंदोलन को बलपूर्वक दबाने पर लगी हुई थी। सन् 1911 ई. के 'षड्यंत्रकारी सभा अधिनियम' द्वारा सरकार के विरुद्ध सभाएँ करने पर प्रतिबंध लगा दिया गया। जिन उग्र राष्ट्रवादी नेताओं को बिना मुकद्दमा चलाये या जबरदस्ती कैद में डाल दिया गया था उन्हें देश-निकाला दे दिया गया।

तिलक 6 वर्षों की सजा काटकर 1914 ई. में मांडले जेल से लौटे तो इससे राष्ट्रीय संगठन में पुन: नयी प्रेरणा एवं शक्ति का संचार हुआ। 1915 ई. में गोपाल कृष्ण गोखले तथा फिरोजशाह मेहता की मृत्यु हो जाने से कांग्रेस नेतृत्वविहीन हो गयी। ऐसी स्थिति में श्रीमती ऐनी बेसेन्ट ने मध्यस्थता का कार्य किया तथा 1916 ई. के लखनऊ अधिवेशन में दोनों दलों में मेल हो गया। तिलक तथा एनी बेसेन्ट ने 1916 ई. में 'होमरूल आंदोलन' का श्रीगणेश किया। कांग्रेस ने भी होमरूल आंदोलन को स्वीकार किया और साथ मिलकर राष्ट्रीय आंदोलन को तीव्र करने का निर्णय लिया।

होमरूल आंदोलन को यद्यपि उदारवादियों ने अपना पूर्ण समर्थन दिया किन्तु फिर भी उदारवादियों एवं उग्र राष्ट्रवादियों की विचारधाराएँ एक नहीं हो पायी। मॉण्टफोर्ड सुधार योजना के प्रकाशित होने पर उग्र राष्ट्रवादियों ने डटकर उसका विरोध किया। उदारवादी उस योजना में कुछ सुधार लाकर स्वीकार करने के पक्ष में थे। 1917 ई. में कलकत्ता तथा 1918 ई. में बंबई कांग्रेस अधिवेशन में उदारवादियों को आमंत्रित करने के बावजूद उन्होंने अपने को अधिवेशन से अलग रखा और उदारवादियों ने कांग्रेस से अलग एक संगठन 'राष्ट्रीय उदार संघ' (National Liberal Federation) बनाया। 1918 ई. के बाद गांधीजी ने भारतीय राजनीति में प्रवेश किया तथा उन्होंने 1919 ई. में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का नेतृत्व किया, धीरे-धीरे उदारवादियों तथा उग्र राष्ट्रवादियों के बीच विवाद समाप्त हो गया।

निष्कर्ष के रूप में हम कह सकते हैं कि उग्र राष्ट्रवादियों ने राष्ट्रीय आंदोलन को सक्रिय रूप प्रदान करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी। इन्होंने भारतीय नवयुवकों को संगठित करने में, उनमें राजनीतिक चेतना जागृत करने में सराहनीय कार्य किया। उग्रराष्ट्रवादियों ने अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए जिन कार्यक्रमों को अपनाया, उनमें से बहुत से कार्यक्रम को बाद में गांधी जी

ने भी अपनाया। इस समय भी राष्ट्रीय आंदोलन मध्यम वर्ग तक ही सीमित था जिसके परिणामस्वरूप उग्रराष्ट्रवादी आंदोलन जन आंदोलन का रूप धारण नहीं कर सका।

बंग-भंग योजना

1905 में लार्ड कर्जन ने बंग-भंग योजना को कार्यान्वित करने का विचार किया। उनका तर्क था कि बंगाल बहुत बड़ा प्रांत है और शासन की सुविधा के लिए उसका विभाजन आवश्यक है। बंग-भंग का विचार देने वाला था सर विलियम वार्ड।

विभाजन के समय बंगाल की कुल जनसंख्या 7 करोड़ 85 लाख थी तथा इस समय बंगाल में वर्तमान के बिहार, झारखण्ड, पश्चिमी बंगाल, उड़ीसा एवं बांग्लादेश शामिल थे। 1874 में असम, बंगाल से अलग हो गया था। कर्जन ने प्रशासनिक असुविधा को बंगाल विभाजन का कारण बताया परन्तु वास्तविक कारण राजनीतिक था। बंगाल उस समय राष्ट्रीय चेतना का केन्द्र था और साथ ही बंगालियों में प्रबल राजनीतिक जागृति थी जिसे कुचलने के लिए कर्जन ने बंगाल को बाँटना चाहा। उसने बांग्ला भाषी हिन्दुओं को दोनों भागों में अल्पसंख्यक बनाना चाहा। लार्ड रेनॉल्ड्स ने लिखा है- 'प्रांत के जागृति वर्ग के अनुसार इस विभाजन द्वारा बंगाली राष्ट्रीयता की बढ़ती हुई शक्ति पर आक्रमण किया गया था।' कर्जन ने पूर्वी बंगाल के मुसलमानों की एक सभा में भाषण देते हुए कहा था- 'यह विभाजन केवल शासन की सुविधा की दृष्टि से नहीं किया गया है, वरन् इसके द्वारा एक मुस्लिम प्रांत भी बनाया जा रहा है जिसमें इस्लाम और इसके अनुयायियों की प्रधानता होगी।' सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने इसे महान् राष्ट्रीय संकट की संज्ञा दी। किन्तु, व्यापक विरोध होने के बावजूद कर्जन की मूढ़तापूर्ण एवं कुटिल नीति ने लोगों के रोष को चरम सीमा पर ला दिया। इसके फलस्वरूप एक सुसंगठित आन्दोलन फूट पड़ा।

स्वदेशी आन्दोलन

बंगाल-विभाजन ने असंतोष और अशांति की धधकती आग में घी का काम किया। 1905 ई. के अंतिम महीनों में बंगाल में एक तूफान उठा जो शीघ्र ही सारे देश में फैल गया और बड़ी-बड़ी विरोध-सभाएँ होने लगीं। ब्रिटिश वस्तुओं के बहिष्कार तथा स्वदेशी वस्तुओं के प्रयोग के प्रस्ताव पास होने लगे। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी तथा विपिनचन्द्र पाल जैसे नेताओं ने स्वदेशी आन्दोलन का प्रचार किया।

7 अगस्त, 1905 को कलकत्ता के टाउन हाल में एक ऐतिहासिक बैठक में स्वदेशी आंदोलन की विधिवत् घोषणा की गई। आनंदमोहन बोस और सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने दो विशाल जनसभाओं को संबोधित किया। लोगों ने एक-दूसरे के हाथों पर राखियाँ बाँधी। घरों में चूल्हा नहीं जला। लोगों ने उपवास रखा तथा बहिष्कार की नीति को प्रथम बार अपनाया।

बंगाल विभाजन जैसी शर्मनाक घटना ने स्वदेशी आंदोलन को जन्म दिया। तिलक ने बम्बई और पुणे में, अजीत सिंह और लाला लाजपत राय ने पंजाब और उत्तर प्रदेश में इस आन्दोलन को पहुँचाया। सैय्यद हैदर रजा ने दिल्ली में इस आन्दोलन का नेतृत्व किया। चिदम्बरम पिल्लै ने मद्रास प्रेसिडेंसी में इसका नेतृत्व किया। 1905 में गोखले की अध्यक्षता में हुए बनारस अधिवेशन ने बंगाल में स्वदेशी आन्दोलन व बहिष्कार आन्दोलन का समर्थन किया।

स्वदेशी आन्दोलन ने जनजागरण के लिए स्वयंसेवी संगठनों की खूब मदद ली। इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण संगठन था स्वदेश बांधव समिति, जिसका नेतृत्व अश्विनी कुमार दत्त कर रहे थे। स्वदेशी आंदोलन की सबसे बड़ी विशेषता थी कि इसने आत्म-निर्भरता एवं आत्मशक्ति का नारा दिया। स्वावलंबन व आत्मनिर्भरता का प्रश्न राष्ट्रीय स्वाभिमान, आदर और आत्मविश्वास के साथ जुड़ा था। गाँवों की आर्थिक प्रगति व सामाजिक पुनरुत्थान के लिए गाँवों में रचनात्मक कार्य शुरू करने की जरूरत महसूस की गई। आत्मनिर्भरता के लिए स्वदेशी अथवा राष्ट्रीय शिक्षा की भी जरूरत बड़ी शिद्दत के साथ महसूस की गई। बंगाल नेशनल कॉलेज की स्थापना की गई, इसके प्राचार्य बने अरविंद घोष। अगस्त, 1906 में राष्ट्रीय शिक्षा परिषद् का गठन हुआ। तकनीकी शिक्षा के लिए बंगाल इंस्टीट्यूट की स्थापना की गई। स्वदेशी कल-कारखाने स्थापित होने लगे। बंगाल केमिकल्स फैक्ट्री की स्थापना बी. सी. राय ने की। स्वदेशी आन्दोलन का सबसे अधिक प्रभाव पड़ा सांस्कृतिक क्षेत्र में। बांग्ला साहित्य, विशेषकर काव्य के लिए यह स्वर्णकाल था। कला के क्षेत्र में अवनीन्द्रनाथ एवं नंद लाल बोस ने प्राचीन भारतीय कला का पुनःस्थापित किया।

बंगाल का विभाजन करके कर्जन जिस उद्देश्य की पूर्ति करना चाहता था वह नहीं हो सका। सारे देश ने एक स्वर से इसका विरोध किया और इसके फलस्वरूप एक अनुशासित एवं सुसंगठित राष्ट्रीय आन्दोलन का जन्म हुआ। 1911 में बंगाल-विभाजन को रद्द कर दिया गया।

सूरत की फूट

काँग्रेस के तरुण वर्ग के लोगों में हाथ पसारने की नीति के प्रति आस्था नहीं रही और अंग्रेजों की न्याय-निष्ठा में तृणमात्र भी विश्वास नहीं रहा। फलत: काँग्रेस दो दलों में बंट गई- नरम दल और गरम दल। 1906 के कलकत्ता अधिवेशन में उभरा मतभेद समाप्त तो नहीं हुआ था पर दब अवश्य गया था जिसका परिणाम 1907 में सूरत के कांग्रेस अधिवेशन में दिखा। नरम दल के प्रमुख नेता गोखले, फिरोजशाह मेहता और सुरेन्द्रनाथ बनर्जी थे। ये भारत की उन्नति वैधानिक विकास द्वारा चाहते थे। गरम दल के उग्रवादियों को विश्वास था कि प्रार्थना करने एवं भीख माँगने से स्वतंत्रता नहीं मिल सकती। ये सबल नीति के पक्ष में थे। इनके प्रमुख नेता थे- लाल, बाल और पाल।

स्वराज्य के अर्थ को लेकर दोनों दलों में मतभेद था। नरमदल के काँग्रेसियों ने इसका अर्थ लगाया कि वैधानिक तरीकों पर चलकर उत्तरदायी शासन की नींव डाली जाए। गरम दल वालों ने इसका अर्थ पूर्ण स्वराज्य लगाया। इस बुनियादी भेद के कारण फूट अनिवार्य थी। आगे चलकर 1916 ई. में लखनऊ अधिवेशन में उग्रवादियों और उदारवादियों में समझौता हुआ और वे एक हो गए।

क्रांतिकारी आंदोलन का चरण (1906-25)

जिस समय काँग्रेस के राजनीतिक मंच पर गरम और नरम दलों का प्रादुर्भाव हो रहा था उस समय देश में एक दूसरी विचारधारा भी उत्पन्न हो रही थी। यह आतंकवादी या क्रांतिकारी विचारधारा थी। इस आन्दोलन की पृष्ठभूमि गरम दलवालों के द्वारा ही तैयार की गई थी।

क्रान्तिकारी आन्दोलन का प्रसार

बंगाल

बंगाल आतंकवादी आन्दोलन का गढ़ था। यहाँ क्रांतिकारी विचारधारा को वारिन्द्र कुमार घोष एवं भूपेन्द्र नाथ दत्त ने फैलाया। 1906 में इन दोनों ने मिलकर युगांतर नामक समाचार पत्र का प्रकाशन किया। बंगाल में क्रांतिकारी आन्दोलन की शुरूआत भद्रलोक समाज ने किया। इस समाचार पत्र ने क्रान्ति के प्रचार में सर्वाधिक योगदान दिया। वारिन्द्र घोष एवं भूपेन्द्र दत्त के सहयोग से ही 1907 में अनुशीलन समिति का गठन किया गया। 23 दिसम्बर, 1907 को ढाका के पूर्व जिलाधीश ऐलेन की पीठ पर गोली मारी गयी। प्रफुल्ल चाकी और खुदीराम ने किंग्सफोर्ड को मारने का असफल प्रयास किया। चाकी ने आत्महत्या कर ली और खुदीराम को फाँसी हुई। इस घटना का भारतीय युवकों पर गहरा प्रभाव पड़ा।

पंजाब

1907 में आतंकवाद की अग्नि पंजाब में भी उठी। अजित सिंह, भाई परमानंद, बालमुकुंद और लाला हरदयाल ने क्रांतिकारियों को संगठित किया। 1912 ई. में रास बिहारी बोस ने हार्डिंग पर गोली चलाई थी। 1915 में पंजाब में एक संगठित आन्दोलन की रूपरेखा तैयार की गई जिसमें निश्चित किया गया कि 21 फरवरी, 1915 को सम्पूर्ण उत्तर भारत में एक साथ क्रांति का बिगुल बजाए जाए। पर इस योजना का पता सरकार को चल गया और नेताओं को पकड़कर उन्हें लाहौर षड्यंत्र केस में सजा दी गई। इन नेताओं में पृथ्वी सिंह, परमानंद, करतार सिंह, विनायक, जगत सिंह आदि मुख्य थे।

महाराष्ट्र

महाराष्ट्र में क्रांतिकारी आन्दोलन को उभारने का श्रेय तिलक के पत्र केसरी को जाता है। 1897 को प्लेग कमीश्नर रैंड एवं एमहर्स्ट

की गोली मारकर हत्या कर दी गयी। दामोदर चापेकर को मृत्युदंड दे दिया गया। 1904 में विनायक दामोदर सावरकर ने अभिनव भारत नामक एक गुप्त क्रांतिकारी संगठन की स्थापना की। महाराष्ट्र से महत्त्वपूर्ण क्रांतिकारी पत्र 'काल' का सम्पादन किया गया। 1909 में गणेश सावरकर को आजीवन कारावास की सजा मिली। उसी वर्ष इस मुकद्दमे के जज को गोली से उड़ा दिया गया।

विदेशों में क्रांतिकारी गतिविधियाँ

क्रांतिकारियों ने विदेशों में रहकर भी भारत की स्वतंत्रता के लिए लड़ाई लड़ी। 1905 में लंदन में श्याम जी कृष्ण वर्मा के द्वारा 'इण्डियन होमरूल सोसायटी' की स्थापना हुई। इसी संस्था के सदस्य मदनलाल धींगरा ने 1909 को इंडिया हाऊस के राजनीतिक सहायक सर कर्जन वाइली की गोली मारकर हत्या कर दी। बाद में धींगरा को फाँसी दे दी गई। 1913 में लाला हरदयाल के नेतृत्व में गदर पार्टी का गठन हुआ। प्रथम विश्व युद्ध में जर्मनी एवं ब्रिटेन के आमने-सामने होने के कारण जर्मनी ने भारतीय क्रांतिकारियों को आर्थिक एवं अस्त्र-शस्त्र से सहयोग देने के लिए एक इंडियन इंडिपेंडेंस कमिटी की स्थापना की। 1915 में ही राजा महेन्द्र प्रताप, बरकतुल्ला एवं मोहम्मद अब्दुला ने काबुल में भारत की पहली समानान्तर सरकार का गठन किया।

गदर आंदोलन (1913)

1 नवम्बर, 1913 ई. को संयुक्त राज्य अमेरिका के सैन फ्रांसिस्को में 'हिन्दुस्तान गदर पार्टी' की स्थापना की गई। लाला हरदयाल इस गदर आंदोलन के पथ प्रदर्शक थे। रामचन्द्र एवं बरकतुल्ला ने इसमें उनकी सहायता की। सैन फ्रांसिस्को में 'युगान्तर आश्रम' स्थापित हुआ तथा 'गदर' नाम से एक साप्ताहिक पत्रिका का प्रकाशन आरंभ हुआ। लाला हरदयाल ने यह कहा कि ब्रिटिश शासन को केवल हथियारों के बल पर ही उखाड़ फेंका जा सकता है तथा इसके लिए बड़ी संख्या में प्रवासी भारतीय भारत की ओर कूच करें। उनका उद्देश्य था कि यह संदेश भारत की फौज और लोगों तक पहुंचाया जाए, जिससे इस कार्यवाही में जनता की भागीदारी बढ़ सके।

गदर में छपने वाली कविताएं लोकप्रिय हो रही थीं। इसके जोशीले लेखों के परिणामों को देखकर लोग चकित रह गए। गदर दल ने अमेरिका एवं यूरोप के कई देशों में भारत की स्वतन्त्रता के पक्ष में अनेक व्यक्तियों का समर्थन प्राप्त करने में सफलता प्राप्त की। 1914 में लाला हरदयाल को अमेरिका छोड़कर जाने के लिए बाध्य होना पड़ा और इस दल का कार्यभार उनके साथी रामचन्द्र ने संभाला। गदर पार्टी ने भारत के क्रांतिकारियों को शस्त्र भेजने का भी प्रयत्न किया परन्तु यह कार्य सफल न हो सका। इस दल का प्रभाव उस समय समाप्त हो गया जब अमेरिका ब्रिटेन की ओर से प्रथम विश्वयुद्ध में सम्मिलित हो गया और उसने इस दल को गैरकानूनी घोषित कर दिया।

क्रान्तिकारी आंदोलन के कारण

कर्जन की प्रतिक्रियावादी शासन, बंगाल का विभाजन, उग्रवादियों का बलपूर्वक दमन तथा कांग्रेस के उदारवादियों की संवैधानिक राजनीति ने सचेत नवयुवकों को तथा समाचार पत्रों को निराश, विफल और आतुर बना दिया। वे हिंसात्मक राजनीति की ओर आकर्षित हुए। 1905 ई. के बाद ब्रिटिश प्रशासन ने भारत में लोकतंत्र की पूर्ण उपेक्षा की। प्रेस तथा जन सभाओं पर प्रतिबंध लगा दिया गया और सैकड़ों राजनीतिक कार्यकर्त्ताओं को बंदी बनाया गया। ऐसी परिस्थितियों ने क्रांतिकारी आंदोलन की पृष्ठभूमि को तैयार किया।

विदेशी शिकंजे से जन्मभूमि को स्वतंत्र कराने की प्रेरणा उन्हें इस बात से भी मिली कि 1907 ई. में 1857 ई. के महान विद्रोह की अर्द्धशताब्दी थी। जनता को सशस्त्र विद्रोह के लिए प्रेरित करने के लिए समाचार पत्र तथा परचे बड़ी संख्या में बाँटे गए। इसकी व्यापकता से अंग्रेज अधिकारी घबरा गए और जैसे-जैसे विद्रोह की 50वीं वर्षगाँठ निकट आती गयी, क्रांतिकारी आंदोलन जोर पकड़ता गया। बिहारी नामक अखबार के सम्पादक ने स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए नवयुवकों को म्यान से तलवार निकालने के लिए ललकारा। कलकत्ता से प्रकाशित युगांतर ने लिखा कि गुलाम समाज की मुक्ति क्रान्ति में ही है और साथ ही वन्दे मातरम का नारा बुलंद किया गया।

इन घटनाओं से ब्रिटिश प्रशासन आतंकित हो उठा और इसे रोकने के लिए कठोर कदम उठाए गए, परन्तु आंदोलन जोर पकड़ता गया तथा सरकारी अफसरों की हत्या तथा बमकाण्ड जैसी हिंसक घटनाएँ बढ़ने लगी। फलस्वरूप बंगाल, पंजाब तथा महाराष्ट्र में और देश

के बाहर भी कई गुप्त क्रांतिकारी संस्थाएँ स्थापित हुई।

दमन और सुधार

इन घटनाओं से घबराकर सरकार ने जबरदस्त दमनकारी उपायों का सहारा लिया। सभाओं, संगठनों और समाचार-पत्रों पर प्रतिबंध लगाने के लिए तथा राष्ट्रीय आन्दोलन को कुचलने के लिए कई दमनकारी एक्ट बनाए गए और उन्हें कठोरता से लागू किया गया, उदाहरण के लिए-सेडिशन मीटिंग्स एक्ट, न्यूजपेपर्स एक्ट, क्रिमिनल लॉ एमेंडमेंट एक्ट आदि। इन कानूनों की कठोरता को स्वयं भारत मंत्री लार्ड मार्ले ने अनुचित बताया। सरकार की इन दमनकारी नीतियों का परिणाम उल्टा हुआ।

राष्ट्रीय तथा क्रांतिकारी आन्दोलन को दबाने के उद्देश्य से सरकार निष्ठुर दमनकारी नीति के अतिरिक्त सुधारात्मक नीति का भी अनुसरण कर रही थी। 1909 के मार्ले-मिंटो सुधार का नरम दल के कांग्रेसियों ने स्वागत किया। किन्तु जब सुधार कार्यान्वित किया गया तो उनकी आशा निराशा में बदल गई। यह सुधार राष्ट्रीय एवं क्रांतिकारी आंदोलन को जरा भी कमजोर न कर सका। 1913 में जर्मनी-बंगाल षड्यंत्र का पता चल जाने और गरम दल के कुछ नेताओं की गिरफ्तारी के कारण आंदोलन कुछ दिनों के लिए निस्तेज हो गया।

क्रांतिकारी आंदोलन का दूसरा चरण

1922 ई. में असहयोग आंदोलन के स्थगन के चलते सारे देश में निराशा की लहर छा गई और यह क्रांतिकारी घटनाओं के लिए अनुकूल साबित हुई। 1924 ई. में एक लम्बे अरसे के बाद लखनऊ में क्रांतिकारियों की एक सभा हुई, जिसमें 'हिन्दुस्तान रिपब्लिक एसोसिएशन' का गठन किया गया। राम प्रसाद बिस्मिल इसके अध्यक्ष थे।

राष्ट्रीय मंचों पर इस काल में समाजवादी विचारधारा मुखर हो रही थी। क्रांतिकारियों पर भी इसका प्रभाव पड़ा। धीरे-धीरे क्रांतिकारियों में समाजवादी विचारधारा बढ़ी। सितम्बर, 1928 ई. में भगत सिंह, चन्द्रशेखर आजाद, भगवती चरण बोहरा, सुखदेव आदि ने मिलकर दिल्ली के फिरोजशाह कोटला मैदान में सभा आयोजित की और 'हिन्दुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन एसोसिएशन' की स्थापना की। इसमें संगठित क्रांतिकारी कार्यवाही में विश्वास व्यक्त किए जाने के साथ-साथ समाजवाद की स्थापना किए जाने के लिए अपना लक्ष्य निर्धारित किया गया।

इस काल में क्रांतिकारियों ने बहुत सी घटनाओं को अंजाम दिया जिनमें कुछ निम्न महत्त्वपूर्ण हैं:-

- काकोरी स्टेशन (उत्तर प्रदेश) पर पंजाब मेल में सरकारी खजाने की लूट
- लाला लाजपत राय की मौत का बदला लेने हेतु पुलिस सहायक अधीक्षक सांडर्स की हत्या
- विधान मंडल में बम का धमाका तथा पर्चे फेंकना
- न्यायालय में अपनी बात कहने का मंच की तरह इस्तेमाल।

क्रांतिकारी आंदोलन का स्वरूप

क्रांतिकारी आंदोलन बहुत अधिक सफल नहीं रहा। सही मायने में इसने एक शहरी और मध्यम वर्गीय आंदोलन का ही रूप धारण किया। इससे सहानुभूति रखने वालों की संख्या बहुत ही सीमित थी। इस आंदोलन में एक केन्द्रीय संगठन नहीं था, जिसके अभाव में कार्यक्रमों की एकरूपता नहीं रही। इसके अतिरिक्त क्रांतिकारी आंदोलन का कोई आर्थिक कार्यक्रम नहीं था, जो एक बहुत बड़ी कमजोरी साबित हुई। भारत में अंग्रेजों का विरोध सिर्फ राजनीतिक कारणों के चलते ही नहीं हो रहा था, बल्कि इसके पीछे महत्त्वपूर्ण आर्थिक कारण भी थे। परन्तु क्रांतिकारियों ने कोई आर्थिक कार्यक्रम नहीं अपनाया, जिसके चलते किसान और मजदूर इस आंदोलन में शामिल नहीं हुए।

लेकिन ऐसा नहीं कहा जा सकता है कि क्रांतिकारियों का राष्ट्रीय आंदोलन पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा। क्रांतिकारियों ने एक ढंग से जनता में जागृति लाने और उसे क्रांति के लिए तैयार करने का कार्य किया। कांग्रेस के वैधानिक और क्रांतिकारी आंदोलन एक-दूसरे के लिए पूरक का काम किया। इसमें कोई शक नहीं कि अंग्रेज क्रांतिकारियों से घबराते थे। अंग्रेज नहीं चाहते थे कि

लोग इस आंदोलन में भाग लें, परन्तु वे यह भी समझते थे कि ऐसा तभी सम्भव था जब ब्रिटिश सरकार वैधानिक आन्दोलनकारियों की माँगों को माने, जिससे कि लोगों की आस्था वैधानिक आंदोलन में बनी रहे। इस अर्थ में क्रांतिकारी दल का उदय हमारे स्वतंत्रता आंदोलन के लिए काफी महत्त्वपूर्ण था।

क्रांतिकारी आंदोलन की असफलता के कारण

क्रांतिकारी आंदोलन की असफलता के निम्नलिखित कारण थे :

- **केन्द्रीय संगठन का अभाव :** क्रांतिकारियों का कोई केन्द्रीय संगठन नहीं था जो विभिन्न प्रांतों में क्रांतिकारी आतंकवादी कार्यों का संगठन तथा समन्वय कर सके।
- **आंदोलन का नवयुवकों तक सीमित होना :** क्रांतिकारी आंदोलन मध्यम वर्ग के शिक्षित नवयुवकों तक ही सीमित था।
- **लोकप्रिय आंदोलन नहीं :** क्रांतिकारी आतंकवादी आंदोलन लोकप्रिय नहीं बन सका। जिससे जनसाधारण का सहयोग तथा समर्थन प्राप्त न हो सका।
- **उच्च मध्य वर्ग की सहानुभूति का अभाव :** क्रांतिकारी आंदोलन को उच्च मध्य वर्ग की सहानुभूति भी नहीं मिल सकी, क्योंकि ये हिंसक कार्यों में विश्वास नहीं करते थे। ये संवैधानिक साधनों में विश्वास करते थे।
- **ब्रिटिश सरकार का दमन चक्र :** क्रांतिकारी आंदोलन की असफलता का मुख्य कारण अंग्रेजी सरकार की दमनकारी नीति थी। सरकार ने 1907 में सभाएँ करने पर प्रतिबंध लगा दिया, 1908 ई. में 'विद्रोह सभा अधिनियम' भी पास कर दिया। जिसका उल्लंघन करने वालों को कठोर दंड दिया जाता था। 1908 में ही फौजदारी कानून में संशोधन लाकर और अधिक कठोर बना दिया गया। मामूली से अपराध के लिए भी भारतीयों को मृत्यु दण्ड दिया जाता था। 1908 ई. में ही समाचार-पत्र संबंधी कानून और 1910 ई. में प्रेस संबंधी कानून बनाये गए। 1911 ई. में विद्रोही सभाओं संबंधी कानून पास हुआ, इसका उद्देश्य था सभाओं पर प्रतिबंध लगाना।
- **धन का अभाव :** क्रांतिकारियों के पास धन का अभाव था, जिसके कारण वे अपनी गतिविधियों को ठीक तरीके से चलाने में असमर्थ थे।
- **महात्मा गांधी का राष्ट्रीय आंदोलन में प्रवेश :** गांधीजी के राष्ट्रीय आंदोलन में प्रवेश करने से क्रांतिकारी आंदोलन को गहरा धक्का लगा। गांधीजी ने देश की आजादी के लिए अहिंसा एवं शांतिपूर्ण मार्ग अपनाया, इससे जनता गांधीजी की ओर आकर्षित हुई।

हिन्दुस्तान रिपब्लिकन एसोसिएशन (1924)

अक्टूबर, 1924 ई. को कानपुर में सभी क्रांतिकारी संगठनों, दलों का एक सम्मेलन बुलाया गया। इस सम्मेलन में रामप्रसाद बिस्मिल, शचीन्द्रनाथ सान्याल, जगदीशचन्द्र चटर्जी जैसे क्रांतिकारियों के साथ-साथ भगतसिंह, चन्द्रशेखर, शिव वर्मा, सुखदेव, भगवती चरण वोहरा आदि तरूण युवकों ने भाग लिया। इन्होंने शीघ्र ही 'हिन्दुस्तान रिपब्लिकन एसोसिएशन' की स्थापना कर सशस्त्र क्रांति आयोजित करने के लिए प्रयास जारी कर दिया। पंजाब, दिल्ली, मद्रास तथा उत्तर प्रदेश में इस एसोसिएशन की शाखाएँ स्थापित की गयी। इस संस्था के निम्नलिखित उद्देश्य थे-

- गांधी जी की अहिंसावादी नीतियों की निरर्थकता के प्रति जागृति पैदा करना,
- पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए सीधी कार्यवाही करना तथा जनता को बताना कि बिना क्रांतिकारी आंतकवाद के आजादी नहीं मिल सकती, तथा
- समाजवादी विचारधारा से प्रेरित होकर भारत में संघीय गणतंत्र की स्थापना करना।

आधार पर भारत में भी होमरूल आन्दोलन चलाने का निश्चय किया गया। तिलक ने मांडले कारावास से छूटकर आने के बाद 1916 ई. में महाराष्ट्र में होमरूल लीग की स्थापना की। तिलक ने होमरूल आन्दोलन का प्रचार अपने समाचार-पत्र मराठा द्वारा किया। इसी वर्ष एनी बेसेंट मद्रास में अखिल भारतीय होमरूल लीग की स्थापना की। शीघ्र ही यह आन्दोलन सारे देश में फैल गया। बेसेंट का कहना था- 'मैं भारत में ढोल बजाने का कार्य कर रही हूँ और सभी लोगों को जगा रही हूँ ताकि वे उठ बैठें और अपनी मातृभूमि के लिए कार्य कर सकें।

होमरूल का उद्देश्य जनता में स्वशासन की भावना का प्रचार करना था। इसकी कार्य पद्धति शांतिमय और अहिंसात्मक थी और इसमें सरकारी कानूनों को तोड़ने के लिए या उनका विरोध करने के लिए स्थान नहीं था। इस आन्दोलन के उद्देश्य की व्यवस्था इस प्रकार की गई थी- राजनीतिक सुधारों में हमारा उद्देश्य ग्राम पंचायतों से जिलों और नगरपालिकाओं और प्रांतीय धारा सभाओं तक राष्ट्रीय संसद के रूप में स्वशासन की स्थापना करना है। इस राष्ट्रीय संसद के अधिकार स्वशासित उपनिवेशों की धारा सभाओं के समान ही होंगे।

इस आन्दोलन का उद्देश्य भारतीय राजनीति को उग्रधारा की ओर जाने से रोकना भी था। बेसेंट उग्रवादियों और आतंकवादियों के गठबंधन को अवरुद्ध कर शांतिपूर्वक वैधानिक आंदोलन चलाना चाहती थी। जनता में स्वशासन प्राप्ति के लिए राजनीतिक चेतना उत्पन्न करने में इस आन्दोलन को आश्चर्यजनक सफलता मिली। जवाहरलाल के कथनानुसार- होमरूल आन्दोलन के परिणामस्वरूप देश के वातावरण में बिजली सी दौड़ गई और नवयुवक एक अजीब उत्साह तथा स्फूर्ति का अनुभव करने लगे।

सरकार ने इस आन्दोलन का दमन प्रारम्भ कर दिया। तिलक को राजनीतिक क्रियाकलाप बंद करने का आदेश दिया गया। बेसेंट को नजरबंद कर दिया गया। तिलक के आन्दोलन की धमकी के बाद श्रीमती बेसेंट को छोड़ दिया गया। उसी समय भारत सचिव ने एक महत्त्वपूर्ण घोषणा की जिसमें कहा गया कि भारतीयों को धीरे-धीरे उत्तरदायी शासन सौंपा जाएगा। इस घोषणा से होमरूल आन्दोलन कुछ शिथिल पड़ गया। भारतीय राष्ट्रीयता के विकास में होमरूल आन्दोलन का महत्त्वपूर्ण स्थान है। एक सांविधानिक एवं प्रचारात्मक आन्दोलन होने के कारण भारतीय जनजीवन पर इसका गहरा असर पड़ा।

तिलक का योगदान

भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के इतिहास में तिलक का विशिष्ट स्थान है। उग्र राष्ट्रीयता सर्वप्रथम महाराष्ट्र में उद्भूत हुई, जो तिलक जैसे कर्मठ नेता तथा देशभक्त को पाकर सारे देश में फैल गई। उन्होंने देश के नवयुवकों में आत्मविश्वास, आत्मबलिदान एवं आत्मनिर्भरता की भावना जागृत करने के उद्देश्य से लाठी क्लबों, अखाड़ों और गोवध-विरोधी समितियों की स्थापना की। गणपति समारोह एवं शिवाजी उत्सव द्वारा जनता में राजनीतिक एवं धार्मिक चेतना उत्पन्न की। कांग्रेस की नरमी और राजभक्ति की नीति में उनका विश्वास नहीं था। उन्हें उदारवादियों की खुशामद और भिक्षावृति राजनीति में विश्वास नहीं था। देशसेवा संबंधी कार्यों के कारण तिलक को तीन बार जेल की सजा दी गई। जेल में ही उन्होंने दो प्रसिद्ध ग्रंथरत्नों-द आर्कटिज होम ऑफ द वेदाज और गीता रहस्य की रचना की, जो उनके व्यापक ज्ञान तथा उत्कृष्ट विचार के द्योतक हैं। उन्हें गाँधी के असहयोग आन्दोलन में विश्वास नहीं था फिर भी उन्होंने सहयोग का वचन दिया। उन्होंने ही सर्वप्रथम स्वराज्य का नारा दिया और कहा - 'स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है और हम उसे लेकर रहेंगे।' तिलक ने ही सर्वप्रथम आंदोलन के तरीकों -बहिष्कार, स्वदेशी वस्तुओं के प्रति अनुराग, राष्ट्रीय शिक्षा, जनप्रिय संयुक्त मोर्चा इत्यादि-की खोज की। गाँधी के नेतृत्व में कांग्रेस और जनता ने तिलक के ही स्वराज्य की रूपरेखा को मूर्त्तरुप प्रदान किया।

चंपारण सत्याग्रह

20वीं शताब्दी के आरंभिक चरणों में चंपारण के किसानों का भी आंदोलन हुआ जिसकी गूंज पूरे भारत में सुनाई दी। इस आंदोलन का महत्त्व इसलिए भी बढ़ जाता है क्योंकि यहीं से महात्मा गांधीजी का भारतीय राजनीति में सक्रिय रूप से प्रवेश होता है। भारत में सत्याग्रह का आरंभ चंपारण में हुआ।

उत्तर बिहार में नेपाल से सटे हुए चंपारण में नील की खेती बहुत दिनों से होती थी। इस क्षेत्र में अंग्रेज बागान मालिकों को रामनगर और बेतिया राज में जमीन की ठेकेदारी दी गई थी। इन लोगों ने इस क्षेत्र में 'तीनकठिया'-प्रणाली लागू कर रखी थी। इसके अनुसार प्रत्येक किसान को अपनी खेती योग्य जमीन के 15 प्रतिशत भाग में नील की खेती करनी पड़ती थी। इतना ही नहीं, किसान अपना नील बाहर नहीं बेच सकते थे। उन्हें बाजार में निश्चित मूल्य पर बागान मालिकों को ही नील बेचनी पड़ती थी। इससे किसानों का आर्थिक शोषण होता था। 1900 ई. के बाद जब नील की खपत कम होने लगी और इसका मूल्य घटने लगा तब निलहों ने इस क्षति की पूर्ति भी किसानों से ही करनी चाही। उन पर अनेक प्रकार के नए कर लगा दिए गए। अगर कोई किसान नील की खेती से मुक्त होना चाहता था तो उसके लिए आवश्यक था कि वह बागान मालिक को एक बड़ी राशि 'तवान' के रूप में दे। किसानों से बेगार भी लिया जाता था। उन्हें शारीरिक कष्ट भी भोगना पड़ता था। वस्तुत: चंपारण में नील की खेती करने वाले किसानों की स्थिति बंगाल के किसानों से भी अधिक दयनीय थी।

निलहों के अत्याचारों के विरुद्ध चंपारण के किसानों ने समय-समय पर विरोध प्रकट किया था। 1905-08 ई. के मध्य मोतिहारी और बेतिया के निकटवर्ती इलाकों में किसानों ने पहली बार व्यापक तौर पर आंदोलन का सहारा लिया। इस आंदोलन के दौरान हिंसा भी हुई लेकिन सरकार और निलहों पर इसका कोई व्यापक प्रभाव नहीं पड़ा। किसानों पर आंदोलन करने के लिए मुकद्दमे चलाए गए। अनेकों को सजा भी हुई, लेकिन किसानों ने भी हार नहीं मानी। उन्होंने अपना संघर्ष जारी रखा।

इस आंदोलन में किसानों की सहायता कुछ संपन्न किसानों एवं कांग्रेस कार्यकर्ताओं ने भी की। 1916 ई. में राजकुमार शुक्ल ने गांधीजी को चंपारण आने और यहाँ के किसानों की दशा देखने के लिए आमंत्रित किया। गांधीजी 1917 में चंपारण गए। राजेन्द्र प्रसाद, मजहरूल हक, ब्रज किशोर प्रसाद और अन्य कांग्रेसी कार्यकर्ताओं के साथ उन्होंने किसानों की दयनीय स्थिति की जाँच की। बड़ी संख्या में किसान गांधीजी के पास निलहों के अत्याचारों की शिकायतें लेकर आए। गांधीजी ने किसानों को अहिंसात्मक, असहयोग आंदोलन चलाने की प्रेरणा दी। इससे किसानों में नया जोश पैदा हुआ और एकता की भावना बढ़ी।

सरकार गांधीजी की लोकप्रियता से चिंतित हुई। उन्हें गिरफ्तार कर उनपर मुकद्दमा चलाया लेकिन शीघ्र ही उन्हें छोड़ दिया गया। किसानों की शिकायतों की जाँच करने के लिए सरकार ने जून, 1917 में एक जाँच समिति नियुक्त की। गांधीजी को भी इसका एक सदस्य बनाया गया। समिति की सिफारिशों के आधार पर चंपारण कृषि अधिनियम बना। इसके अनुसार तिनकटिया-प्रणाली समाप्त कर दी गई। किसानों को इससे बड़ी राहत मिली। किसानों में नई चेतना जगी और वे भी राष्ट्रीय आंदोलन को अपना समर्थन देने लगे।

खेड़ा सत्याग्रह

खेड़ा (गुजरात) में भी 1918 ई. में किसान आंदोलन हुआ। गांधीजी ने यहाँ भी किसानों की स्थिति सुधारने के लिए कार्य किया। खेड़ा में भी लगान वृद्धि और अन्य शोषणों से किसान पीड़ित थे। कभी-कभी वे अपना आक्रोश लगान रोक कर प्रकट किया करते थे। 1918 ई. में सूखा के कारण फसल नष्ट हो गई। ऐसी स्थिति में किसानों की कठिनाइयाँ बढ़ गई। भूमिकर नियमों के अनुसार यदि किसी वर्ष फसल साधारण से 25 प्रतिशत कम हो तो वैसी स्थिति में किसानों को भूमिकर में पूरी छूट मिलनी थी। बम्बई सरकार के पदाधिकारी सूखा के बावजूद यह मानने को तैयारी नहीं थे कि उपज कम हुई है। अत: वे किसानों को छूट देने को तैयार नहीं थे। लगान चुकाने के लिए किसानों पर दबाव डाला गया।

चंपारण के बाद गांधीजी ने खेड़ा के किसानों की ओर ध्यान दिया। उन्होंने किसानों को संगठित किया और सरकारी कार्रवाइयों के विरुद्ध सत्याग्रह करने को कहा। किसानों पर गांधीजी का व्यापक प्रभाव पड़ा। किसानों ने परिणामों की परवाह किए बिना सरकार को लगान देना बन्द कर दिया। यहाँ तक कि जो किसान लगान चुकाने की स्थिति में थे, उनलोगों ने भी लगान देना बंद कर दिया। सख्ती और कुर्की की सरकारी धमकियों से भी वे नहीं डरे। बड़ी संख्या में किसानों ने सत्याग्रह आंदोलन चलाया। अनेक किसान जेल भी गए। जून, 1918 तक खेड़ा का किसान आंदोलन व्यापक रूप ले चुका था। किसानों के प्रतिरोध के सामने सरकार को झुकना पड़ा। सरकार ने किसानों को लगान में राहत दी। इसी आंदोलन के दौरान सरदार वल्लभभाई पटेल गांधीजी के संपर्क में आए। बाद में वे उनके पक्के अनुयायी बन गए।

है कि वे व्यापक जनसमस्याओं को अपनी विशिष्ट शैली द्वारा भारत की चमत्कारी-प्रतीकात्मकता में व्यक्त कर देते थे जैसे - हरिजन उत्थान और नमक कानून भंग करने के लिए डांडी यात्रा। उनकी रुचि का क्षेत्र काफी व्यापक था। उनके कार्यक्रमों में सामाजिक-क्रान्ति के साथ-साथ राजनीतिक स्वतंत्रता भी शामिल थी। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उनके क्रियाकलापों के प्रशंसक मौजूद थे।

गांधीजी के आंदोलनों में विभिन्न अपेक्षाओं, हित-स्वार्थों वाले सामाजिक वर्ग जुड़ते गए और इसी कारण इन आंदोलनों का चरित्र विभिन्न शक्तियों के आपसी समझौते जैसा प्रतीत होता है। लेकिन गांधीजी इन आंदोलनों का नेतृत्व अपनी शर्तों पर करते थे और आंदोलन के अधिकांश अवसरों पर क्या किया जाए इसके सन्दर्भ में निर्णय लेने और उसका पालन करने की अपनी स्वतंत्रता अक्षुण्ण रखते थे।

गांधीजी ने निश्चित रूप से राष्ट्रवादी आंदोलन को एक नया मोड़ दिया। कांग्रेस राजनीति से समय-समय पर विमुख हो जाने के बावजूद, वे राष्ट्रीय आंदोलन के निर्विवाद नेता बने रहे। विशेषकर तब, जब साम्राज्यवादी शासन से मुठभेड़ का निर्णायक क्षण आ खड़ा हुआ। वे तीन, जन-उफान, जिनका गांधीजी ने नेतृत्व किया था, असहयोग आंदोलन, सविनय अवज्ञा आंदोलन तथा भारत छोड़ो आंदोलन थे जिसमें जन भागीदारी स्वयं उनकी लोकप्रियता को बताती है।

रौलेट एक्ट आंदोलन

सर सिडनी रौलेट की संस्तुतियों ने फरवरी, 1919 में अधिनियम का रूप ग्रहण किया। यह आतंकवादी और अपराध अधिनियम कहलाया। रौलेट समिति की सिफारिशों के आधार पर सर विलियम बेसेंट ने दो विधेयकों का प्रस्ताव रखा। इन विधेयकों में यह व्यवस्था की गई थी कि जिस व्यक्ति पर राजद्रोह का संदेह हो उसकी गतिविधियों पर नियंत्रण रखा जाए, जिस व्यक्ति से शांति भंग की आशंका हो उसे गिरफ्तार कर लिया जाए एवं आपतिजनक सामग्री के प्रकाशन को दंडनीय अपराध माना जाए। परंतु एक्ट का सबसे आपत्तिजनक पहलू था-बगैर मुकद्दमा चलाए किसी व्यक्ति को गिरफ्तार करना एवं बंदी प्रत्यक्षीकरण कानून का उल्लंघन।

इस विधेयक को जनता ने काला कानून का नाम दिया क्योंकि इसका उद्देश्य जनता की स्वतंत्रता का हनन करना तथा सरकारी कर्मचारियों के किसी भी न्यायोचित आंदोलन को कुचलना था।

महात्मा गांधी ने इसे अन्यायपूर्ण, स्वतंत्रता, न्याय के सिद्धांतों तथा व्यक्ति के मौलिक अधिकारों के लिए घातक बताया। उन्होंने इस एक्ट को वापस लेने की मांग की। सरकार द्वारा एक्ट को वापस न लिए जाने के कारण गांधीजी ने रौलेट एक्ट के खिलाफ राष्ट्रव्यापी आंदोलन का आह्वान किया। गांधी के नेतृत्व में यह पहला राष्ट्रव्यापी आंदोलन था। 3 अप्रैल को देशभर में सफल हड़ताल हुआ। हड़ताल के दौरान दिल्ली में हिंसक घटनाएं हुई। दिल्ली में हड़ताली भीड़ पर पुलिस के गोली चलाने से 8 व्यक्ति मारे गए। अहमदाबाद एवं पंजाब में भी हिंसक घटनाएं घटी। जलियांवाला बाग घटना के बाद गांधी ने आंदोलन वापस ले लिया।

इस आंदोलन की कई (सकारात्मक पहलू) उपलब्धियां थी। इसने गांधी के नेतृत्व को राष्ट्रीय स्तर पर स्थापित कर दिया। गांधी ने इसी आंदोलन में पहली बार अहिंसा का प्रयोग किया तथा भारत का स्वतंत्रता संघर्ष अब राष्ट्रीय रूप ग्रहण करने लगा।

खिलाफत आंदोलन

"तुर्की का सुल्तान विशाल-साम्राज्य का स्वामी था और मुस्लिम विश्व जगत का 'खलीफा' धार्मिक गुरु था। मुसलमान स्वयं को इनके संरक्षण में गौरव का अनुभव करते थे। भारत के मुसलमान इस खलीफा को बनाये रखने के लिए दृढ़ प्रतिज्ञ थे। खलीफा को बनाये रखने के प्रश्न पर ही मुस्लिम समुदाय द्वारा ब्रिटिश शासन के खिलाफ जो आंदोलन चलाया गया था, वही खिलाफत आंदोलन कहलाया।

प्रथम विश्वयुद्ध में भारतीय मुसलमानों का सहयोग प्राप्त करने के लिए ब्रिटिश प्रधानमंत्री लायड जार्ज ने वादा किया कि युद्ध समाप्त होने के बाद तुर्की के प्रति प्रतिशोध और प्रतिरोध की भावना नहीं अपनायी जाएगी। तुर्की के खलीफा का अंत नहीं किया जाएगा तथा तुर्की की अखण्डता और उसके अधीन एशियाई प्रदेशों पर उसका नियंत्रण यथास्थितिपूर्ण रहेगा।

परन्तु युद्ध समाप्त होने के बाद ब्रिटिश सरकार ने इस आश्वासन को पूरा नहीं किया। मित्र राज्यों ने तुर्की के साथ सेवर्स की संधि

कर तुर्की के साम्राज्य को छिन्न-भिन्न कर दिया। भारतीय मुसलमानों को ब्रिटिश सरकार के इस विश्वासघात से गहरा आघात लगा और उन्होंने देश में खिलाफत आंदोलन आरम्भ कर दिया।

खिलाफत आंदोलन के कारण

खिलाफत आंदोलन के प्रमुख कारण निम्नलिखित थे :

- प्रथम विश्वयुद्ध के बाद ब्रिटिश सरकार ने मुसलमानों को दिया गया आश्वासन पूरा नहीं किया।
- अंग्रेजों ने तुर्की के खलीफा (सुलतान जो धार्मिक गुरु था) को अपदस्थ कर दिया।
- प्रथम विश्वयुद्ध में तुर्की के सुल्तान ने ब्रिटेन के विरुद्ध जर्मनी का साथ दिया था।
- भारतीय मुसलमान ब्रिटिश सरकार की भेदभाव पूर्ण नीति से सशंकित हो चुके थे।
- ब्रिटिश सरकार कांग्रेस लीग समझौते (1916) के विरुद्ध थी।
- भारत के वायसराय ने मुस्लिम शिष्टमंडलों को कोई स्पष्ट आश्वासन नहीं दिया था।

खिलाफत आंदोलन का कार्यक्रम

- तुर्की के साम्राज्य को विघटित होने से रोका जाए।
- मुस्लिम जगत के खलीफा और तुर्की के सुल्तान को रिहा करके पुन: गद्दी पर आसीन किया जाए।
- सेवर्स की संधि को तत्काल भंग किया जाए।
- इसके अतिरिक्त कार्यक्रम में निम्न बातों को भी शामिल किया गया-
- भारतीय मुसलमान ब्रिटिश सरकार के साथ सहयोग करना छोड़ दें।
- पुलिस की नौकरी से त्याग पत्र दे दें।
- सरकारी उत्सवों में शामिल होना बंद कर दें।



खिलाफत आंदोलन का प्रारम्भ

खिलाफत के प्रश्न के कारण जो मुस्लिम नेता भारत के राष्ट्रीय जागरण से सहानुभूति रखते थे, वे खिलाफत आंदोलन के प्रवर्तक बन गए। शौकत अली, मोहम्मद अली (अली बंधु), डा. अन्सारी, हकीम अजमल खाँ तथा मौलाना आजाद जैसे कांग्रेसी नेताओं के विचार से खिलाफत की समस्या एक धार्मिक तथा राजनीतिक समस्या थी।

अली बंधुओं सहित मौलाना आजाद, हकीम अजमल खाँ और हसरत मोहानी के नेतृत्व में एक खिलाफत कमेटी बनी और देशव्यापी आंदोलन का आयोजन किया गया। मुस्लिम धर्म के नेताओं ने भी उनकी भरपूर सहायता की। कमेटी ने 24 नवम्बर, 1919 ई. को गांधी जी की अध्यक्षता में ऑल इण्डिया खिलाफ़त कान्फ्रेंस का आयोजन किया। इस सम्मेलन में यह निर्णय लिया गया कि जब तक सरकार उनकी माँगों को न मान ले तब तक सरकार के साथ वे किसी प्रकार का सहयोग नहीं करेंगे। बालगंगाधर तिलक और गांधी जी ने खिलाफत आंदोलन को हिंदू-मुस्लिम एकता को सुदृढ़ बनाने और बड़ी संख्या में मुसलमानों को राष्ट्रीय आंदोलन में लाने का सुनहरा मौका समझा। गांधी जी के परामर्श पर डा. अन्सारी की अध्यक्षता में मुसलमानों का एक शिष्ट मण्डल वायसराय चेम्सफोर्ड से मिला, परन्तु वायसराय ने इस शिष्ट मण्डल को कोई सन्तोषजनक उत्तर नहीं दिया। अगली योजना यह बनायी गई कि एक शिष्ट मंडल लंदन जाकर ब्रिटिश प्रधानमंत्री से भेंट करे तथा उनके पुराने खिलाफत बनाये रखने के वायदे का उन्हें स्मरण कराया जाए। मार्च, 1920 ई. में मौलाना मुहम्मद अली की अध्यक्षता में एक शिष्ट मण्डल लंदन जाकर प्रधानमंत्री लायड जार्ज से मिला किन्तु कोई फायदा नहीं हुआ। शिष्ट मण्डल खाली हाथ भारत लौट आया।

खिलाफत आंदोलन के समर्थन में कांग्रेस ने असहयोग आंदोलन शुरू किया। इस तरह खिलाफत आंदोलन असहयोग आंदोलन का एक

हिस्सा बन गया। असहयोग आंदोलन के दौरान गोरखपुर के चौरी-चौरा नामक स्थान पर हिंसात्मक घटना हो जाने के कारण गांधी जी ने इस आंदोलन को स्थगित कर दिया। इसी समय ब्रिटिश सरकार ने गांधी जी को बंदी बनाकर छः वर्ष के लिए जेल भेज दिया। इससे खिलाफत आंदोलन में भी शिथिलता आ गई।

ब्रिटिश सरकार ने मालाबार में मुसलमानों के विद्रोह (मोपला विद्रोह) का कठोरता पूर्वक दमन किया और हिंदू-मुस्लिम भेद की नीति अपनाकर सांप्रदायिकता को प्रोत्साहन दिया। इससे खिलाफत आंदोलन पहले राजनीतिक रहा और बाद में धार्मिक बन गया। अंततः ब्रिटिश सरकार अपनी कूटनीति से इस आंदोलन को दबाने में सफल रही।

आंदोलन का परिणाम

- खिलाफत आंदोलन लीग और कांग्रेस के आपसी सहयोग पर आधारित था। इस आंदोलन के पतन से हिंदू-मुस्लिम एकता पर घातक-प्रभाव पड़ा, साथ ही भारतीय राजनीति में मुस्लिम लीग का प्रभाव क्षीण हुआ।
- खिलाफत आंदोलन के कारण ही ब्रिटिश सरकार को अपनी नीति बदलनी पड़ी और उसने भविष्य में ब्रिटिश साम्राज्य की सुरक्षा के लिए फूट डालो और शासन करो की नीति को अपनाया।
- खिलाफत आंदोलन ने भारत में सांप्रदायिक एकता की नींव रखी, परंतु यह एकता शीघ्र ही छिन्न-भिन्न हो गयी।
- खिलाफत आंदोलन की विफलता ने हिंदू-मुस्लिम एकता के स्वप्न को भंग कर दिया।
- 1922 ई. में तुर्की में कमाल पाशा के नेतृत्व में गणतंत्र की स्थापना हुई और 1924 ई. में तुर्की संसद द्वारा खलीफा के पद की समाप्ति ने खिलाफत के प्रश्न को ही सदा के लिए समाप्त कर दिया।
- कांग्रेस लीग समझौते का खोखलापन स्पष्ट हो गया और इस समझौते ने ही अंततः पाकिस्तान के निर्माण का मार्ग प्रशस्त कर दिया।
- राष्ट्रीय नेताओं ने राष्ट्रीय आंदोलन के मंच से खिलाफत के प्रश्न को उठाकर मुसलमानों को खुश तो किया लेकिन कालांतर में मुस्लिम संप्रदाय के नेताओं ने सांप्रदायिकता के आवेग में देश के विभाजन की मांग की।

असहयोग आन्दोलन (1919)

1918 में महायुद्ध का अंत हो गया। भारतीयों को यह आशा थी कि युद्धोतर ब्रिटिश सरकार उन्हें स्वशासन का अधिकार देगी। भारतीय शासन सुधार की जो योजना सरकार ने बनाई उससे भारतीय नेता संतुष्ट नहीं हुए। उस समय देश की स्थिति असंतोषजनक थी जिसके चलते क्रांतिकारी आन्दोलन पुनः सक्रिय हो गया। इसी समय गाँधी ने भारत के राजनीतिक क्षेत्र में प्रवेश किया। शुरू में वे भारतीय राजनीति में ब्रिटिश सरकार के एक सहयोगी के रूप में प्रविष्ट हुए। युद्धकाल में ब्रिटिश सरकार की सहायता करने के कारण उन्हें सरकार की ओर से कैसर-ए-हिंद का सम्मान भी प्रदान किया गया।

दक्षिण अफ्रीका में गाँधीजी ने भारतीयों की ओर से सत्याग्रह चलाया था। 1917 ई. में बिहार प्रांत के चंपारण जिले में निलहों के अत्याचार से किसानों को बचाने के लिए गाँधीजी ने आन्दोलन चलाया। कुछ ही दिनों के बाद अहमदाबाद के मजदूरों की वेतन वृद्धि के लिए उन्होंने आमरण अनशन प्रारंभ किया। उन्होंने सत्याग्रह का मार्ग अपनाकर कांग्रेस में एक नई शक्ति का संचार कर दिया। 1919 ई. में भारत के राजनीतिक क्षितिज पर कुछ ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न हुई और कुछ ऐसी घटनाएँ घटी जिनसे प्रभावित होकर सहयोगी गाँधीजी असहयोगी बन गए।

महात्मा गाँधी को असहयोग आन्दोलन चलाने के लिए रॉलेट एक्ट ने प्रेरित किया। इसके अनुसार सरकार को यह अधिकार मिला कि वह नियमानुसार मुकद्दमा लाए बिना ही किसी को नजरबंद करके उसके मुकद्दमे का फैसला कर सकती है। रॉलेट एक्ट भारतीयों के लिए काला कानून था। गाँधीजी ने इस एक्ट का विरोध करने का निश्चिय किया और जनता को सलाह दी कि वह सत्य और अहिंसा के आधार पर रॉलेट एक्ट का विरोध करे। दिल्ली में संघर्ष में आठ व्यक्ति मारे गए। दिल्ली जा रहे गाँधीजी को पलवल स्टेशन पर गिरफ्तार करके बंबई भेज दिया गया।

इसी समय अमृतसर के जिला मजिस्ट्रेट ने डॉ. किचलू और डॉ. सत्यपाल को गिरफ्तार कर अज्ञात स्थान पर भेज दिया। इस घटना

ने पंजाब के शांत वातावरण में उत्तेजना पैदा कर दी। 1919 ई. के 13 अप्रैल की शाम को जलियाँवाला बाग में दमनकारी कानूनों के विरुद्ध सार्वजनिक सभा हो रही थी। डायर नामक अफसर ने निहत्थी तथा शांत भीड़ पर गोली चलाने की आज्ञा दी। बिना किसी पूर्व चेतावनी के गोलियाँ चलने लगी। यह नृशंस हत्याकांड पंजाब में आतंक फैलाने के लिए जान-बूझकर किया गया था। पंजाब में मार्शल लॉ लागू कर दिया गया। इस भीषण हत्याकांड से सारे देश में सनसनी फैल गई। कांग्रेस ने इसकी जांच के लिए कमिटी नियुक्त की जिसमें गाँधीजी, सी. आर. दास और मोतीलाल नेहरू थे।

खिलाफत आन्दोलन असहयोग आन्दोलन की एक महत्त्वपूर्ण घटना थी। इस आंदोलन का प्रारम्भ प्रथम विश्वयुद्ध के बाद हुआ। जर्मनी की हार के साथ ही तुर्की की भी हार हो गई थी। युद्ध का अंत होते ही तुर्की साम्राज्य के एशियाई प्रदेशों को इंग्लैंड और फ्रांस ने आपस में बांट लिया। मित्रराष्ट्रों द्वारा खलीफा का, जो इस्लामी संसार के धर्माध्यक्ष थे-अपमान किया गया। क्षुब्ध मुसलमानों ने सरकार से असहयोग प्रारंभ किया जो खिलाफत आन्दोलन के नाम से प्रसिद्ध है। खिलाफत आंदोलन का मुख्य उद्देश्य मुसलमानों के खलीफा सुलतान को फिर से शक्ति दिलाना था। दिल्ली में हुए लीग के अधिवेशन का सभापतित्व करते हुए डॉ. अंसारी ने जोरदार शब्दों में खिलाफत आन्दोलन का समर्थन किया। लीग ने भी भारत के लिए स्वशासन की मांग की। बहुत से धार्मिक सम्प्रदायों ने भी-राजनीति में भाग लेना शुरू कर दिया। उदाहरण के लिए-मौलाना मुहम्मद-उल हसन के नेतृत्व में उलेमा सम्प्रदाय के राजनीति में प्रवेश को लिया जा सकता है। उनके द्वारा एक संस्था की स्थापना की गई जिसे इत्तेहाद-उलेमा-ए-हिंद की संज्ञा प्रदान की गई। नवम्बर, 1919 में गाँधी जी ने हिंदू और मुसलमान नेताओं का एक सम्मेलन दिल्ली में बुलाया। इस सम्मेलन में भी खिलाफत आन्दोलन को समर्थन दिया गया। हिंदू-मुस्लिम एकता के लिए इस आन्दोलन को बड़ा ही व्यापक और लोकप्रिय बनाया गया।

असहयोग आन्दोलन के कारण

प्रथम विश्व युद्ध का परिणाम

इस युद्ध में आत्मनिर्णय के सिद्धांत का प्रतिपादन हुआ। इसी सिद्धांत के प्रभाव से चीन और मध्य पूर्व में राष्ट्रीयता की लहर आई। भारत पर भी इसका प्रभाव पड़ा।

आर्थिक असंतोष

प्रथम विश्व युद्ध का आर्थिक परिणाम भी बड़ा बुरा हुआ। आवश्यक वस्तुओं का अभाव हो गया और मूल्यों में बढ़ोतरी हुई। विभिन्न उपायों द्वारा सरकार ने जनता से युद्ध के लिए धन एकत्र किया था। करों में वृद्धि कर दी गई थी। इन कारणों से जनता को भयंकर आर्थिक संकट का सामना करना पड़ा। महामारियों और भयंकर अकाल का भी सामना करना पड़ा। आर्थिक असंतोष के कारण आन्दोलन सक्रिय हो उठा।

सेना में भरती और छँटनी

युद्ध की समाप्ति के बाद बहुत से व्यक्ति अपने पद से अलग कर दिए गए, जिससे बेकारी की समस्या उत्पन्न हुई। लोगों में असंतोष बढ़ने लगा और लोग यह समझने लगे कि सरकार स्वार्थी है, जो अपना काम निकल जाने के बाद जनता की ओर तनिक भी ध्यान नहीं देती।

मांट-फोर्ड सुधार से असंतोष

इस योजना में भारतीय प्रशासन के वास्तविक रूप में किसी भी प्रकार के परिवर्तन का सुझाव नहीं था। केन्द्र में सरकार अनुत्तरदायी थी और प्रांतों में भी उत्तरदायी शासन की व्यवस्था नहीं थी। इस योजना में स्थानीय स्वशासन के संबंध में कुछ आशाजनक सुझाव अवश्य थे, परंतु भारत सरकार के गृह विभाग का इस पर पूर्ण नियंत्रण स्पष्ट था। कांग्रेस के 1919 के वार्षिक अधिवेशन में इस सुधार को अपूर्ण, असंतोषजनक और निराशापूर्ण कहकर इसकी भर्त्सना की गई।

असहयोग आंदोलन के कार्यक्रम

असहयोग आन्दोलन के तीन आधारभूत सूत्र थे- कौंसिलों का बहिष्कार, न्यायालयों का बहिष्कार और विद्यालयों का बहिष्कार।

DISCOVERY

निषेधात्मक पक्ष

- सरकारी उपाधियों का त्याग और अवैतनिक पदों का बहिष्कार।
- स्थानीय संस्थाओं के मनोनीत सदस्यों द्वारा अपने पदों का त्याग।
- सरकारी मीटिंगों तथा उत्सवों का बहिष्कार।
- अदालतों का बहिष्कार।
- भारतीय मजदूरों और सैनिकों द्वारा इराक तथा अन्य स्थानों पर काम करने की अस्वीकृति।
- सुधार के पश्चात व्यवस्थापिका सभाओं का सीमित बहिष्कार।
- विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार।

रचनात्मक पक्ष

- स्वदेशी वस्तुओं का प्रयोग और प्रचार।
- राष्ट्रीय स्कूलों और कॉलेजों की स्थापना और उनमें शिक्षा-प्राप्ति।
- पंचायतों की स्थापना।
- हिंदू-मुस्लिम एकता तथा अस्पृश्यता-निवारण का प्रचार।

आंदोलन का आरम्भ और प्रगति

1920 में इलाहाबाद की बैठक में कांग्रेस ने खिलाफत कमिटी के साथ मिलकर असहयोग आंदोलन चलाने का निश्चय किया। बेसेंट ने इस आन्दोलन का विरोध किया। फिर भी 1920 ई. के दिसम्बर में कांग्रेस के नागपुर सम्मेलन में इसे स्वीकृति दी गई।

जनवरी, 1921 में असहयोग आन्दोलन प्रारंभ किया गया। यह आंदोलन अत्यंत ही संगठित रूप से शुरू हुआ। यह पूर्णत: सत्य और अहिंसा पर आधारित था। गाँधी ने अपनी उपाधि कैसर-ए-हिंद वायसराय को लौटा दी। उन्होंने सारे देश का दौरा किया और इस कार्यक्रम का जनता के बीच प्रचार किया। आंदोलन आरंभ होते ही बहुत से विद्यार्थियों ने सरकारी स्कूलों को त्याग दिया, सरकारी उपाधियों को लौटाने का सिलसिला प्रारंभ हो गया और हजारों वकीलों ने वकालत छोड़ दी, इनमें प्रमुख थे- चितरंजन दास, मोतीलाल नेहरू, लाला लाजपत राय, आसफ अली, वल्लभ भाई, राजेन्द्र प्रसाद, डॉ. प्रकाशम आदि। इस आन्दोलन में मुस्लिम नेताओं की भी सक्रिय भागीदारी थी। प्रमुख मुस्लिम नेता थे- अलीबंधु, डॉ. अंसारी, मौलाना आजाद। कुछ ऐसे लोग भी थे जिन्होंने इस आन्दोलन को नापसंद किया- ये थे जिन्ना, खापार्डे, विपिनचन्द्र पाल एवं बिसेंट। अनेक राष्ट्रीय संस्थानों की स्थापना हुई। विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार शुरू हुआ और स्वदेशी वस्तुओं का प्रयोग होने लगा। मादक पदार्थों के विरुद्ध आन्दोलन होने से सरकार को भारी आर्थिक क्षति उठानी पड़ी। कांग्रेस ने नवसुधार योजना के अनुसार बनने वाली व्यवस्थापिका सभाओं का बहिष्कार किया। कांग्रेस ने प्रिंस ऑफ वेल्स के आगमन का बहिष्कार किया। कांग्रेस के अहमदाबाद अधिवेशन में प्रस्ताव पारित किया गया कि अहिंसात्मक आन्दोलन को जारी रखा जाए। इस आन्दोलन को मजदूरों एवं किसानों ने भी अपना समर्थन दिया।

सरकार ने आंदोलन रोकने के लिए दमनचक्र चलाया। राजद्रोहात्मक सभा अधिनियम को कठोरता से लागू किया गया। समस्त सार्वजनिक सभाओं पर सख्त पाबंदी लगा दी गई और राष्ट्रीय संस्थाओं को गैरकानूनी घोषित कर दिया गया।

5 फरवरी, 1922 को उत्तरप्रदेश के गोरखपुर जिलांतर्गत चौरी चौरा नामक स्थान में ऐसी घटना घटी कि महात्माजी को असहयोग आन्दोलन स्थगित कर देना पड़ा। जनता ने आवेश में आकर थानेदार और कई सिपाहियों की हत्या कर दी और पुलिस स्टेशन को जला दिया। इससे पूर्व भी मालाबार और बम्बई में दंगे हो चुके थे। गाँधीजी ने अनुभव किया कि आन्दोलन अपना अहिंसात्मक रूप खो रहा है और जनता में हिंसात्मक प्रवृत्ति बढ़ रही है। उन्होंने आंदोलन को स्थगित कर दिया। इससे बहुत से नेता क्षुब्ध हो उठे। सुभाषचंद्र बोस ने कहा- जिस समय जनता का जोश सबसे ऊँचे शिखर पर था उस समय पीछे लौट आना राष्ट्रीय दुर्घटना से किसी

प्रकार कम नहीं। गाँधीजी को गिरफ्तार कर यरवदा जेल में रखा गया।

मूल्यांकन

इस आन्दोलन के स्थगन से देश में निराशा का वातावरण छा गया। राजनीतिक संघर्ष में उमड़ती हुई हिंसा को अवश्य दबा दिया गया, किंतु इस दबी हुई हिंसा ने निकलने का मार्ग खोज लिया और भविष्य में इसी कारण भारत में सांप्रदायिक दंगे हुए। आंदोलन वस्तुत: इसलिए स्थगित किया गया था कि नेताओं के गिरफ्तार हो जाने से योग्य नेतृत्व का अभाव हो गया था और जनता में प्रतिशोध की भावना बलवती हो गई थी। बीच में आन्दोलन रोकने के कारण कुछ लोगों का कहना है कि यह पूर्णत: असफल रहा परंतु ऐसी धारणा भ्रामक है। सुभाषचन्द्र ने देश को निस्संदेह एक सुव्यवस्थित पार्टी-संगठन प्रदान किया। गाँधीजी ने इसे नया विधान ही नहीं दिया, अपितु इसे एक क्रांतिकारी संगठन में परिवर्तित कर दिया। कांग्रेस ने हिंदी को राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार किया। खादी कांग्रेसियों की नियमित पोशाक बन गई। देश के एक कोने से दूसरे कोने तक एक जैसे नारे लगाए जाने लगे और एक जैसी नीति और एक जैसी विचारधारा सर्वत्र दृष्टिगोचर होने लगी। इस आन्दोलन के कारण गुजरात विद्यापीठ, बिहार विद्यापीठ, महाराष्ट्र विद्यापीठ, काशी विद्यापीठ, जामिया मिलिया इस्लामिया इत्यादि राष्ट्रीय शैक्षणिक संस्थाएँ स्थापित हुई।

सांप्रदायिकता में वृद्धि

असहयोग आंदोलन के स्थगित होने से हिंदू एवं मुसलमानों में तनाव पैदा हो गया। इस समय तक खिलाफत आंदोलन भी समाप्त हो चुका था। मुस्तफा कमालपाशा के नेतृत्व में तुर्की में प्रजातंत्र की स्थापना हो चुकी थी और 1924 ई. में खलीफा का पद समाप्त कर दिया गया था। हिंदू भी अलग संगठन स्थापित कर रहे थे। इन परिस्थितियों में दोनों संप्रदायों में कटुता आ गई। कांग्रेस और लीग का सम्मिलित प्लेटफार्म टूट गया और अलीबंधु तथा जिन्ना कांग्रेस से अलग हो गए। वातावरण दूषित होने लगा और हिंदू-मुसलमान पुन: आपस में लड़ने लगे। इन सांप्रदायिक दंगों के फलस्वरूप न जाने कितने व्यक्ति मारे गए। फरवरी, 1924 में अस्वस्थता के कारण गाँधीजी जेल से छोड़ दिए गए। उनके बाहर आने से कांग्रेस को बल मिला और स्वराज दल तथा राष्ट्रवादी दल के झगड़े का अंत हो गया। किंतु हिन्दू-मुस्लिम एकता स्थापित नहीं हो सकी। सितंबर, 1924 में गाँधीजी ने सांप्रदायिक दंगों में सैकड़ों व्यक्तियों की हत्या के विरोध में 21 दिनों का उपवास किया।

1926 ई. में लार्ड इरविन भारत का वायसराय होकर आया। हिंदू-मुस्लिम सांप्रदायिक दंगों को रोकने के लिए जो भी प्रयत्न किए गए थे, सभी असफल रहे। सरदार वल्लभ भाई पटेल के नेतृत्व में बारदोली के किसान सत्याग्रह कर रहे थे। भारत में किसान, मजदूरों की कम्युनिस्ट संस्थाएँ स्थापित हो चुकी थी और मिलों तथा कारखानों में हड़ताल हो रही थी। अत: औद्योगिक केंद्रों का वातावरण अशांत था। हिंदू-मुस्लिम दंगें भी अपनी चरम सीमा पर थे। सारे देश में निराशा का वातावरण छाया हुआ था।

मोपला विद्रोह

मद्रास प्रेसीडेंसी के मालाबार में मोपला विद्रोह हुआ। मालाबार मुस्लिम बहुसंख्यक इलाका था। ये मुसलमान मोपला के नाम से जाने जाते थे। मोपला ज्यादातर कृषक मजदूर अथवा चाय या काफी बागानों में काम करनेवाले थे। अशिक्षित होने के कारण उनमें धार्मिक उन्माद अधिक था। मोपला विदेशी शासन, हिंदू जमींदारों और साहूकारों से त्रस्त थे। अपनी दुखद स्थिति से बाध्य होकर 19-20वीं शताब्दी में मोपलाओं ने बार-बार विरोध और आक्रोश प्रकट किया। 1857 के पूर्व मोपलाओं के करीब 22 आंदोलन हुए। 1882-85, 1896 और बाद में 1921 में भी मोपला विद्रोह हुआ। 1870 में सरकार ने मालाबार में बार-बार होनेवाले विद्रोहों के कारणों का पता लगाने के लिए एक जाँच समिति नियुक्त की थी। उसने इनका कारण जेमनियों अथवा जमींदारों द्वारा किसानों को जमीन से बेदखल किया जाना एवं लगान में मनमाना वृद्धि बतलाया था। एक अनुमान के अनुसार 1862-1880 के मध्य मालाबार में लगान और बेदखली संबंधी मुकद्दमों में क्रमश: 244 और 441 प्रतिशत वृद्धि हुई। इससे किसानों और मजदूरों के आर्थिक शोषण का अंदाज आसानी से लगाया जा सकता है।

1921 में मोपला के किसानों का आंदोलन पबना के किसान आंदोलन जैसा शांतिपूर्ण नहीं था बल्कि यह हिंसात्मक था। इसमें धार्मिक

उन्माद का भी प्रदर्शन हुआ यद्यपि उनके पीछे आर्थिक असंतोष छिपा हुआ था। मोपलों ने जमींदारों की संपत्ति भी लूटी एवं जमींदारों की जाने भी ली। मंदिरों की संपत्ति भी लूट ली गई। साहूकारों को भी नहीं बख्शा गया। छोटे-छोटे झुंडों में मोपलाओं ने मालाबार में अशांति फैला दी। सरकार ने मोपलाओं पर नियंत्रण स्थापित करने के लिए बल का प्रदर्शन भी किया। मोपला पुलिस की गोली से भी नहीं डरते थे और हँसते-हँसते मौत को सीने से लगाते थे। उनके मन में यह भावना बैठ गई थी कि इस आंदोलन में शहादत प्राप्त कर वे स्वर्ग प्राप्त कर सकेंगे। परंतु सरकार ने बलपूर्वक उनका विद्रोह दबा दिया। संगठनात्मक कमजोरियों के कारण भी वे लम्बे समय तक संघर्ष नहीं कर सके। मोपलाओं को अपने आंदोलन में कुछ बड़े किसानों का सहयोग मिला। मोपलाओं का सबसे बड़ा आंदोलन 1921 में हुआ जिसे दबाने के लिए सरकार को सेना की सहायता लेनी पड़ी। यह आंदोलन हिंसात्मक एवं साम्प्रदायिक रूख अख्तियार कर लिया था क्योंकि इस क्षेत्र के ज्यादातर कृषक मुस्लिम थे जबकि जमींदार हिंदू थे।

स्वराजी आंदोलन

असहयोग आंदोलन की समाप्ति के बाद, वे लोग जो सिद्धान्त रूप से पूर्ण असहयोग में विश्वास नहीं रखते थे, कांग्रेस के कार्यक्रम में परिवर्तन की मांग करने लगे। इनमें चित्तरंजनदास एवं मोतीलाल नेहरू प्रमुख थे। इन नेताओं का विचार था कि केन्द्रीय एवं प्रांतीय विधान मण्डलों का बहिष्कार करना उचित नहीं है। बल्कि विधान-मंडलों पर कब्जा करना चाहिए और उनके भीतर राजनीतिक लड़ाई लड़नी चाहिए। इस प्रकार विधान-मण्डलों के माध्यम से जनता की आवाज और मांगें सरकार तक पहुचायी जा सकती हैं तथा सरकारी नीतियों की आलोचना कर सरकारी कार्यों में अवरोध उत्पन्न किया जा सकता है। साथ ही उनका मानना था कि असहयोग आंदोलन के असामयिक समाप्ति के पश्चात् उनका आंदोलन राष्ट्रवादी भावना को जगाए रखेगा तथा असहयोग आंदोलन विधान मंडल के अंदर चलाया जा सकेगा। 1923 ई. में इलाहाबाद में चित्तरंजन दास एवं मोतीलाल नेहरू ने स्वराज दल का गठन किया। इस दल के उद्देश्य निम्नलिखित थे-

- स्वराज अथवा औपनिवेशिक स्वशासन की प्राप्ति।
- विधान मण्डलों के चुनाव में भाग लेना और अपने अधिक से अधिक सदस्यों को चुनाव में जिताकर कौंसिलों में भेजना ताकि सरकार के स्वेच्छाचारी तरीकों पर नियंत्रण स्थापित किया जा सके।
- इसके सदस्यों ने सरकारी पद स्वीकार नहीं करने, नगरपालिका चुनावों में भाग नहीं लेने की प्रतिज्ञा की।
- इसने विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार और कांग्रेस के रचनात्मक कार्यों में सहयोग देने का भी निर्णय लिया।

नेहरू रिपोर्ट

साइमन कमीशन की नियुक्ति के साथ ही भारत सचिव लार्ड बर्कनहेड ने भारतीय नेताओं को यह चुनौती दी कि यदि वे विभिन्न दलों तथा संप्रदायों की सहमति से एक संविधान तैयार कर सकें तो इंग्लैण्ड सरकार उस पर गंभीरता से विचार करेगी। इस चुनौती को भारतीय नेताओं ने स्वीकार करके इस बात का प्रयास किया कि एक सम्मिलित संविधान का प्रारूप तैयार किया जाए। इसके लिए मोतीलाल नेहरू की अध्यक्षता में एक समिति का गठन किया गया, जिसका काम संविधान का प्रारूप तैयार करना था। लखनऊ में अगस्त, 1928 में एक सर्वदलीय सम्मेलन में इस रिपोर्ट के प्रारूप पर विचार किया गया। इसकी मुख्य विशेषताएँ निम्न थीं:

1. भारत को एक डोमिनियन राज्य का दर्जा दिया जाए।
   - केंद्र में द्विसनात्मक प्रणाली स्थापित की जाए।
   - कार्यकारिणी पूर्ण रूप से व्यवस्थापिका सभा के प्रति उत्तरदायी रहे।
   - समस्त दायित्व भारतीय प्रतिनिधियों को सौंपा जाए।
2. भारत में संघीय प्रणाली की स्थापना की जाए।
   - अवशिष्ट शक्ति केंद्र के पास रहे।

3. सभी चुनाव क्षेत्रीय आधार पर हों।
   - सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व को समाप्त कर दिया जाए।
   - निर्वाचन व्यस्क मताधिकार के आधार पर हो।

नेहरू रिपोर्ट का जिन्ना एवं मुस्लिम लीग के अन्य नेताओं ने विरोध किया। इसका मूल कारण यह था कि इसमें सांप्रदायिक आधार पर प्रतिनिधित्व का विरोध किया गया था। कांग्रेस का युवा नेतृत्व जिसका प्रतिनिधित्व जवाहर लाल नेहरू और सुभाष चंद्र बोस कर रहे थे, डोमिनियन स्टेट्स की बात से संतुष्ट नहीं थे। वे पूर्ण स्वराज की मांग को शामिल किए जाने पर बल दे रहे थे। पर गांधी के यह कहने पर कि एक वर्ष के भीतर डोमिनियन स्टेट्स नहीं मिलने पर कांग्रेस पूर्ण स्वराज को अपना लक्ष्य बनाएगी, इन्होंने अपना विरोध वापस ले लिया। नेहरू रिपोर्ट सरकार के सामने प्रस्तुत की गई, पर सरकार ने इसे अस्वीकृत कर दिया। फलतः कांग्रेस ने पूर्ण स्वतंत्रता के आंदोलन की घोषणा कर दी।

जिन्ना की 14 सूत्री माँग

लॉर्ड बर्कनहेड की चुनौती के जवाब में जब नेहरू रिपोर्ट प्रस्तुत किया गया तो प्रारंभ में जिन्ना का समर्थन प्राप्त था। परंतु जब इस रिपोर्ट की स्वीकृति के लिए सर्वदलीय बैठक बुलाई गई तो जिन्ना ने अपनी सहमति देने से इंकार करते हुए अपनी स्वतंत्र 14 सूत्री माँग रखी। जिन्ना की यही '14 माँगे' बाद में गोलमेज सम्मेलन में मुस्लिम माँग का आधार बनी। ये माँगे थीं-

1. भारत का भावी संविधान संघात्मक हो जिसमें अवशिष्ट शक्तियाँ प्रान्तों में निहित रहे।
2. सभी प्रान्तों को समान रूप से स्वायत्तता प्राप्त हो।
3. सभी व्यवस्थापिकाओं और निर्वाचित संस्थाओं में मुसलमानों को पर्याप्त प्रतिनिधित्व प्राप्त हो।
4. केंद्रीय विधानसभा में मुसलमानों का प्रतिनिधित्व कुल संख्या का 1/3 से कम नहीं हो।
5. सांप्रदायिक वर्गों का प्रतिनिधित्व पृथक् निर्वाचन-व्यवस्था के अनुसार हो।
6. पंजाब, बंगाल और उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्तों के पुनर्गठन के समय इस बात का ध्यान रखा जाए कि मुसलमान बहुमत में बने रहें।
7. सभी संप्रदायों को धार्मिक स्वतंत्रता प्रदान की जाए।
8. विधानसभा कोई ऐसा कानून या प्रस्ताव पास नहीं करे जिसका विरोध किसी संप्रदाय का 3/4 बहुमत करे।
9. सिंध को बंबई प्रेसीडेंसी से अलग कर दिया जाए।
10. उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रांत और बलूचिस्तान में सुधार योजनाएँ लागू हों।
11. सरकारी नौकरियों एवं अन्य स्वेशासी इकाइयों में मुसलमानों को समुचित प्रतिनिधित्व दिलाने के लिए संवैधानिक व्यवस्था हो।
12. मुसलमानों की संस्कृति, शिक्षा, भाषा और धर्म की रक्षा की व्यवस्था की जाए।
13. केंद्रीय और प्रांतीय मंत्रिमंडलों में कम-से-कम 1/3 मुसलमान मंत्री हों।
14. प्रान्तों की अनुमति के बिना केंद्रीय विधानसभा संविधान में संशोधन न करे।

बारदोली सत्याग्रह

1928 ई. में सरदार वल्लभ भाई पटेल के नेतृत्व में संचालित बारदोली सत्याग्रह किसानों का एक प्रमुख आंदोलन था। बारदोली में किसानों की स्थिति अत्यंत दयनीय थी और इसका एक प्रमुख कारण था, वहाँ प्रचलित बंधुआ मजदूरी व्यवस्था, जिसे 'हाली व्यवस्था' कहा जाता था। जो जमींदार थे, उन्हें 'उजली पराज' या श्वेत जन कहा जाता था और रैयतों को 'काली पराज' या अश्वेत जन। हाली

व्यवस्था के खिलाफ आवाज उठाने में प्रमुख भूमिका निभाने वाले थे-कुंअर जी मेहता, केशवजी गणेशजी, नरहरी पारिख तथा जगत राम दावे। बारदोली ताल्लूके में 60 गाँव को बामनी गाँव कहा गया और यहाँ के किसानों ने ही वल्लभ भाई पटेल को अपने आंदोलन को नेतृत्व देने के लिए आमंत्रित किया। इससे पूर्व मार्च, 1927 ई. में भीम भाई नायक तथा शिव दसाणी किसानों के प्रतिनिधि के रूप में बम्बई राजस्व परिषद् के सदस्यों से मुलाकात कर चुके थे। 1928 ई. की जनवरी में पटेल आमंत्रित किए गए और 4 फरवरी, 1928 ई. को बारदोली पहुँचे। उन्होंने कर वृद्धि प्रस्तावों के खिलाफ आंदोलन का संगठन तथा नेतृत्व किया। 2 अगस्त, 1928 ई. तक गांधीजी भी बारदोली पहुँच गए। कई महिलाओं ने इस आंदोलन में भाग लिया, जैसे-मिठूबेन, भक्तिबा, मणिबेन पटेल, शारदा बहना आदि। पटेल तथा गांधीजी के नेतृत्व से प्रेरित होकर बारदोली के किसानों ने सभी तरह के खतरे उठाकर भी कर न देने का आंदोलन चलाया। मजबूर होकर ब्रिटिश सरकार ने ब्रूमफील्ड तथा मैक्सवेल के अधीन एक जाँच आयोग बनाया, जिसकी सिफारिशों के आधार पर राजस्व में भारी कमी की गई।

साइमन कमीशन

1919 के अधिनियम में इस बात की व्यवस्था की गई थी कि 10 वर्ष बाद सरकार एक कमीशन का गठन करेगी, जो अधिनियम में परिवर्तन की संभावनाओं पर विचार करेगा। इस व्यवस्था के अनुसार कमीशन का गठन 1929 में किया जाना था। किंतु भारत में बढ़ती राष्ट्रीय चेतना को ध्यान में रखते हुए कमीशन दो वर्ष पहले ही नियुक्त कर दिया गया। सर जॉन साइमन की अध्यक्षता में नियुक्त इस कमीशन के सभी 6 सदस्य अंग्रेज थे। कमीशन में किसी भारतीय को शामिल न किए जाने के कारण अधिकांश भारतीय राष्ट्रीय नेताओं ने इसके बहिष्कार का फैसला किया। 1927 में मद्रास में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ, जिसमें साइमन कमीशन के विरोध का निर्णय किया गया। साइमन कमीशन भारत में जहां भी गया इसके विरोध में हड़ताल, विरोध सभाएँ, प्रदर्शनों तथा काले झंडे दिखाने का आयोजन किया गया। लाहौर में लाला लाजपत राय तथा लखनऊ में पंडित जवाहर लाल नेहरू और गोविंद वल्लभ पंत साइमन कमीशन के खिलाफ प्रदर्शन करते हुए पुलिस लाठी चार्ज में घायल हो गए।

साइमन कमीशन की रिपोर्ट जून, 1930 को प्रकाशित हुई। रिपोर्ट की मुख्य विशेषताएँ निम्न थीं:

1. भारत के लिए एक संघीय संविधान की व्यवस्था हो।
2. केंद्र में भारतीयों को कोई उत्तरदायित्व न दिया जाए।
3. प्रांतों में पूर्ण स्वायतता लागू की जाए।
4. गवर्नर के अधिकार पूर्ववत बने रहे जबकि गवर्नर जनरल के अधिकारों में वृद्धि की जाए।
5. भारतीय विषयों पर विचार विमर्श के लिए एक कौंसिल की स्थापना की जाए जिसमें भारतीय राज्यों तथा ब्रिटिश भारत के प्रतिनिधि हों।
6. प्रांतीय विधान सभाओं के सदस्यों की संख्या में वृद्धि की जाए।
7. उच्च न्यायालय को भारत सरकार के अधीन कर दिया जाए।
8. प्रांतों में द्वैध शासन व्यवस्था समाप्त की जाए।
9. मुस्लिमों को विशेष प्रतिनिधित्व दिया जाए।
10. सेना का भारतीयकरण किया जाए।
11. भारत सचिव के कौंसिल के सदस्यों की संख्या तथा उसके अधिकारों में कमी कर दी जाए।
12. उड़ीसा को बिहार से अलग कर स्वतंत्र राज्य का दर्जा दिया जाए।
13. बर्मा को भारत से अलग किया जाए।
14. मताधिकार का विस्तार कर उसे कुल जनसंख्या का कम से कम 10 से 15 प्रतिशत तक ले जाया जाए।

रिपोर्ट प्रकाशन से पूर्व कमीशन ने उस पर विचार के लिए गोलमेज सम्मेलन बुलाने का सुझाव दिया था। नवंबर, 1930 में यह गोलमेज सम्मेलन बुलाया गया।

साइमन कमीशन की उपलब्धि यह रही कि इसके कारण भारतीय दलों के मतभेद कम हुए तथा राष्ट्रीय आंदोलन को गति मिली। संवैधानिक विकास की दृष्टि से इसका कोई खास महत्त्व नहीं है।

लाहौर अधिवेशन, 1929

वर्ष 1927 के मद्रास अधिवेशन में ही, जवाहरलाल ने एक संक्षिप्त प्रस्ताव पेश किया जिसमें पूर्ण स्वराज को काँग्रेस का लक्ष्य मान लेने की बात उठायी गयी थी। लेकिन यह काँग्रेस के नेतृत्व की पुरानी पीढ़ी का समर्थन प्राप्त नहीं कर सका। वर्ष 1928 में, कांग्रेस ने माँग कि यदि 1 वर्ष के अन्दर अधिशासी राज्य (डोमिनियम स्टेट्स) की स्थिति प्रदान करने में ब्रिटिश-शासन असफल रही तो वे आन्दोलन को नया स्वरूप देने को आजाद होंगे। समझौता करने में गांधीजी की प्रमुख भूमिका थी। अपने समर्थन की मुहर उन्होंने 1929 में नौजवान पीढ़ी के पक्ष में लगा दी।

जवाहरलाल जिन्होंने पूर्ण-स्वराज के मांग की जोरदार सिफारिश की थी-उन्हें ही 1929 के लाहौर कांग्रेस अधिवेशन का अध्यक्ष बनाया गया। असहयोग आंदोलन प्रारम्भ करने का निर्णय वस्तुत: पूर्ण-स्वराज के लक्ष्य मान लेने की तार्किक परिणति ही थी। इस आंदोलन के नेतृत्व की बागडोर पहले तो ए. आई. सी. सी. में निहित करने का फैसला किया गया किन्तु फरवरी, 30 के प्रस्ताव को स्वीकृति देकर अहमदाबाद की बैठक में ''नेतृत्व का जिम्मा'' गांधीजी को सौंपा गया। 26 जनवरी, 1930 को लाहौर में रावी के तट पर तिरंगे झंडे के नीचे स्वतंत्रता की शपथ ली गयी। यह कहा गया कि ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत भारत की आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक दुर्गति हुई है और घोषणा की गयी कि इस शासन को अब और सहन करना ''मनुष्य और ईश्वर'' के प्रति पाप है। राजनीतिक वातावरण धीरे-धीरे एक बड़े आंदोलन के उपयुक्त बन रहा था, जिसकी परिणति अन्तत: गांधीजी के नेतृत्व में सविनय अवज्ञा आंदोलन के रूप में हुई। सम्भवत: यह गांधीजी के जीवन का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण आंदोलनकारी अभियान था। उन्होंने अपने ग्यारह सूत्री मांगों के द्वारा ब्रिटिश सरकार को एक अवसर दिया और साथ-साथ अपना अन्तिम निर्णय भी सुना दिया। ग्यारह सूत्री मांगों में लाहौर प्रस्ताव की मांग से कुछ असंगति प्रतीत होती है उस समय ऐसा लगा जैसे एक क्रांतिकारी शुरूआत को गांधीजी वापस ले रहे हैं। फिर भी इसने अनेक पूर्ववर्ती मांगों को ठोस रूप में प्रस्तुत किया और इन मांगों को स्वीकार कर लेने पर ब्रिटिश साम्राज्य की नींव हिल जाती। इन मांगों में थी सेना के खर्च में 50 प्रतिशत कटौती, सम्पूर्ण शराबबन्दी, राजनीतिक बन्दियों की रिहाई, सी. आई. डी. में सुधार तथा अस्त्र-शस्त्र कानून में संशोधन, भारतीय सर्वहारा वर्ग के लिए वस्त्र मजदूरों को संरक्षण, पूंजीपति वर्ग के संदर्भ में तटीय समुद्रवर्ती क्षेत्रों में भारतीयों को जहाजरानी के लिए पूर्ण अधिकार तथा मुद्रा विनिमय दर को कम करने जैसी दिलचस्प मांगे।

सविनय अवज्ञा आंदोलन

उत्तेजनापूर्ण और क्षुब्ध वातावरण में लाहौर में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। 1929 ई. के 31 दिसंबर को अर्द्धरात्रि के समय रावी नदी के किनारे कांग्रेस अधिवेशन में स्वतंत्रता प्रस्ताव पारित हुआ, जिसमें औपनिवेशिक स्वराज्य का अर्थ पूर्ण स्वतंत्रता बताया गया अर्थात् कांग्रेस का उद्देश्य औपनिवेशिक स्वराज्य न होकर पूर्ण स्वराज्य बनाया गया। कांग्रेस की कार्यसमिति में 1930 ई. की 2 जनवरी की बैठक में 26 जनवरी को प्रतिवर्ष स्वतंत्रता दिवस मनाने का निश्चय किया गया।

दांडी यात्रा (नमक सत्याग्रह)

26 जनवरी, 1930 के दिन सारे देश में स्वतंत्रता दिवस मनाया गया। 2 मार्च, 1930 को महात्मा गाँधीजी के नेतृत्व में सविनय अवज्ञा आंदोलन चलाया गया। महात्मा गाँधी ने सविनय अवज्ञा आंदोलन का शुभारम्भ नमक कानून का उल्लंघन कर किया। उन्होंने समुद्र तट पर स्थित दांडी जाकर नमक कानून तोड़ने का निश्चय किया और वायसराय को उचित चेतावनी देकर वे सेवाग्राम से 78 साथियों के साथ 375 किलोमीटर दूर स्थित दांडी चल पड़े। 1930 ई. के 12 मार्च को गाँधीजी ने दांडी के लिए प्रस्थान किया और वे 6 अप्रैल को पहुँचे। यह घटना दांडी यात्रा के नाम से विख्यात है। मार्ग में जनता ने सत्याग्रहियों का शानदार स्वागत किया। 'बाम्बे

क्रॉनिकल' में इस घटना का वर्णन इस प्रकार किया गया 'इस महान राष्ट्रीय घटना से पहले, उसके साथ-साथ और बाद में जो दृश्य देखने में आए वे इतने उत्साहपूर्ण, शानदार और जीवन फूँकने वाले थे कि उनका वर्णन नहीं किया जा सकता। इस महान अवसर पर भारतीयों के हृदय में देशप्रेम की जितनी प्रबल धारा बह रही थी उतनी पहले कभी नहीं बही थी। यह एक महान आंदोलन का महान प्रारंभ था और निश्चय ही भारत की राष्ट्रीय स्वतंत्रता के इतिहास में इसका महत्त्वपूर्ण स्थान होगा।' 6 अप्रैल को प्रात: काल गांधीजी दाँडी पहुँचे और वहाँ उन्होंने नमक कानून तोड़ा। इसी प्रकार, देश के विभिन्न भागों में नमक कानून भंग करने का आंदोलन चल पड़ा। आम लोगों ने भी नमक कानून का उल्लंघन किया। किसानों ने भू-राजस्व देना बंद कर दिया। पूर्वी भारत में चौकीदारी टैक्स देना भी अस्वीकार किया गया।

इस आंदोलन की विशेषता यह थी कि इसमें हजारों की संख्या में स्त्रियों ने भी भाग लिया। सरकार का दमन चक्र भी तेजी से चल पड़ा। 6 मई की रात को गाँधीजी गिरफ्तार कर लिए गए। उनकी गिरफ्तारी से देश में बिजली की तरह प्रतिक्रिया हुई। बंबई में पचास हजार मजदूरों ने प्रदर्शन में भाग लिया। बंबई, कलकत्ता तथा अन्य महत्त्वपूर्ण स्थानों में हड़तालें हुईं। व्यवसायी वर्ग ने छह दिनों तक हड़तालें रखी। शोलापुर में पुलिस चौकियाँ जला दी गई। हावड़ा और पँचतल्ला में विरोध-प्रदर्शन हुए, धरसाना के सत्याग्राहियों में जबरदस्त धावा बोल दिया। वस्तुत: महात्मा गाँधी की गिरफ्तारी का प्रभाव विश्वव्यापी हुआ। पनामा के भारतीयों ने पच्चीस घंटे तक हड़ताल जारी रखी, नैरोबी के भारतीयों ने भी हड़तालें की। सुमात्रा के पूर्वी समुद्रवासी भारतीयों ने खेद प्रकट किया। उत्तरी, पश्चिमी सीमांत प्रदेश में भी खान अब्दुल गफ्फार खाँ तथा उनके अनुयायियों ने इस आंदोलन में भाग लिया।

सविनय अवज्ञा आंदोलन के कारण

- ब्रिटिश सरकार ने नेहरू रिपोर्ट को अस्वीकार कर दिया। भारतीयों के लिए संघर्ष या आंदोलन करने के अतिरिक्त दूसरा कोई चारा नहीं रहा।
- विश्व में फैली आर्थिक मंदी से भारत अछूता नहीं रहा। इसके फलस्वरूप देश की आर्थिक स्थिति शोचनीय हो गई थी।
- औद्योगिक तथा व्यावसायिक वर्ग के लोग सरकार की नीति से असंतुष्ट थे। कल -कारखानों में हड़ताल का ताँता लग गया था। मजदूरों में बड़ी उत्तेजना फैली हुई थी।
- सारे देश में असंतोष की लहर फैल रही थी और हिंसात्मक आंदोलन बढ़ रहा था। फरवरी, 1930 में कांग्रेस की कार्यकारिणी ने महात्मा गाँधी को सविनय अवज्ञा आंदोलन शुरू करने का अधिकार प्रदान किया।

आंदोलन का कार्यक्रम

- नमक कानून तथा ब्रिटिश कानूनों का उल्लंघन।
- कानूनी अदालतों, सरकारी विद्यालयों, महाविद्यालयों एवं सरकारी समारोहों का बहिष्कार।
- भू-राजस्व, लगान तथा अन्य करों की अदायगी पर रोक।
- शराब तथा अन्य मादक पदार्थों का विक्रय करने वाली दुकानों पर शांतिपूर्ण धरना।
- विदेशी वस्तुएं एवं कपड़ों का बहिष्कार।
- सरकारी नौकरियों का त्याग।

सरकार की कठोर नीति

आंदोलन के दमन के लिए सरकार ने कठोर नीति अपनाई। हर जगह गिरफ्तारी, लाठी-चार्ज, घुड़सवारों द्वारा लोगों को घोड़े के टापों के नीचे कुचलना आदि सरकारी कार्यक्रम बन गए थे। सरकारी आँकड़ों के अनुसार 29 बार गोलियाँ चलाई गई, जिनसे 110 व्यक्ति मारे गए और 420 घायल हुए। एक साल से कम समय में 90 हजार व्यक्ति जेल गए। पुलिस की ज्यादतियाँ इतनी बढ़ गई थी कि विद्यार्थियों को विद्यालय में घेरकर एवं कक्षाओं में घुसकर पिटा जाता था। सामान्यत: आंदोलन अनुशासित था। लेकिन सरकार का सत्याग्रहियों के साथ व्यवहार अत्यन्त पाशविक तथा अमानवीय था। नमक कानून भंग करने के अतिरिक्त विदेशी वस्त्रों और मादक

द्रव्यों का बहिष्कार किया गया था और शराब की दुकानों पर पिकेटिंग की गई थी। देश में तेरह अध्यादेश जारी किए गए। जनता को तरह-तरह से उत्पीड़ित किया गया। लेकिन इस कठोर दमनकारी नीति के बावजूद सविनय अवज्ञा आंदोलन शिथिल नहीं पड़ा।

आंदोलन के परिणाम

1934 ई. के मध्य में सविनय अवज्ञा आंदोलन के समाप्त हो जाने से अनेक कांग्रेसी नेता तथा स्वयंसेवक प्रसन्न नहीं हुए। उन लोगों का यह कहना था कि इस आंदोलन का परिणाम नगण्य रहा। लेकिन उन लोगों का यह सोचना गलत था। इस आंदोलन ने भारतीय जनता के हृदय में आत्मविश्वास पैदा किया और स्वतंत्रता के लिए मर-मिटने की भावना पैदा की। यह एक बड़ी उपलब्धि थी। भारतीय राष्ट्रीयता पूर्ण रूप से जागृत हो गई थी। 1935 ई. का अधिनियम इसी का परोक्ष परिणाम था।

गोलमेज सम्मेलन

प्रथम सम्मेलन

ब्रिटिश सरकार ने तत्कालीन ब्रिटिश प्रधानमंत्री रैम्जे मैक्डोनाल्ड की अध्यक्षता में नवम्बर, 1930 में लन्दन में प्रथम गोलमेज सम्मेलन का आयोजन किया। इसका उद्देश्य भारत में सुधारों से संबंधित साइमन कमीशन रिपोर्ट पर विचार करना था। इसमें ब्रिटिश भारत एवं देशी राज्यों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया लेकिन कांग्रेस ने इसका बहिष्कार किया। देशी राज्यों के शासकगण एवं अन्य प्रतिनिधियों में तीन मुद्दों पर सहमति हुई-

- भारत के लिए संघीय सरकार
- केन्द्र के पास आंशिक उत्तरदायित्व
- कुछ निश्चित पूर्वोपाय के बाद पूर्ण प्रांतीय स्वायत्तता पर जोर डाला तो डा. अम्बेडकर ने दलितों के लिए पृथक् निर्वाचन मंडल की मांग की। हिन्दू प्रति-निधियों ने इन दोनों ही मांगों को अस्वीकार कर दिया।

द्वितीय सम्मेलन

द्वितीय गोलमेज सम्मेलन लंदन में मैक्डोनाल्ड की अध्यक्षता में सितम्बर, 1931 में शुरू हुआ। गांधी-इरविन समझौते की शर्त के अनुसार कांग्रेस ने इसमें भाग लेने का निर्णय किया तथा गांधीजी को अपने एकमात्र प्रतिनिधि के रूप में सम्मेलन में भाग लेने के लिए भेजा। इस सम्मेलन की सबसे महत्त्वपूर्ण उपलब्धि दो उप-समितियों का निर्माण थी। प्रथम समिति 'संघीय संरचना' एवं द्वितीय समिति 'अल्पसंख्यकों' से संबंधित थी। ब्रिटिश मंत्रीगण एवं अनेक साम्प्रदायिक नेता साम्प्रदायिक समझौते पर विशेष जोर दे रहे थे, जबकि गांधीजी ने संवैधानिक सुधारों को प्रमुखता दी। इस मुद्दे पर अल्पसंख्यकों से संबंधित समिति में गतिरोध उत्पन्न हो गया। ब्रिटिश सरकार निश्चित थी कि विभिन्न साम्प्रदायिक नेता साम्प्रदायिक प्रश्न का हल नहीं कर पाएंगे। गांधीजी ने तर्क पूर्ण सुझाव दिया कि इसका समाधान स्वराज्य संविधान में हो सकता है तथा साम्प्रदायिक मतभेद स्वतंत्रता की आंच में समाप्त हो जाएंगे। परन्तु मुस्लिम, हिन्दू एवं सिक्ख साम्प्रदायिकों ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई एवं गांधीजी को सम्मेलन में एक संयुक्त मोर्चा प्रस्तुत करने से वंचित कर दिया।

अंतत: 1931 में मैक्डोनाल्ड ने प्रस्तावित भारत शासन अधिनियम की मुख्य बिन्दुओं को स्पष्ट किया। इसमें मजबूत संघ सरकार एवं समिति स्वशासन के अधिकार वाली प्रांतीय स्वायत्तता की घोषणा की गयी। संघ सरकार के सबसे महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों जैसे-वित्त, विदेशी संबंध (युद्ध की घोषणा सहित) एवं प्रतिरक्षा ब्रिटिश संसद एवं वायसराय के अधिकार में होंगे। वार्ता असफल हो गई एवं गांधीजी खाली हाथ भारत लौट आये।

तृतीय सम्मेलन

तृतीय गोलमेज सम्मेलन सुधरी हुई परिस्थितियों में नवम्बर, 1932 में आयोजित किया गया। इसके कुछ पहले ही सरकार ने पूना पैक्ट को स्वीकार कर लिया था। कांग्रेस एवं ब्रिटेन की लेबर पार्टी ने सम्मेलन का बहिष्कार किया। सम्मेलन में ब्रिटिश भारत की संघीय संरचना पर विचार हुआ। इस पर एक 'श्वेत पत्र' तैयार कर संसद की संयुक्त प्राक्कलन समिति को सौंपा गया। संयुक्त

प्राक्कलन समिति की अनुशंसाओं के आधार पर एक विधेयक तैयार किया गया तथा उसे गवर्नमेंट ऑफ इंडिया एक्ट, 1935 के रूप में पारित किया गया। वास्तविकता में यह सम्मेलन एक खानापूर्ति मात्र था।

गांधी-इरविन समझौता

प्रथम गोलमेज सम्मेलन कांग्रेस के बिना महत्त्वहीन साबित हुआ। प्रधानमंत्री रैम्से मैकडोनाल्ड ने आशा जतायी कि कांग्रेस दूसरे गोलमेज सम्मेलन में भाग लेगी। इसके फलस्वरूप महात्मा गांधी को जेल से रिहा कर दिया गया। कांग्रेस के कुछ नेताओं की मध्यस्थता में गांधी के साथ समझौते के प्रयास किए गए। 5 मार्च 1931 को गांधी और इरविन के बीच एक समझौता हुआ। इसमें निम्न बातें शामिल थी:

1. सभी राजनीतिक बंदियों को मुक्त करना।
2. राजनीतिक कार्यकर्त्ताओं के खिलाफ मुकद्दमें वापस लेना।
3. भारत में एक परिसंघ की स्थापना।
4. सत्ता हस्तांतरण भारतीयों के पक्ष में।
5. सविनय अवज्ञा आंदोलन वापस लेना।
6. कांग्रेस दूसरे गोलमेज सम्मेलन में भाग लेगी।

गांधी-इरविन समझौते की मुख्य बात यह थी कि इसमें पहली बार भारतीय नेताओं के साथ समानता के स्तर पर बात की गई थी। पर इस समझौते से कांग्रेस के कई नेता क्षुब्ध थे। जवाहर लाल एक वर्ष के प्रयास के बाद अब पूर्ण स्वराज्य का लक्ष्य व्यावहारिक रूप में छोड़ दिए जाने के कारण क्षुब्ध थे। महात्मा गांधी ने तीन क्रांतिकारियों भगत सिंह, राजगुरु, सुखदेव को दिए गए मृत्युदंड के संदर्भ में कोई वार्ता नहीं की, इसलिए इस समझौते से युवा वर्ग बहुत असंतुष्ट था। इरविन की नीति से नौकरशाही असंतुष्ट थी। वह इस समझौते को अंग्रेजी सरकार की हार मानती थी।

कराची में हुए कांग्रेस के अधिवेशन में गांधी-इरविन समझौते को स्वीकार कर लिया गया तथा गांधी कांग्रेस के एकमात्र प्रतिनिधि के रूप में द्वितीय गोलमेज सम्मेलन में भाग लेने इंग्लैण्ड गए।

कराची अधिवेशन

दिल्ली समझौते (गांधी-इर्विन समझौता) को स्वीकृति प्रदान करने के लिए कांग्रेस का कराची अधिवेशन 29 मार्च, 1931 को वल्लभ भाई पटेल की अध्यक्षता में आयोजित किया गया। इसके कुछ समय पूर्व भगतसिंह, सुखदेव, राजगुरु को फांसी दिये जाने के कारण नौजवान कार्यकर्त्ता गांधीजी से खिन्न थे और पंजाब नौजवान सभा ने इसके लिए गांधीजी की तीव्र आलोचना की। इस अधिवेशन में पूर्ण स्वराज्य के लक्ष्य को दोहराते हुए दो मुख्य प्रस्तावों को स्वीकार किया। जिसमें पहला मौलिक अधिकार एवं दूसरा राष्ट्रीय आर्थिक कार्यक्रम से सम्बद्ध था। इन प्रस्तावों के कारण कराची सत्र एक यादगार सत्र बन गया। इसी अधिवेशन में कांग्रेस ने पहली बार पूर्ण स्वराज्य को परिभाषित किया और यह घोषित किया कि जनता के क्षोभ को समाप्त करने के लिए राजनीतिक आजादी के साथ-साथ आर्थिक आजादी आवश्यक है। इस अधिवेशन द्वारा प्रस्तावित प्रमुख मुद्दे निम्न थे:

- लोकसम्मत मौलिक अधिकारों का आश्वासन
- जनता के सभी वर्गों से जातीय और धार्मिक लाचारियों की समाप्ति
- विभिन्न क्षेत्रों की राष्ट्रीय भाषाओं का विकास और भाषायी आधार पर भारत के प्रांतों का गठन
- करों में कमी
- बहुत सी देशी रियासतों और पिछड़े क्षेत्रों में प्रचलित बेगार की प्रथा की समाप्ति

- नमक कर की समाप्ति
- मजदूरों के विशेषाधिकारों की सुरक्षा, जैसे-काम करने की स्वस्थ स्थितियाँ, न्यूनतम मजदूरी का निर्धारण, बेरोजगारी का बीमा, आठ घंटे प्रतिदिन का काम और छुट्टियों का वेतन।

मैकडोनाल्ड अवार्ड एवं पूना समझौता

द्वितीय गोलमेज सम्मेलन में विभिन्न सम्प्रदायों एवं दलित वर्गों के लिए पृथक् निर्वाचक-मण्डल के विषय पर कोई सहमति नहीं हो सकी थी। अत: सम्मेलन ने इस समस्या के निदान के लिए ब्रिटिश प्रधानमंत्री रैम्जे मैकडोनाल्ड को प्राधिकृत किया था। तदनुसार, 16 अगस्त, 1932 को रैम्जे मैकडोनाल्ड ने अपने साम्प्रदायिक निर्णय की घोषणा की। इस अधिनिर्णय के अनुसार मुसलमान, यूरोपीय तथा सिक्ख मतदाता पृथक्-पृथक् साम्प्रदायिक निर्वाचन-मण्डलों में मतदान कर अपने उम्मीदवारों का चुनाव करेंगे। दलित वर्गों के लिए भी पृथक् निर्वाचन मण्डल का प्रावधान था। सरकारी तौर पर दलितों को अनुसूचित जाति के नाम से पृथक् सम्प्रदाय के रूप में स्वीकार किया गया। तथापि मैकडोनाल्ड ने हिन्दुओं और दलित वर्गों में आपसी सहमति से तैयार की गई किसी वैकल्पिक योजना को स्वीकार करने का वचन दिया था।

गोलमेज सम्मेलन में महात्मा गांधीजी ने दलित वर्गों के लिए पृथक् निर्वाचन-मण्डल के विचार का कड़े शब्दों में विरोध किया था और यह घोषणा की थी कि वह अपना जीवन देकर भी इसका प्रतिरोध करेंगे। गांधीजी के उपवास ने पूरे देश में बड़ी उत्तेजना एवं चिन्ता उत्पन्न कर दी पंडित मदन मोहन मालवीय ने दलित वर्ग लीग के नेता डॉ. बी. आर. अम्बेडकर सहित विभिन्न जातियों एवं राजनीतिक दलों का एक सम्मेलन बुलाया। सम्मेलन में अन्तत: गांधीजी के उपवास के छठे दिन 25 सितम्बर, 1932 को पूना में एक समझौता हुआ, जिसमें दो शर्तों के आधार पर सामान्य निर्वाचन-मण्डल बनाए जाने के संबंध में सहमति हुई। ये दो शर्तें थी: प्रथमत:, विभिन्न प्रान्तीय विधानमण्डलों में दलित वर्गों के लिए 148 सीटें आरक्षित करना जबकि साम्प्रदायिक अधिनिर्णय में केवल 71 सीटों की ही व्यवस्था की गई थी। दूसरे, केन्द्रीय विधानमण्डल में 18 प्रतिशत सीटें दलित वर्गों के लिए आरक्षित करना।

कांग्रेस मंत्रिमंडल

1937 के प्रांतीय चुनाव के पश्चात् कांग्रेस जिन आठ राज्यों में सत्ता में आयी थी, वहाँ उसने दो वर्ष से कुछ अधिक समय तक शासन किया, फिर भी उसने इस सुअवसर का लाभ उठाते हुए यह प्रमाणित कर दिया कि वह केवल जन-संघर्षों के लिए ही जनता का नेतृत्व नहीं कर सकती बल्कि इनके हित में राज्य सत्ता का उपयोग भी कर सकती है। संयुक्त प्रान्त और बिहार में काश्तकारी बिल पारित किए गए। सभी कांग्रेस शासित प्रान्तों में कृषकों को साहूकारों के समूह से बचाने तथा सिंचाई सुविधाओं को बेहतर बनाने के प्रयास किए गए। यह वह काल था जब कांग्रेस तथा अन्य कार्यकर्ताओं के प्रयासों से समग्र रूप से किसानों में व्यापक जागरूकता तथा बढ़ती हुई राजनीतिक चेतना देखने को मिलती है।

कांग्रेस सरकारों ने श्रमिक समर्थक दृष्टिकोण को अपनाया किन्तु वर्ग संघर्ष का साथ नहीं दिया। बम्बई की कांग्रेस सरकार ने 1937 में एक कपड़ा जाँच समिति की नियुक्ति की। इसमें कर्मचारियों की वेतन वृद्धि, स्वास्थ्य तथा बीमा सुरक्षा की सिफारिश की। बम्बई सरकार ने हड़तालें और तालाबन्दी रोकने के लिए मध्यस्थता के सिद्धान्तों के आधार पर नवम्बर, 1938 में औद्योगिक विवाद अधिनियम भी पेश किया। अन्य कांग्रेस शासित प्रान्तों में भी श्रमिकों के कल्याण के लिए बहुत से कानून पास किए गए।

कांग्रेस सरकारों ने नागरिक स्वतंत्रता, राजनीतिक कैदियों की रिहाई तथा रचनात्मक कार्यक्रमों के क्षेत्र में भी काफी प्रशंसनीय कार्य किए। पहले से प्रतिबंधित अनेक संगठन तथा समाचार-पत्र फिर से पूरी तरह कार्य करने लगे। ग्रामीण उद्योगों के उत्थान, मद्य-निषेध, शिक्षा विशेषकर "बुनियादी शिक्षा" के द्वारा प्राथमिक शिक्षा के संवर्द्धन, जनजातियों के कल्याण, जेल सुधार तथा अस्पृश्यता निवारण के लिए विशेष कार्यक्रम शुरू किए गए।

इस अवस्था में भी कांग्रेस मंत्रालयों को ईमानदारी और जनसेवा के मानक स्थापित करने का अवसर प्राप्त हुआ। नेताओं ने स्वयं को जनता से ऊपर नहीं रखा, जिसने उन्हें चुना था। मंत्रियों ने अपनी इच्छा से अपना वेतन कम करके पाँच सौ रुपए प्रतिमाह कर दिया

तथा रेलों से वे द्वितीय या तृतीय श्रेणी में यात्रा करते थे। 1939 में जब ब्रिटेन ने एकपक्षीय घोषणा करके भारत को द्वितीय विश्वयुद्ध में झोंक दिया, तब इसके विरोध में कांग्रेस मंत्रिमंडल ने त्याग पत्र दे दिया। मुस्लिम लीग एवं भीम राव अंबेडकर ने इस दिवस को मुक्ति दिवस के रूप में मनाया।

सिकंदर-जिन्ना पैक्ट

1937 ई. में मुस्लिम लीग का वार्षिक अधिवेशन लखनऊ में हुआ। इसी अधिवेशन के दौरान जिन्ना और पंजाब के मुख्यमंत्री सर सिकंदर हयात खाँ के बीच एक समझौता हुआ जो सिकंदर-जिन्ना पैक्ट के नाम से विख्यात है। इस समझौता के अनुसार पंजाब में उनके दल (यूनियनिस्ट पार्टी) के सदस्यों को मुस्लिम लीग की सदस्यता दिलाने की व्यवस्था की गई, परंतु मंत्रिमंडल युनियनिस्ट दल का ही कहा जाना था। यह कोई लिखित समझौता नहीं था, बल्कि मात्र एक घोषणा थी। दोनों के अपने-अपने स्वार्थ थे। सिकंदर हयात खाँ ऐसा कर मुस्लिम लीग के संभावित आक्रमण से अपनी रक्षा करना चाहते थे जबकि जिन्ना हयात खाँ के प्रभाव से पंजाब में मुस्लिम लीग की स्थिति सुदृढ़ करना चाहते थे। इसलिए 1938 ई. में पंजाब में नई मुस्लिम लीग को, जिसमें युनियनिस्ट दल का प्रभाव ज्यादा था, मान्यता प्रदान की गई।

व्यक्तिगत सत्याग्रह आंदोलन

महात्मा गांधी ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध भारतीय भावनाओं को व्यक्त करना चाहते थे। किंतु इसके साथ ही वे ब्रिटिश सरकार के समक्ष उत्पन्न संकट की स्थिति से अनुचित लाभ भी उठाने के पक्ष में नहीं थे। इसलिए उन्होंने सामूहिक कार्रवाई के स्थान पर सीमित पैमाने पर सत्याग्रह आंदोलन आरंभ किया। व्यक्तिगत सत्याग्रह केवल प्रतीकात्मक विरोध था और इसका उद्देश्य नैतिक विरोध की अभिव्यक्ति मात्र था। इस सत्याग्रह में अहिंसा पर विशेष बल दिया गया था। सामूहिक कार्रवाई को भी प्रत्येक रूप में निषिद्ध किया गया था। गांधी के विश्वस्त अनुयायी विनोबा भावे को प्रथम सत्याग्रही के रूप में चुना गया। उनके द्वारा पवनार में 17 अक्टूबर, 1940 को यह आंदोलन आरंभ किया गया। उनके द्वारा इस आंदोलन को तीन कारणों से आवश्यक बताया गया:

1. कांग्रेस की राष्ट्रीय सरकार की मांग अस्वीकार कर दी गई।
2. युद्ध प्रयासों के विरुद्ध विचार व्यक्त करने की स्वतंत्रता का निषेध कर दिया गया।
3. ब्रिटिश शासक यह मानने के लिए तैयार नहीं है कि भारत अपनी इच्छा से युद्ध में शामिल नहीं हुआ है।

विनोबा भावे के बाद दूसरे आंदोलनकर्ता नेहरू जबकि सैयद अब्बास जी तीसरे आन्दोलनकर्ता थे। इस आंदोलन ने शीघ्र ही राष्ट्रव्यापी आकार ले लिया। मई, 1941 तक लगभग 14 हजार सत्याग्रही गिरफ्तार किए गए।

व्यक्तिगत सत्याग्रह आंदोलन का उद्देश्य कांग्रेस सरकार के त्यागपत्र और युद्ध की स्थितियों के बीच भारतीय जनता को भावी आंदोलन के लिए तैयार करना था। यह एक प्रकार से भारतीय जनता की ब्रिटिश विरोधी भावना का परीक्षण भी था।

अगस्त प्रस्ताव

8 अगस्त, 1940 को वायसराय लिनलिथगो ने एक घोषणा की। इसे ही अगस्त प्रस्ताव के नाम से जाना जाता है। इसमें निम्न प्रावधान थे-अंग्रेज किसी ऐसी संस्था को शासन नहीं सौंपेंगे, जिसमें अल्पसंख्यकों का हित सुरक्षित न हो, युद्ध के बाद एक संविधान सभा का गठन, संविधान निर्माण का अधिकार भारतीयों को तथा एक युद्ध सलाहकार परिषद् का गठन जिसमें भारतीय भी शामिल होंगे। उक्त आधार पर भारतीय युद्ध में सरकार का सहयोग करेंगे।

एक तरह से अगस्त प्रस्ताव भारत की वैधानिक समस्या को सुलझाने की दिशा में एक सराहनीय प्रयास था। इस प्रस्ताव में युद्ध के बाद भारत को औपनिवेशिक स्वराज्य की स्थापना का वचन दिया गया था और इसके लिए संविधान बनाने की शक्ति भी भारतीयों को दिए जाने की बात की गई थी। आलोचनात्मक दृष्टि से देखने पर ये प्रस्ताव असंतोषजनक थे। कांग्रेस की अस्थायी सरकार की

स्थापना तथा उसे रक्षा एवं अन्य मामलों का नियंत्रण देने की मांग का इसमें जिक्र तक नहीं किया गया था। इसमें अल्पसंख्यकों को भविष्य में भारत के संवैधानिक विकास में रोक लगाने का पूरा अधिकार दे दिया गया था। इसमें बहुमत को अल्पमत की दया पर छोड़ दिया गया था। यह राष्ट्रीय हितों के प्रतिकूल था।

कांग्रेस ने अगस्त प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया, मुस्लिम लीग ने भी इसे स्वीकार नहीं किया क्योंकि इसमें संयुक्त भारत की ओर संकेत किया गया था तथा इसमें पाकिस्तान की स्थापना के लिए कोई प्रस्ताव नहीं था।

वस्तुत: अगस्त प्रस्ताव भारत की वैधानिक समस्या को हल करने की बजाए उसे टालने, वैधानिक गतिरोध के लिए कांग्रेस को उतरदायी ठहराने और भारत की राजनीतिक समस्या को सांप्रदायिक समस्या का रूप देने का प्रयास था।

पाकिस्तान प्रस्ताव

मुसलमानों में पृथक्तावादी तत्व बहुत पहले से ही सक्रिय थे जो मुसलमानों के लिए अलग देश की माँग कर रहे थे। इस माँग को रखनेवाले कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय में शिक्षा प्राप्त कर रहे कुछ भारतीय मुसलमान थे जिनके अगुआ चौधरी रहमत अली थे। उनकी अध्यक्षता में पाकिस्तान नेशनल मूवमेंट लंदन में चलाया जा रहा था। लीग ने खुद ही 1937 ई. में मुस्लिम लीग के लाहौर अधिवेशन में एक प्रस्ताव पास किया जिसे हम पाकिस्तान प्रस्ताव के नाम से जानते हैं। पाकिस्तान प्रस्ताव पास हो जाने एवं विशेषकर 1940 ई. से जिन्ना अधिक उत्साही दिखाई देने लगे। वे अब पृथकतावादी भाषण देने लगे। उन्होंने माँग की कि भावी संविधान में कांग्रेस और लीग को समान अधिकार होना चाहिए।

क्रिप्स मिशन

युद्धकालीन स्थितियों के बीच 1942 में क्रिप्स मिशन भारत आया। इसके उद्देश्य कुछ रियायतों की घोषणा कर युद्ध में भारतीयों का सहयोग प्राप्त करना था। इसने अपने प्रस्ताव पर भारतीय नेताओं से बातचीत की पर कोई समझौता नहीं हो सका। क्रिप्स द्वारा प्रस्तुत प्रस्ताव निम्न थे:

1. ब्रिटिश राष्ट्रमंडल के अंतर्गत भारत को पूर्ण औपनिवेशिक स्वराज्य का दर्जा दिया जाएगा। भारत को राष्ट्रमंडल से पृथक् होने का भी अधिकार होगा।
2. युद्ध के पश्चात् राज्य के विधानमंडलों के निम्न सदनों के द्वारा आनुपातिक प्रणाली के आधार पर एक संविधान सभा का गठन किया जाएगा। उस सभा में देशी रियासतों के प्रतिनिधि भी होंगे। ऐसी संविधान सभा द्वारा निर्मित संविधान सरकार द्वारा निम्न शर्तों पर स्वीकार किया जाएगा। जो प्रांत उसे स्वीकार न करे वह अपनी यथावत् स्थिति में रह सकता है। संविधान सभा और ब्रिटिश सरकार में अल्पसंख्यकों की सुरक्षा के लिए संधि की जाएगी जब तक संविधान सभा का गठन न हो, अंग्रेज ही भारत की सुरक्षा के लिए उत्तरदायी होंगे।

क्रिप्स मिशन के प्रस्ताव 1940 के प्रस्तावों की अपेक्षा अधिक निश्चित तथा ठोस थे। इसमें सभी पक्षों को संतुष्ट करने का प्रयास था। इसमें कांग्रेस के लिए पूर्ण अधिक्षेत्र प्रास्थिति और संविधान सभा, मुस्लिम लीग के लिए मुस्लिम बहुल प्रांतों के लिए नया संविधान एवं देशी रियासतों के लिए भारतीय परिसंघ में शामिल होने अथवा न होने की पूरी छूट थी। इसके बावजूद मिशन का प्रस्ताव संभी पक्षों को संतुष्ट नहीं कर सका। कांग्रेस ने इसे दिवालिए बैंक का चेक कहकर अस्वीकार कर दिया।

क्रिप्स प्रस्ताव अप्रत्यक्ष रूप से पाकिस्तान की मांग को स्वीकार करता था तथा भारत की रक्षा व्यवस्था कांग्रेस के अनुकूल नहीं थी। अत: कांग्रेस ने इसे अस्वीकार कर दिया। मुस्लिम लीग ने इसे इसलिए नहीं माना क्योंकि उसमें पाकिस्तान की मांग को स्पष्ट रूप से स्वीकार नहीं किया गया था।

कांग्रेस का वर्धा प्रस्ताव

14 जुलाई, 1942 को कांग्रेस कार्य-समिति की बैठक वर्धा में हुई, जिसमें एक प्रस्ताव द्वारा यह मांग की गई कि अंग्रेज भारत

छोड़ कर चले जाएं। प्रस्ताव में यह भी कहा गया था कि जो परिस्थिति उत्पन्न हो गई है उसका समाधान केवल ब्रिटिश शासन का अंत होने से ही होगा। प्रस्ताव में बताया गया था कि इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए कांग्रेस एक व्यापक संघर्ष चलाएगी। इस प्रस्ताव से जनता में यह भावना जागृत हुई कि कांग्रेस की ओर से शीघ्र ही एक विशाल जन-आंदोलन होने वाला है। अगस्त, 1942 को इलाहाबाद में तिलक दिवस के अवसर पर जवाहर लाल नेहरु ने अपने भाषण में कहा था, 'हम आग से खेलने जा रहे हैं, हम दुधारी तलवार प्रयुक्त करने जा रहे हैं, जिसकी चोट उलटे हमारे ऊपर भी पड़ सकती है, लेकिन हम विवश हैं।'

भारत छोड़ो प्रस्ताव

क्रिप्स मिशन की असफलता से सभी को निराशा हुई। अभी तक कांग्रेस ने ऐसा कार्य नहीं किया था जिससे अंग्रेजों को परेशानी हो। परन्तु अब जबकि जापान लगभग देश के द्वार पर खड़ा था, कांग्रेस चुप नहीं रह सकती थी। गाँधी जी ने अंग्रेजों से सुव्यवस्थित ढंग से भारत से चले जाने को कहा। गहमा-गहमी के इसी माहौल में 7 और 8 अगस्त को कांग्रेस कार्यकारिणी समिति की बैठक बंबई में हुई, जिसमें भारत छोड़ो प्रस्ताव पारित हुआ। प्रस्ताव पारित होने के बाद महात्मा गाँधी ने लगभग सत्तर मिनट तक भाषण दिया, जिसमें वे उस पैगंबर की तरह बोले जो दैवी शक्ति से प्रेरित होकर बोलता है, उनकी जबान से मानो आग बरस रही थी, जो अपनी ज्वालाओं से सबको पवित्र करती जा रही थी। उन्होंने कहा, 'भारत में ब्रिटिश शासकों का रहना, जापान को भारत पर आक्रमण के लिए आमंत्रण देना है। उनके भारत छोड़ने से यह आक्रमण हट जाएगा। भारत को ईश्वर के हाथों में छोड़ दो अथवा प्रचलित भाषा में अराजकता पर भारत को छोड़ दो। तदंतर सभी दल आपस में या तो दूतों की तरह लड़ेंगे या जब वास्तविक दायित्व उनके सामने होगा तब कोई न्यायोचित समझौता कर लेंगे।' उन्होंने स्पष्ट कह दिया था 'मैं स्वतंत्रता के लिए इंतजार नहीं कर सकता। मैं जिन्ना साहब के हृदय परिवर्तन की बाट नहीं देख सकता। यह मेरे जीवन का अंतिम संघर्ष है।' इस प्रकार, महात्मा गाँधी ने 'करो या मरो' संघर्ष के लिए राष्ट्र का आह्वान किया।

1942 ई. की अगस्त क्रांति

भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के इतिहास में 1942 ई. की अगस्त क्रांति एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। इस क्रांति ने भारत में ब्रिटिश साम्राज्यवाद की नींव हिला दी और यह सिद्ध कर दिया कि स्वाधीनता के चमकीले प्रकाश के लिए भारतवासी मर मिटने को तैयार हैं।

क्रांति के कारण

एक लेखक के अनुसार, 'यदि हम संसार की क्रांतियों का अध्ययन करें तो हमें मालूम होगा कि वे एकाएक पैदा नहीं हो जाती। उनके अधिकांश कारण पूर्ववर्ती होते हैं। देखने में तो ऐसा विदित होता है कि वातावरण शांत है किंतु भीतर-भीतर आग सुलगती रहती है और उपयुक्त अवसर पाते ही वह विस्फोट की भांति फूटकर क्रांति में परिवर्तन हो जाती है।'

1942 ई. की अगस्त क्रांति के भी अनेक पूर्ववर्ती कारण थे। उनमें प्रमुख थे-

क्रिप्स मिशन की असफलता

इसकी असफलता से यह स्पष्ट हो गया कि ब्रिटिश सरकार भारतीय समस्या के समाधान के लिए प्रयत्नशील नहीं है। क्रिप्स योजना की असफलता के बाद भारतीय स्वतंत्रता का अध्याय बंद कर दिया गया था और सरकार ने कठोर दमनकारी नीति अपनाई थी। इससे देश में नैराश्य और उत्साह हीनता छा गई थी। इस स्थिति में कांग्रेस के समक्ष आंदोलन चलाने के सिवा कोई दूसरा चारा नहीं था।

प्रारंभ में युद्ध में ब्रिटिश सरकार की असफलता

ब्रिटिश सरकार युद्ध में जापान का मुकाबला सफलतापूर्वक नहीं कर सकी। मलाया, सिंगापुर, बर्मा आदि देशों में ब्रिटिश फौजों को पीछे हटना पड़ा, जिससे भारतीयों को विश्वास हो गया कि ब्रिटेन भारत की रक्षा नहीं कर सकता।

अंग्रेजों का लज्जापूर्ण व्यवहार

युद्ध के नाम पर सरकार देश में साम्राज्यवाद का नाटक खेल रही थी। देश में भ्रष्टाचार और कालाबाजारी का बाजार गर्म था। इससे जनता में विदेशी सरकार के प्रति असंतोष फैला हुआ था। 27 जुलाई को ब्रिटिश सरकार ने लंदन से एक घोषणा की कि भारत को युद्ध का अड्डा बनाया जाएगा और उसके आवश्यक कार्यवाही की जाएगी।

भारतीय नेता इससे बहुत क्षुब्ध हुए और इस घोषणा के लगभग बारह दिनों के बाद भारत छोड़ो आंदोलन शुरू हुआ।

क्रांति का आरंभ और विस्तार

नेताओं की गिरफ्तारी से देश में जनविप्लव शुरू हो गया। सरकार विरोधी प्रदर्शन हुए। हड़तालें हुई, सभाएँ हुई और जुलूस निकले। सरकार के प्रति घृणा और रोष से उत्तेजित जनता ने हिंसात्मक मार्ग अपनाया। रेलों की पटरियाँ उखाड़ दी गई, और अग्निकांड, हत्या, तोड़फोड़ आदि शुरू हुए। टेलीफोन और टेलीग्राफ की लाइनें काट दी गई। सरकारी भवनों में आग लगा दी गई। जमशेदपुर, अहमदाबाद और बंबई में मजदूरों ने हड़ताल कर दी। स्कूल और कॉलेज बंद हो गए। रेलों का चलना बंद हो गया। ऐसा प्रतीत होने लगा कि देश के कई भागों में पूर्वी उत्तरप्रदेश में बलिया, बंगाल के मिदनापुर में स्थित तामलुक तथा महाराष्ट्र के सतारा में ब्रिटिश शासन का अंत हो गया और समानांतर सरकारें बैठा दी गई। कई जगह जेलों पर भी आक्रमण हुए और अनेक कैदी जेल से निकलकर भाग गए जयप्रकाशजी ने भी इस आंदोलन में बढ़ चढ़कर भाग लिया था।

सरकार का दमन चक्र

ब्रिटिश सरकार ने क्रांति के दमन की नीति अपनाई। फौजी दस्ते सारे देश में दौड़ा दिए गए। जनता को मशीनगनों और गोलियों का शिकार बनाया गया। पुलिस ने तपती धूप में खड़ा कर लोगों पर गोली चला देना, उन्हें नंगा कर पेड़ों से उलटा टाँग देना और कोड़े मारना जैसे कार्यों को जनता को आतंकित करने के लिए अपनाए। पुलिस एवं सैनिकों की गोली से हजारों व्यक्तियों की जान गई। सैकड़ों-हजारों स्त्री-पुरुषों को कोड़ों से पीटा गया। सैकड़ों गाँवों पर सामूहिक दंड लगाए गए। सचमुच ब्रिटिश अधिकारियों का दमनचक्र अपने अंतिम बिंदु पर पहुँच गया था। पटना सचिवालय पर राष्ट्रीय झंडा फहराते समय सात छात्र गोली के शिकार हुए। इस प्रकार, सरकार की दमनकारी नीति पराकाष्ठा पर पहुँच गई थी। इतना ही नहीं, देश के कुछ हिस्सों में अप्राकृतिक अकाल उत्पन्न कर दिया गया। प्रारंभ होने के छह महीने के बाद क्रांति की गति धीमी पड़ गई, यद्यपि कुछ नेता गुप्त रूप से आंदोलन चलाते रहे।

अगस्त क्रांति के धीमा पड़ जाने के कारण

- विद्रोहियों के बीच समन्वय का अभाव।
- संगठन का अभाव।
- निश्चित कार्य प्रणाली का अभाव।
- समृद्ध व्यक्तियों एवं पूँजीपतियों का असहयोग।
- सरकार की तीव्र दमनकारी नीति।
- बड़े नेताओं की गिरफ्तारी।
- योग्य नेतृत्व का अभाव।
- दूसरे स्तर के नेताओं एवं जनता के मध्य संपर्क का अभाव।

महात्मा गाँधी का अनशन

सरकार के अमानुषिक व्यवहार तथा जनता के हिंसात्मक कार्यों से महात्मा गाँधी को हार्दिक क्लेश हुआ। उन्होंने 10 फरवरी, 1943 को इक्कीस दिनों का अनशन शुरू किया। सरकार ने इसकी जिम्मेदारी अपने ऊपर नहीं ली। वायसराय की कार्यकारिणी परिषद् के कई सदस्यों ने त्यागपत्र दे दिया और सरकार से अपील की कि वह गाँधीजी को जेल से मुक्त कर दे। परंतु, इसका परिणाम कुछ

DISCOVERY

नहीं निकला। 2 मार्च, 1943 को महात्माजी का अनशन सकुशल समाप्त हुआ। अप्रैल, 1944 में गांधी जी बीमार पड़ गए और सरकार ने विवश होकर 6 मई, 1944 को गाँधीजी को जेल से छोड़ दिया।

अगस्त क्रांति के परिणाम

1942 ई. की अगस्त क्रांति भारतीय राष्ट्रीयता के इतिहास में विशेष महत्त्वपूर्ण है। सरकार के कठोर दमनचक्र और नेताओं की बंदी के कारण आंदोलन असफल रहा। किंतु, इससे क्रांति का महत्त्व कम नहीं होता है। इसने यह प्रमाणित कर दिया कि अब अधिक दिनों तक भारत में ब्रिटिश शासन कायम नहीं रह सकता। सरकार को यह पता चल गया कि भारतीय जनता में ब्रिटिश शासन के विरुद्ध व्यापक असंतोष है और भारत में ब्रिटिश शासन को कायम रखने के लिए एक बड़ी ब्रिटिश फौज की आवश्यकता है, जिसके लिए इंग्लैंड असमर्थ है। इस प्रकार, 1942 ई. की क्रांति ने भारतीय स्वतंत्रता के लिए एक समुचित पृष्ठभूमि तैयार कर दी। क्रांति में भारतीय जनता ने अपूर्व साहस और धैर्य का परिचय दिया। लाखों युवक मातृभूमि की स्वतंत्रता हेतु मर मिटने को तैयार हो गए। इससे स्पष्ट हो गया था कि राष्ट्रीयता की भावना अपनी पराकाष्ठा पर पहुंच चुकी है और ऐसी स्थिति में ब्रिटिश शासन का कायम रहना संभव नहीं है।

राजाजी फार्मूला

राजगोपालाचारी ने जो योजना बनाई, उसके अनुसार मुस्लिम लीग को भारत की स्वतंत्रता की माँग का समर्थन करना था तथा अंतरिम सरकार में कांग्रेस के साथ सहयोग करना था। युद्ध-समाप्ति के पश्चात् भारत के उत्तर-पश्चिम एवं उत्तर-पूर्व के उन क्षेत्रों में जहाँ मुसलमान बहुसंख्यक थे, एक आयोग द्वारा इन इलाकों को स्पष्ट करना था। इन इलाकों में जनमत संग्रह द्वारा यह निश्चित होना था कि वे भारत में रहना चाहते हैं या उससे अलग होना। बँटवारे की स्थिति में प्रतिरक्षा, संचार, आवागमन एवं जनसंख्या का आदान-प्रदान एक समझौते द्वारा तय किया जाएगा। परंतु, ये सभी शर्तें तभी लागू हो सकती थीं जब अंग्रेज भारत को सत्ता का हस्तांतरण कर देंगे। राजाजी का यह फार्मूला कांग्रेस एवं मुस्लिम लीग किसी को भी मान्य नहीं हुआ।

देसाई-लियाकत योजना

1945 में देसाई-लियाकत प्लान के द्वारा साम्प्रदायिक गतिरोध को समाप्त करने का प्रयास किया गया। कांग्रेस पार्टी के भूलाभाई देसाई ने जो कांग्रेस विधायी दल के नेता थे, लियाकत अली खान के समक्ष एक प्रारूप रखा। लियाकत अली खान केन्द्रीय विधायी दल में मुस्लिम लीग के उपनेता थे। इसमें निम्न बातें कही गयी थी-

- केन्द्र में एक अन्तरिम सरकार का गठन। इस अन्तरिम सरकार में कांग्रेस एवं लीग के सदस्यों की संख्या बराबर-बराबर होगी। दोनों दल केन्द्रीय विधानमंडल में इनका मनोनयन करेंगे।
- अल्पसंख्यकों के प्रतिनिधियों एवं एक कमान्डर-इन-चीफ को शामिल किया जाना था।
- सरकार वर्तमान गवर्नमेंट ऑफ इंडिया एक्ट के अनुसार कार्य करेगी एवं प्रांतीय सरकारों का गठन संविद सरकार के रूप में होगा।

इस पर भी कांग्रेस एवं लीग के बीच कोई समझौता नहीं हो सका। लियाकत अली को इसे नकारने के लिए बाध्य होना पड़ा। असल में, कांग्रेस और लीग को समान महत्त्व देने के प्रस्ताव के दूरगामी परिणाम हुए।

वैवेल योजना/शिमला सम्मेलन

मार्च, 1945 ई. में लार्ड वैवेल इंग्लैंड गए और भारतीय समस्यों पर विचार-विमर्श करके जून, 1945 ई. में भारत लौटे। 14 जून, 1945 ई. को वैवेल ने भारतीय नेताओं के एक सम्मेलन के विषय में घोषणा की और 25 जून से शिमला सम्मेलन में भारतीय नेताओं को वार्ता के लिए बुलाया। साथ ही कांग्रेस वर्किंग कमेटी के सदस्यों को जेल से छोड़ने के आदेश भी प्रसारित कर दिए। सम्मेलन का निम्न उद्देश्य घोषित किया गया:

- सांप्रदायिक समस्या का हल जो भारत की संवैधानिक प्रगति में मुख्य बाधा थी।
- गवर्नर जनरल की एक नई कार्यकारिणी कौंसिल का गठन जिसमें सभी राजनीतिक विचारधारा का प्रतिनिधित्व हो। इस कौंसिल में मुसलमानों और हिंदुओं (हरिजनों को छोड़कर) को समान प्रतिनिधित्व दिया जाएगा। गवर्नर जनरल और सेनाध्यक्ष को छोड़कर शेष सभी सदस्य भारतीय होंगे। विदेश विभाग भी भारतीय सदस्यों को सौंप दिया जाएगा इस कौंसिल का कार्य युद्ध संचालन, प्रशासन तथा नए संविधान निर्माण पद्धति का निर्णय करना होगा।

यह सम्मेलन 25 जून से 14 जुलाई तक चला और अंततः असफल रहा। इसकी असफलता का मुख्य कारण यह था कि जिन्ना ने यह दावा प्रस्तुत किया कि समस्त मुसलमान सदस्य लीग द्वारा ही मनोनीत होने चाहिए। इस आधार पर कांग्रेस अध्यक्ष मौलाना अबुल कलाम आजाद भी कौंसिल के सदस्य नहीं हो सकते थे। अनुसूचित जातियों के प्रतिनिधियों ने कांग्रेस द्वारा प्रस्तुत सदस्यों के नाम पर आपत्ति की और पृथक् नामांकन करने का अधिकार मांगा। इन मतभेदों के अतिरिक्त वैवेल ने विभिन्न दलों से नामों की एक सूची प्रस्तुत करने के लिए कहा और उसमें से निर्धारित संख्या में चयन का अधिकार अपने लिए सुरक्षित रखा। इस पर लीग सहमत नहीं हुई।

सम्मेलन की असफलता के लिए जिन्ना की अपेक्षा वैवेल मुख्य रूप से उत्तरदायी था। वैवेल यदि जिन्ना के दृष्टिकोण को इतना अधिक महत्त्वपूर्ण मानता था तो उसे पहले जिन्ना और कांग्रेस अध्यक्ष से समझौता कर लेना चाहिए था। जिस प्रकार शिमला सम्मेलन में विचार विमर्श हुआ उसका परिणाम जिन्ना को एक ऐसा 'वीटो' का अधिकार प्रदान करना था जिससे उसका महत्त्व अत्यधिक बढ़ा। इस सम्मेलन से केंद्र में हिंदू- मुस्लिम समानता भी जिन्ना को उपलब्ध हो गई। अब भारत विभाजन और निकट दिखाई देने लगा। वैवेल ने मुसलमानों के नामों की सूची स्वयं तैयार की थी और इसमें कांग्रेस का एक भी मुसलमान सदस्य नहीं था। चार मुस्लिम लीग के और एक यूनियनिस्ट दल का सदस्य था। जिन्ना ने इसे स्वीकार नहीं किया। अंततः सम्मेलन असफल रहा।

नौसैनिक विद्रोह

बम्बई में नौ-सैनिकों का विद्रोह अनेक कारणों से हुआ। युद्ध काल में नौ-सेना का विस्तार किया गया था। परिणामस्वरूप ''असैनिक वर्ग'' के लोगों को भी इसमें भर्ती किया गया। इनमें राजनीतिक चेतना थी। नौ-सैनिकों का युद्ध के दौरान गैर-भारतीयों से संपर्क हुआ। अपनी दयनीय स्थिति देखकर उनमें असंतोष की भावना सुलगने लगी। नौ-सैनिक प्रजातीय विभेद की नीति से अत्यंत क्षुब्ध थे। आजाद हिंद फौज के अधिकारियों पर चलाए गए मुकदमे से भी उनमें रोष उत्पन्न हुआ। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद भारत में घटनेवाली प्रमुख राजनीतिक घटनाओं का भी उन पर व्यापक प्रभाव पड़ा। अतः नौ-सैनिक भी ब्रिटिश साम्राज्य की भेदभावपूर्ण नीति के विरुद्ध आंदोलन के मार्ग पर चल पड़े। 18 फरवरी, 1946 को बम्बई में 'तलवार' नामक जहाज के नाविकों ने खुली बगावत आरम्भ कर दी। उन लोगों ने घटिया किस्म के भोजन दिए जाने के विरोध में भूख-हड़ताल आरम्भ कर दी। अगले दिन बगावत बम्बई के अन्य जहाजों पर भी फैल गई। नाविकों ने अपने-अपने जहाजों पर तिरंगा झंडा एवं चाँद और हँसिया-बाली से युक्त झंडे लहरा दिया।

अधिकारियों के आश्वासन पर जब सैनिक अपने जहाजों और बैरकों में वापस लौटे तो उन्होंने अपने आपको सुरक्षा प्रहरियों से घिरा हुआ पाया। सैनिकों ने जब इस घेराबन्दी को तोड़ने का प्रयास किया तो सुरक्षा प्रहरियों के साथ खुला संघर्ष आरम्भ हो गया। नागरिकों और दुकानदारों ने नौ-सैनिकों को उनके संघर्ष में सहयोग दिया। 'तलवार' से आरम्भ हुई बगावत अन्य जहाजों पर भी फैल गई। बंबई के अतिरिक्त कलकत्ता, विशाखापत्तनम, कराची और अन्य बंदरगाहों पर भी नाविकों ने खुली बगावत कर दी। एडमिरल गोडफ्रे ने बम्बई में नाविकों को समाप्त करने की धमकी भी दी परंतु नौ-सैनिक पीछे नहीं हटे। 22 फरवरी तक सारे नौ-सैनिक विद्रोह के प्रभाव में आ गए।

सरकार ने इस बगावत को सैनिक शक्ति की सहायता से दबाने का प्रयास किया। सैनिकों को जनसाधारण एवं अनेक राजनीतिक दलों का समर्थन मिला। बम्बई में नाविकों के समर्थन में साम्यवादी दल और कांग्रेस समाजवादी दल ने पूर्ण हड़ताल की घोषणा की। हड़ताल के दौरान पुलिस के साथ झड़पें भी हुई जिनमें सैकड़ों व्यक्ति मारे गए एवं हजारों की संख्या में हताहत हुए। इससे भी सैनिकों का मनोबल नहीं टूटा। सरदार वल्लभभाई पटेल के आश्वासन पर 23 फरवरी, 1946 को नाविकों ने अपनी बगावत समाप्त कर दी और

बैरकों तथा जहाजों पर लौट गए। नौ-सैनिकों की बगावत से ब्रिटिश सरकार को गहरा धक्का लगा।

कैबिनेट मिशन योजना

24 मार्च, 1946 को कैबिनेट मिशन भारत आया। इसका उद्देश्य युद्ध बाद भारत के लिए कुछ सुधारों की घोषणा करना था। संवैधानिक विकास की दृष्टि से इन सुधारों का काफी महत्त्व है। इसके निम्न सुझाव थे-भारत में एक संघ की स्थापना, जिसमें देशी नरेश भी शामिल होंगे। सांप्रदायिक प्रश्न उस संप्रदाय के सदस्यों द्वारा ही सुलझाए जाएं। प्रांत परस्पर मिलकर गुट बना सकेंगे। एक अंतरिम सरकार का गठन, जिसमें सभी राजनीतिक दल शामिल हों, योजना में संविधान सभा के सदस्यों की संख्या तथा उनके निर्वाचन का तरीका भी बताया गया था। इसमें संविधान सभा को तीन भागों में विभक्त किया गया।

कैबिनेट मिशन योजना के प्रति सभी राजनीतिक दलों की प्रतिक्रिया सामान्यतया अनुकूल थी। महात्मा गांधी के मत में यह वर्तमान परिस्थितियों में ब्रिटिश सरकार द्वारा प्रस्तुत सर्वोत्तम दस्तावेज था। कैबिनेट मिशन योजना के अंतर्गत भारतीय एकता को सुरक्षित रखने का प्रयास किया गया था। मिशन ने पाकिस्तान की मांग को स्पष्ट रूप से अस्वीकार कर दिया था। एकल राष्ट्रवाद के अनिवार्य सिद्धांत का बलिदान किए बिना विभिन्न तत्वों को संतुष्ट करने का यह सफलतम प्रयास था। भारतीय राज्यों की दृष्टि से भी योजना अनुकूल थी। प्रस्ताव में राज्यों की जनता को मान्यता तथा महत्त्व दिया गया था।

अनेक विशेषताओं के बावजूद योजना दोषमुक्त नहीं थी। भारत विभाजन की मांग अस्वीकार करने के बाद भी परोक्ष रूप से पाकिस्तान की व्यवस्था थी। मुस्लिम लीग की पृथक्करण की मांग को कांग्रेस की संयुक्त भारत की मांग के अनुरूप बनाने के प्रयास ने अखिल भारतीय परिसंघ के भीतर एक उप संघ के विचार को जन्म दिया। प्रांतों के समूहीकरण से संबंधित मिशन के प्रस्ताव की अस्पष्ट भाषा ने कांग्रेस तथा लीग के बीच विवाद को जन्म दिया। कैबिनेट योजना के प्रस्तावों के अंतर्गत प्रांतों का अनिवार्य वर्गीकरण सिक्खों के हितों के विपरीत था। सिक्खों को मुसलमानों की दया पर छोड़ दिया गया था। भारतीय राज्यों से संबंधित व्यवस्था भारतीय एकता और अखंडता के विरूद्ध थी। भारतीय राज्य भारत संघ में शामिल होने अथवा पृथक् रहने के लिए स्वतंत्र थे।

प्रत्यक्ष कार्रवाई दिवस

शिमला सम्मेलन की असफलता के पश्चात् कैबिनेट मिशन भारत आया। इसने अंतरिम सरकार की व्यवस्था की परंतु पाकिस्तान की माँग को ठुकरा दिया। बदले में कांग्रेस और लीग दोनों ने मिशन को तो स्वीकार किया, परंतु अंतरिम सरकार में शामिल होने के प्रश्न पर एक समस्या खड़ी हो गई। पहले कांग्रेस ने इसमें शामिल होना स्वीकार नहीं किया। इसलिए, लीग ने दावा किया कि वह कांग्रेस के बिना भी सरकार बना सकती है, परंतु वायसराय कांग्रेस को अलग रखकर सरकार बनाने के पक्ष में नहीं थे इसलिए लीग के दावे को ठुकरा दिया। इस पर क्रोधित होकर लीग ने 27 जुलाई, 1946 को कैबिनेट मिशन की योजना को अस्वीकार कर दिया एवं 16 अगस्त, 1946 को पाकिस्तान के लिए सीधी कार्रवाई करने का निश्चय किया। बाद में जब कांग्रेस सरकार बनाने के लिए तैयार हुई तो नेहरू ने जिन्ना को भी सरकार में शामिल होने का सुझाव दिया, परंतु वह अपनी जिद्द पर अड़े रहे।

16 अगस्त, 1946 को कलकत्ता में भयानक दंगे हुए। लीगियों ने नारा लगाया 'लड़कर लेंगे पाकिस्तान'। इस सांप्रदायिक दंगे ने भीषण रूख अख्तियार किया जिसमें हजारों जानें गई। सुहरावर्दी की सरकार ने दंगों को दबाने की कोशिश नहीं की बल्कि सांप्रदायिक तत्त्वों को बढ़ावा दिया।

गांधी-जिन्ना वार्त्ता

देश की सांप्रदायिक समस्या को हल करने के लिए गांधीजी और जिन्ना में वार्त्ता आरंभ हुई। दो सप्ताह से अधिक समय तक चलने के पश्चात् भी यह वार्त्ता असफल रही। गांधीजी ने सी. आर. फार्मूला की भांति पंजाब और असम के विभाजन की बात कही जिसे जिन्ना ने स्वीकार नहीं किया। जिन्ना द्वारा मुसलमानों के पृथक् कौम (नेशन) होने की बात गांधीजी ने नहीं मानी। गांधीजी बंटवारे को स्वीकार करने के लिए तैयार थे लेकिन उसी भांति जैसे एक संयुक्त परिवार के सदस्य पारिवारिक संपत्ति का बंटवारा करा

लेते हैं। दोनों नेताओं में इस बात पर भी मतभेद था कि बंटवारा स्वतंत्रता प्राप्ति के पूर्व हो अथवा बाद में। जिन्ना यह बंटवारा पहले चाहते थे गांधीजी बाद में। गांधीजी इस बात के इच्छुक थे कि दोनों राज्यों में कुछ सम्मिलित विषयों के प्रबंध की भी व्यवस्था हो इस वार्त्ता के असफल होने से पूरा लाभ जिन्ना को मिला। जहाँ एक ओर देश विभाजन की समस्या अधिक चर्चा का विषय बनी वहीं दूसरी ओर गांधीजी के साथ वार्ता के बाद जिन्ना का महत्त्व अधिक बढ़ा। मुस्लिम बहुसंख्यक प्रांतों के नेताओं के समक्ष भी अब कोई विकल्प नहीं रहा और वे जिन्ना के नेतृत्व को स्वीकार करने पर सहमत हो गए। उनके लिए जिन्ना के बढ़ते हुए महत्त्व को रोकना कठिन होता गया।

बाल्कन योजना

माउंटबेटन ने मार्च, 1947 से मई, 1947 के बीच निर्णय किया कि कैबिनेट मिशन योजना अनियंत्रित हो चुकी है जिसका कोई विकल्प होना चाहिए। जिसके विकल्प के रूप में बाल्कन प्लान थी। इसमें यह प्रावधान किया गया था कि सत्ता हस्तांतरण से पहले संघ का निर्माण हो जाता है तो उसे सत्ता का हस्तांतरण कर दिया जाएगा। इसके साथ ही बंगाल एवं पंजाब को भी यह विकल्प दिया गया था कि वे अपने बंटवारे के लिए जनमत संग्रह का सहारा ले सकते हैं। इसी प्रकार इसमें देशी रियासतों को भी यह छूट प्रदान की गयी थी कि वे भारत में रहना चाहते हैं या पाकिस्तान में या स्वतंत्र। इसका विरोध जवाहर लाल नेहरू ने किया एवं इस पर तीखी प्रतिक्रिया व्यक्त की जिससे यह योजना त्याग दी गयी।

माउंटबेटन योजना

माउंटबेटन ने 3 जून, 1947 ई. को भारत विभाजन की योजना प्रकाशित कर दी। उसी दिन एटली ने इस योजना को इंग्लैंड की संसद में प्रस्तुत किया। इस योजना को डिकी बर्ड प्लान के नाम से भी जाना जाता है। इस योजना की निम्न विशेषताएं थीं:

- संविधान सभा द्वारा पारित संविधान भारत के उन भागों में नहीं लागू किया जाएगा जो इसे मानने के लिए तैयार न हों।
- बंगाल और पंजाब में हिंदू तथा मुसलमान बहुसंख्यक जिलों के प्रांतीय विधानसभा के सदस्यों की अलग-अलग बैठक बुलाई जाए और उसमें यदि कोई भी पक्ष प्रांत विभाजन चाहेगा तो विभाजन कर दिया जाएगा।
- उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रांत में जनमत द्वारा यह पता लगाया जाए कि वह भारत के किस भाग के साथ रहना चाहेगा।
- असम के सिलहट जिले में भी इसी प्रकार जनमत द्वारा निर्णय कराया जाएगा।
- भारतीय नरेशों के प्रति पुरानी नीति रहेगी कि पारामाउंटसी के अधिकार वापस लौटा दिये जाएंगे।

इस योजना को कांग्रेस तथा मुस्लिम लीग दोनों ने स्वीकार कर लिया और देश विभाजन की तैयारी आरंभ हो गई। बंगाल, पंजाब में जिलों के विभाजन तथा सीमा निर्धारण का कार्य एक कमीशन को सौंपा गया जिसकी अध्यक्षता रेडक्लिफ ने की।

उपरोक्त योजना को पर एक विधेयक तैयार किया गया जिसे इंग्लैंड की संसद ने 16 जुलाई, 1947 ई. को पास कर दिया। इसके अनुसार देश को 15 अगस्त, 1947 ई. को दो डोमिनियनों-भारत और पाकिस्तान-में बांट दिया गया। दोनों डोमिनियनों को पूरी स्वतंत्रता तथा प्रभुसत्ता सौंप दी गई।

प्रमुख विचार

1. अधिकारिक एकजुट बंगाल अपने-आप में शक्ति है। बंगाल अगर विभाजित हो तो सभी भागों की दिशाएं अलग-अलग होंगी।
   - रिसले
2. जब तक स्कूलों और कॉलेजों में इतिहास की पाठयपुस्तकों द्वारा अत्यंत विकृत इतिहास पढ़ाया जाता है तब तक सांप्रदायिक सद्भाव स्थायी रूप में स्थापित नहीं हो सकता था।
   - गांधी
3. वह समय आ गया है जब सम्मान के प्रतीक अपमान अपने बेमेल संदर्भ में हमारी शर्म को उजागर करते हैं और मैं, जहां तक

मेरा सवाल है, सभी विशिष्ट उपाधियों से रहित होकर अपने उन देशवासियों के साथ खड़े होना चाहता हूं जो अपनी तथाकथित क्षुद्रता के कारण मानव जीवन के अयोग्य अपमान को सहने के लिए बाध्य हो सकते हैं। - **टैगोर**

4. जिस समय जनता का उत्साह अपनी चरम सीमा को छूने वाला था, उस समय पीछे हट जाने का आदेश देना राष्ट्रीय अनर्थ से कम नहीं था। - **सुभाषचंद्र बोस**
5. राजनीतिक और आर्थिक दृष्टि से भारत पहले जितना असहाय था, उससे कहीं अधिक उसे असहाय ब्रिटेन के साथ संबंध ने बना दिया है। - **गांधी**
6. भारत में संघर्ष तब तक जारी रहेगा जब तक कि मुट्ठी भर शोषक अपने स्वार्थों के लिए साधारण जनता की मेहनत का शोषण करते रहेंगे। - **भगतसिंह**
7. भारत में ब्रिटिश शासन ने इस देश को नैतिक, भौतिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक विनाश के कगार तक पहुंचा दिया है। मैं इस शासन को एक अभिशाप मानता हूं। - **गांधी**
8. हमारा संघर्ष वास्तव में स्वाधीनता के एक और बड़े संघर्ष का भाग था, और जो शक्तियां हमें प्रेरित कर रही थीं वे पूरी दुनिया में लाखों दूसरे लोगों को भी प्रेरित कर रही थीं तथा कार्यक्षेत्र में ला रही थीं। संकट की स्थिति में पूंजीवाद ने फासीवाद का रूप लिया। - **जवाहरलाल नेहरू**
9. भाग्य का चक्र किसी न किसी दिन अंग्रेज जाति को बाध्य करेगा कि वह अपने भारतीय साम्राज्य से हाथ धो ले। - **टैगोर**
10. अधिक से अधिक इससे पाखण्ड और देशद्रोह को बढ़ावा मिला है। कुछ लोगों को देशभक्ति के नाम पर व्यापार करने का अवसर मिला। - **लाला लाजपतराय**
11. मैं अंग्रेजों का राजभक्त हूं क्योंकि मेरे लिए अंग्रेजी साम्राज्य के प्रति राजभक्ति वास्तव में अपने देश और उसके वासियों के प्रति राजभक्ति दोनों अभिन्न हैं। मैं अंग्रेजों के प्रति राजभक्त हूं क्योंकि मैं स्वशासन को प्यार करता हूँ। - **बिपिनचन्द्र पाल**
12. हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि हम देश की उन्नति के उस चरण पर हैं जहां हमारी उपलब्धियां थोड़ी ही होंगी और हमारी निराशाएं अधिक और कठोर। - **गोखले**
13. इंग्लैंड को भारतीय सरकार की नीति निर्माण का अधिकार छोड़ देना चाहिए और एक विदेशी सरकार को जो कानून चाहे बना सकने का अथवा अपनी इच्छा से जैसा चाहे शासन करे, यह अधिकार त्याग देना चाहिए। - **बिपिनचन्द्र पाल**
14. राजनीतिक स्वतन्त्रता, एक राष्ट्र का जीवन श्वास है। बिना राजनीतिक स्वतन्त्रता के सामाजिक तथा शैक्षणिक सुधार, औद्योगिक प्रसार, एक जाति की नैतिक उन्नति इत्यादि की बात सोचना मूर्खता की चरम सीमा है। - **अरविन्द घोष**
15. जैसे दास की आत्मा नहीं होती उसी प्रकार दास जाति की कोई आत्मा नहीं होती। और आत्मा के बिना मनुष्य केवल एक पशु है। इसलिए एक देश के लिए स्वराज्य परम आवश्यक है और सुधार अथवा उत्तम राज्य इसके विकल्प नहीं हो सकते। - **लाजपतराय**
16. भारत में अंग्रेजी शासन की सार्थकता यह है कि बड़े पैमाने पर, नागरिक और सार्वजनिक क्रियाकलाप के क्षेत्र में, राजनीतिक शिक्षा देना इसका दैवी लक्ष्य और विधान है और यह इसके लिए सुयोग्य भी है। - **राणाडे**
17. हमें मर्दों की तरह खुलकर कहना चाहिए कि हम अपनी मज्जा तक राजभक्त हैं, हमें अंग्रेजी राज्य से हुए फायदों का ज्ञान है। - **दादाभाई नौरोजी**
18. हिंदू सर्वथा विशिष्ट हैं। आध्यात्मिक और शाश्वत जीवन के बारे में उनकी सहज, अंतर्जात चेतना ने उनके चरित्र को सजाया-संवारा है और उनके समस्त इतिहास को रूप और रंग प्रदान किया है। - **बिपिन चन्द्र पाल**
19. सारे धार्मिक और सांप्रदायिक मतभेद के बावजूद हम स्वदेशी आंदोलन के माध्यम से एकताबद्ध हो सकेंगे। मेरे ख्याल से, स्वदेशी को सारे संयुक्त भारत का सम्मिलित धर्म होना चाहिए। - **बिपिन चन्द्र पाल**

DISCOVERY

20. मैं सम्राट का प्रधानमंत्री इसलिए नहीं बना हूँ कि ब्रिटिश साम्राज्य के अवसान की अध्यक्षता करूँ। - **चर्चिल**

21. यदि भारतीय दल इसे अस्वीकार कर देते हैं तो दुनिया के सामने हमारी ईमानदारी सिद्ध हो जाएगी। - **चर्चिल**

22. इस सुव्यवस्थित अनुशासनपूर्ण अराजकता को जाना ही होगा, और यदि इसके परिणामस्वरूप पूर्ण अव्यवस्था की स्थिति उत्पन्न होती है तो मैं यह खतरा उठाने के लिए तैयार हूँ। - **गाँधी**

23. स्वाधीनता की इच्छा एवं प्रयास करनेवाला प्रत्येक भारतीय स्वयं अपना मार्गदर्शक बने प्रत्येक भारतीय अपने-आपको स्वाधीन समझे केवल जेल जाने से ही काम नहीं चलेगा। - **गाँधी**

24. ऊपर से देखने पर वे फासीवाद-विरोधी और युद्ध समर्थक प्रतीत होते हैं किंतु भीतर से वे साम्राज्यवाद विरोधी हैं, और उनकी शस्त्रों की माँग का इन दोनों में से किसी भी विचारधारा से संबंध हो सकता है। - **लिनलिथगो**

25. शायद ही कोई ऐसा मामला रहा हो जिसमें भारतीय जनता ने इतनी अधिक रुचि या कहना चाहिए कि सहानुभूति दिखाई हो। यह विशेष प्रकार की सहानुभूति सांप्रदायिक सीमाओं को पार कर गई थी। - **(आजाद हिन्द फौज मुकद्दमों के बारे में)**

26. हिंदुओं और मुसलमानों को संवैधानिक मोर्चे की तुलना में सड़क की बाधाओं के स्तर पर एक करना कहीं सरल है। - **अरूणा आसफ अली**

27. जन आंदोलन या क्रांति से बचने की आवश्यकता है जिसे आरंभ करना कांग्रेस के हाथ में है, और जिसे हमें विश्वास नहीं है कि हम नियंत्रित कर सकेंगे। - **वेवेल**

28. लड़ाई करने से अच्छा हम यही समझते हैं कि हम उन्हें पाकिस्तान ले लेने दें, शर्त यह है कि आप पंजाब और बंगाल का न्यायपूर्ण बँटवारा होने दें। - **कृपलानी**

मॉडल उत्तर

प्रश्न : असहयोग आंदोलन ने राष्ट्रीय आंदोलन को एक नई दिशा और ऊर्जा प्रदान की। स्पष्ट कीजिए (250 शब्द) 2008.

उत्तर : गांधीजी के भारतीय राजनीति में प्रवेश के बाद असहयोग आंदोलन पहला राष्ट्रवादी आंदोलन था। यह दक्षिण अफ्रीका में उनके संचित राजनीतिक अनुभवों एवं भारतीय जनता के बीच लगातार कार्यरत रहने की उनकी अपनी राजनीतिक प्रविधि का पहला सशक्त मंचीय प्रयोग था। असहयोग के पूर्व खिलाफत आंदोलन में उनकी भागीदारी से हिंदू-मुस्लिम एकता का जो वातावरण बना, उसने असहयोग आंदोलन को व्यापक सामाजिक आधार प्रदान किया। असहयोग आंदोलन के दौरान हिंदू-मुस्लिम जनता में अपूर्व उत्साह एवं सहयोग का माहौल था। इस आंदोलन के दौरान खिलाफतियों एवं असहयोगियों के बीच फर्क करना ब्रिटिश सरकार के लिए मुश्किल हो गया। कुछ समय तक तो ऐसा प्रतीत होने लगा कि अंग्रेजों की बांटो और राज करो की नीति असफल हो गई है।

किसान, मजदूर, बुद्धिजीवी, युवा वर्ग एवं महिलाओं ने भी इस आंदोलन में सक्रिय भूमिका निभाई। देश भर में व्यापक पैमाने पर विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार के साथ-साथ सरकारी अदालतों, अंग्रेजों द्वारा संचालित स्कूल-कॉलेजों, सरकारी सेवाओं एवं उपाधियों का भी बहिष्कार किया गया। गुजरात, काशी एवं बिहार में राष्ट्रीय शिक्षण संस्थाएँ स्थापित की गई। विदेशी वस्त्रों एवं अन्य वस्तुओं का बहिष्कार किया गया। स्वदेशी वस्तुओं एवं खादी के उपयोग को प्रमुखता दी गई। नारी एवं युवाओं की बड़ी संख्या में भागीदारी इस आंदोलन की सबसे बड़ी उपलब्धि थी। इसने देश के सभी वर्गों में राष्ट्रीयता की भावना का अभूतपूर्व संचार कर दिया। इससे देशी उद्योग एवं देशी श्रम को भी बढ़ावा मिला।

इस प्रकार, इस आंदोलन से भारत के स्वाधीनता संग्राम को एक नई दिशा और ऊर्जा तो प्राप्त हुई ही इस आंदोलन के दौरान देश में हिंदू, मुसलमान, सिक्ख एक मंच पर आए। विभिन्न समुदायों में एक साथ काम करने का जज्बा उत्पन्न हुआ। स्वतंत्रता प्राप्ति हेतु जनमानस का एक सूत्र में बंधना तात्कालिक परिस्थितियों में एक बड़ी उपलब्धि थी।

प्रश्न : क्या आपके विचार में खिलाफत आंदोलन को महात्मा गांधी के समर्थन ने उनकी धर्मनिरपेक्ष साख को बट्टा लगा दिया था? अपना तर्क प्रस्तुत कीजिए।(250 शब्द) 2007

उत्तर : भारत में खिलाफत आंदोलन मूलत: एक धार्मिक विषय को लेकर हुआ। इसका मुख्य कारण तुर्की के मुस्लिम खलीफा के प्रति ब्रिटेन के असम्मानजनक व्यवहार एवं उसके राज्य के ब्रिटिश साम्राज्य में मिलाए जाने के कारण पूरे मुस्लिम जगत में व्याप्त असंतोष था। उपनिवेशवादी इतिहासकार इसे एक धार्मिक आंदोलन की संज्ञा देते हैं। इस आंदोलन में गांधीजी की भगीदारी को उन्होंने उनकी धर्मनिरपेक्षता के प्रतिकूल बताया। गांधीजी ने इस आंदोलन में मुस्लिम नेताओं के साथ शिरकत की । मस्जिद की अजानों से लोगों को संबोधित किया। यहाँ तक कि। खिलाफत की बैठक की अध्यक्षता भी की।

यह सही है कि भारत में खिलाफत का आंदोलन एक धार्मिक विषय को लेकर आरंभ हुआ। पर इस आंदोलन का चरित्र धार्मिक नहीं बल्कि राजनीतिक था। गांधीजी तुर्की के खलीफा के साथ अंग्रेजों के व्यवहार को गलत मानते थे। उन्होंने सेवर्स की संधि की आलोचना की एवं अंग्रेजों से खलीफा के अधिकार वापस किए जाने की मांग भी की। जब ब्रिटिश सरकार ने इन मांगों को अस्वीकार कर दिया तो गांधीजी ने खिलाफत के आंदोलन का समर्थन किया। अंग्रेजों के खिलाफ संघर्ष का उचित समय मानते हुए उन्होंने सभी भारतवासियों एवं कांग्रेस को भी आंदोलन में मुसलमानों का साथ देने का आह्वान किया। गांधीजी के आह्वान के कारण कांग्रेस और हिंदू जनता भी इसमें शामिल हो गई। इससे आंदोलन ने व्यापक रूप धारण कर लिया। भारतीय जनता एवं कांग्रेस को इस आंदोलन में आह्वान के पीछे गांधी के दो मुख्य उद्देश्य थे- एक तो, वे हिंदू और मुसलमानों को संघर्ष के एक मंच पर लाना चाहते थे ताकि राष्ट्रीय आंदोलन को व्यापक रूप दिया जा सके। दूसरे, इस मसले पर तुर्की के लिए भारतीय जन समर्थन पैदा कर वे राष्ट्रीय आंदोलन में अन्य देशों का समर्थन भी प्राप्त करना चाहते थे। गांधी इन दोनों उद्देश्यों में सफल रहे।

इस प्रकार खिलाफत आंदोलन का समर्थन कर गांधी ने अपनी धर्मनिरपेक्ष एवं राष्ट्रीय छवि का विस्तार किया। इस आंदोलन के बाद गांधी की अंतरराष्ट्रीय स्वीकृति बढ़ने लगी।

प्रश्न : कांग्रेस ने देश के विभाजन को आखिरकार क्यों और किस प्रकार स्वीकार किया था। (250 शब्द) 2005.

उत्तर : भारत में जिस सांप्रदायिक एवं विभाजनकारी राजनीति की नींव 1906 में लीग की स्थापना से पड़ी थी, उसकी स्वाभाविक परिणति थी-देश का विभाजन। 1916 में लीग-कांग्रेस समझौता एवं खिलाफत-असहयोग की सम्मिलित रणनीति के बावजूद कांग्रेस और मुस्लिम लीग में स्थायी समझौता नहीं हो सका। नेहरू रिपोर्ट के प्रकाशन एवं जिन्ना के 14 सूत्री मांग के कारण यह विभाजन एकदम स्पष्ट हो गया। 1937 के चुनाव में लीग की हार ने उसे सांप्रदायिक मोर्चे पर और भी हिंसक बना दिया, जिसकी परिणति 1940 में अलग पाकिस्तान की मांग के रूप में हुई। 1946 के चुनाव में लीग को बड़ी सफलता मिली, खासकर मुस्लिम बहुल क्षेत्रों में। इससे लीग का जनाधार काफी विस्तृत हो गया।

अंतरिम सरकार की विफलता एवं मुस्लिम बहुल प्रांतों में बढ़ती हिंसा को देखते हुए कांग्रेस के लिए लीग की मांग की उपेक्षा अब संभव नहीं थी। कांग्रेस इस राजनीतिक वास्तविकता को स्वीकार करने लगी थी। कांग्रेस देसी रियासतों के स्वतंत्र रहने के प्रस्ताव से ही खुश नहीं थी। वह किसी भी स्थिति में रियासतों का एकीकरण चाहती थी।

माउंटबेटन प्रस्ताव में देश के विभाजन के साथ इस बात को स्वीकार किया गया था कि रियासतों को भारत या पाकिस्तान में से किसी एक के साथ विलय करना होगा। यह ऐसा प्रस्ताव था जो भारत को कई टुकड़े होने से बचा सकता था। अत: कांग्रेस ने व्यापक राष्ट्रीय हित में विभाजन को स्वीकार कर लिया।

गांधीजी यह भी मानते थे कि तात्कालिक आवश्यकता के रूप में विभाजन को स्वीकार कर लिया जाए, पर कांग्रेस एवं अन्य राष्ट्रीय नेता यह प्रयास करें कि अंग्रेजों के भारत छोड़ने के बाद भारत और पाकिस्तान का आपस में विलय हो जाए। पर गांधीजी की यह धारणा निर्मूल साबित हुई। एक बार विभाजन का मतलब था-हमेशा के लिए विभाजन। पाकिस्तान के बनने के बाद भारत-पाकिस्तान का विलय तो दूर, एकता की बात करना भी असंभव हो गया। इस अर्थ में देश का विभाजन कांग्रेस की सबसे बड़ी रणनीतिक विफलता थी।

प्रश्न : ब्रिटेन में भारतीय स्व-शासन आन्दोलन के विकास का निरूपण कीजिए। (2002) (150 शब्दों में)

उत्तर : दादाभाई नौरोजी ब्रिटेन में भारतीय पक्ष का प्रचार-प्रसार करने में जुटे रहे। इस कार्य में ए. ओ. ह्यूम का भी महत्त्वपूर्ण योगदान रहा। नौरोजी ने भारत को स्वशासन और दूसरे ब्रिटिश उपनिवेशों की तरह का दर्जा प्रदान किए जाने की माँग को 1904 में अन्तर्राष्ट्रीय सोशलिस्ट कांग्रेस में उठाया। भारत में ही नहीं ब्रिटेन में भी 1916 में एक भारतीय होमरूल लीग की स्थापना की गई। भारत के पक्ष में व्यापक प्रचार करने के साथ-साथ ब्रिटेन में भी शाखाएँ खोलना तथा एक स्वतंत्र राजनीतिक दल के रूप में लीग का विकास करना इसका लक्ष्य घोषित किया गया। भारत की माँगों को स्पष्ट करने के लिए इसके द्वारा पर्चे छपवाकर बाँटे गए तथा जिनमें स्वराज्य के समर्थन में तर्क दिए जाते थे। साथ-साथ जनसभाओं व भाषणों का क्रम भी जारी रहा। जब भी किसी मुद्दे को लेकर देशव्यापी प्रतिरोध का आह्वान किया जाता तो लीग की सारी शाखाएँ इसका समर्थन करती। इसके माध्यम से ब्रिटेन के राजनीतिक दलों एवं नेताओं को भारतीय समस्या से परिचित कराने का प्रयास किया गया। पुनः ब्रिटिश जनसमर्थन का भी प्रयास किया गया।

प्रश्न : भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में नरमपंथी और चरमपंथी विभाजन के सैद्धान्तिक आधार को स्पष्ट कीजिए। (2003) (150 शब्दों में)

उत्तर : राजनीतिक विचारधारा, लक्ष्य एवं साधन की दृष्टि से नरमपंथी एवं गरमपंथी विचारधाराओं में प्रारंभ से ही सैद्धान्तिक अंतर था जो 1907 में सूरत के विभाजन का मुख्य कारण सिद्ध हुआ। यद्यपि इन दोनों विचारधाराओं का एक ही उद्देश्य था-स्वशासन की प्राप्ति। लेकिन नरमपंथी क्रमिक राजनीतिक सुधारों के माध्यम से ब्रिटिश शासन की छत्रछाया में ही प्रतिनिध्यात्मक संसदीय संस्थाओं की स्थापना करने के पक्ष में थे, जबकि गरमपंथी ब्रिटिश शासन को किसी भी रूप में बनाए रखने के विरुद्ध थे। वे भारतीयता पर आधारित स्वराज्य के पक्ष में थे। उनका अंग्रेजों की न्यायप्रियता में जरा भी विश्वास नहीं था। नरमपंथी केवल संवैधानिक साधनों, प्रार्थना-पत्र, स्मृति-पत्र, भाषण देने, लेख लिखने एवं शिष्ट मंडल भेजने को ही उचित समझते थे इसके विपरीत गरमपंथी स्वदेशी माल का प्रचार, विदेशी माल का बहिष्कार, स्वदेशी संस्थाओं के निर्माण इत्यादि साधनों के प्रयोग पर जोर देते थे। नरमपंथी ब्रिटेन तथा भारत के हित में मूलभूत विरोध नहीं मानते थे जबकि गरमपंथियों की धारणा थी कि ब्रिटेन और भारत के हित एक-दूसरे के नितांत विपरीत हैं। अन्त में नरमपंथी जहां पाश्चात्य शिक्षा में विश्वास करते थे वहीं गरमपंथी विचारधारा पाश्चात्य शिक्षा की विरोधी व भारतीय शिक्षा प्रणाली की समर्थक थी।

प्रश्न : 1905 में बंगाल का विभाजन किस कारण हुआ? (2004) (150 शब्दों में)

उत्तर : बंगाल का विभाजन कर्जन की साम्राज्यवादी तथा "बाँटो और राज करो" की नीति का परिणाम था। बंगाल विभाजन करने से पूर्व इसकी आवश्यकता के लिए अनेक तर्क दिए गए जिनमें, बंगाल प्रान्त की जनसंख्या व क्षेत्रफल का अधिक होना, यातायात व्यवस्था की कमी, मार्गों की अपर्याप्त सुरक्षा व्यवस्था, किसानों पर जमीदारों द्वारा किया जा रहा आर्थिक शोषण इत्यादि प्रमुख थे। तात्कालिक सरकार द्वारा बंगाल-विभाजन का मुख्य कारण प्रशासनिक न होकर राजनीतिक था। बंगाल भारतीय राष्ट्रीय चेतना तथा राष्ट्रीय गतिविधियों का केन्द्र बनता जा रहा था। ब्रिटिश सरकार ने इसी जुझारू चेतना पर आघात करने के उद्देश्य से बंगाल के विभाजन का निर्णय लिया। इसके लिए लार्ड कर्जन कलकत्ता व अन्य केन्द्रों को नष्ट करना चाहता था। कलकत्ता से ही अधिकतर समाचार-पत्र निकलते थे जिससे लोगों में विशेषकर शिक्षित वर्गों में राष्ट्रीय भावना उदित हो रही थी। इसके साथ-साथ बंगाल विभाजन के पीछे एक धार्मिक आधार भी कार्य कर रहा था जिसके अन्तर्गत ब्रिटिश सरकार हिन्दू-मुस्लिम एकता को तोड़ना व राष्ट्रीय आन्दोलन को कमजोर करना चाहती थी। स्पष्ट रूप से यह कहा जा सकता है कि बंगाल विभाजन का उद्देश्य सिर्फ यह नहीं था कि बंगालवासियों को दो प्रशासनिक हिस्सों में बाँटकर उनके प्रभाव को कम किया जाए। ब्रिटिश सरकार का उद्देश्य मूल बंगाल में बंगालियों की आबादी कम कर उन्हें अल्पसंख्यक बनाना था।

प्रश्न : स्वदेशी आन्दोलन कहाँ तक "बायकाट" (बहिष्कार) से संबंधित था? आंदोलन में जन सहभागिता के स्वरूप का विश्लेषण कीजिए।(1992) (250 शब्दों में)

उत्तर : स्वदेशी आंदोलन बंगाल विभाजन के विरोध में उत्पन्न हुआ था। बंगाल में बढ़ती राष्ट्रीय चेतना व राष्ट्रीय गतिविधियों को रोकने के उद्देश्य से व राष्ट्रीय आन्दोलन को कमजोर करने के उद्देश्य से अंग्रेजों द्वारा बंगाल का विभाजन कर दिया गया। परिणामस्वरू

प पूरे बंगाल में विरोध की लहर दौड़ गई। इसका प्रभाव धीरे-धीरे पूरे भारतवर्ष में फैल गया। आंदोलन के अन्तर्गत स्वदेशी वस्तुओं के प्रयोग व विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार पर बल दिया जाने लगा। जगह-जगह स्वदेशी वस्तुओं को अपनाया गया तथा घर-घर जाकर बहिष्कार का नारा बुलंद किया गया। इस आंदोलन के अन्तर्गत विरोध के नए-नए तरीके अपनाए गए। जनता द्वारा सामूहिक रूप से स्वदेशी का प्रयोग व विदेशी माल का बहिष्कार किया गया। एक ओर सार्वजनिक स्थानों पर विदेशी कपड़ों की होली जलाई गई तो दूसरी ओर स्वदेशी वस्तुओं के उत्पादन व बिक्री पर जोर दिया गया।

बहिष्कार के अन्तर्गत केवल विदेशी कपड़े का ही बहिष्कार नहीं, बल्कि सरकारी स्कूलों, अदालतों, उपाधियों, सरकारी नौकरियों का बहिष्कार इसमें शामिल था। यह बहिष्कार व्यापक रूप में जनता में फैल गया। धोबियों व नाइयों ने विदेशी माल का इस्तेमाल करने वालों का काम न करने का प्रण लिया, साथ ही जनता ने ऐसे लोगों से कोई संबंध न रखने का निश्चय भी किया। गाँवों के सामाजिक व आर्थिक पुनरूत्थान हेतु रचनात्मक कार्य जैसे सामाजिक सुधार लागू करना, जाति प्रभुत्व, बाल-विवाह, दहेज, शराबखोरी जैसी सामाजिक कुरीतियों के खिलाफ भी संघर्ष को इसमें शामिल किया गया। आंदोलन ने आत्मनिर्भरता एवं आत्म शक्ति का नारा दिया। आत्मनिर्भरता के लिए राष्ट्रीय शिक्षा की आवश्यकता महसूस की गई। जिसके तहत बंगाल में नेशनल कॉलेज की स्थापना की गई। तकनीकी शिक्षा के लिए बंगाल इंस्टीट्यूट की स्थापना की गई। बहुत थोड़े समय में ही पूरे देश में अनेक राष्ट्रीय विद्यालयों की स्थापना हो गई। अगस्त, 1906 में राष्ट्रीय शिक्षा परिषद् का गठन हुआ। शिक्षा का माध्यम देशी भाषाओं को बनाया गया। देश में कल-कारखानों की स्थापना होने लगी। इनमें कपड़ा मिलें, साबुन, माचिस, चर्म उद्योग आदि प्रमुख थे। जनता का एक बहुत बड़ा हिस्सा पहली बार सक्रिय राष्ट्रवादी राजनीति में भागीदारी बना। राष्ट्रीय आन्दोलन का सामाजिक दायरा काफी फैला और इसमें कुछ जमींदार, शहरी निम्न मध्यम वर्ग के लोग तथा छात्र शामिल हुए, पहली बार औरतें घर से बाहर निकली, प्रदर्शन में हिस्सा लिया व धरने पर बैठी।

प्रश्न : प्रारम्भिक भारतीय राष्ट्रीय नेतृत्व के कार्य आर्थिक राष्ट्रीयता में किस प्रकार योगदान प्रदर्शित करते हैं? (1990) (250 शब्दों में)

उत्तर : सामान्यत: प्रारम्भिक दौर में राष्ट्रवादियों का सबसे महत्त्वपूर्ण राजनीतिक कार्य उनका साम्राज्यवाद का आर्थिक विवेचन करना था। उन्होंने उस वक्त ब्रिटेन द्वारा भारत के आर्थिक शोषण के तीनों रूपों यथा, व्यापार, उद्योग तथा वित्त को पहचान लिया था। वे यह अच्छी तरह समझ रहे थे कि ब्रिटेन की आर्थिक साम्राज्यवाद की नीति का उद्देश्य भारतीय अर्थव्यवस्था को ब्रिटिश अर्थव्यवस्था के अधीन रखना है। इन राष्ट्रवादियों ने सरकारी नीतियों को भारतीय गरीबी के लिए उत्तरदायी माना। दादाभाई नौरोजी ने अपनी पुस्तक के आर्थिक दुष्परिणामों का विवेचन किया।

धन निष्कासन के परिणामों की गंभीरता को समझकर राष्ट्रवादियों ने सरकारी आर्थिक नीतियों में बदलाव की मांग की। भारत की संपदा के निष्कासन पर रोक लगाने, किसानों पर करों का बोझ कम करने, विदेशी पूंजी के भारत में आवागमन पर रोक लगाने, भारतीय उद्योगों को विकसित करने की मांग सरकार के समक्ष रखी गई। कांग्रेस ने बागान मजदूरों की अवस्था सुधारने तथा नमक कर समाप्त करने की मांग की। कांग्रेस द्वारा सरकारी आर्थिक नीतियों से क्षुब्ध होकर एवं भारतीय उद्योगों को विकसित करने के उद्देश्य से स्वदेशी विचारधारा को विकसित किया गया। भारत में जगह-जगह विदेशी कपड़ों की होली जलाई गई आर्थिक इतिहास तथा स्वदेशी को अपनाया गया। कांग्रेस द्वारा सरकार के समक्ष सेना और प्रशासन पर होने वाले अनावश्यक खर्चों में कमी लाने का प्रस्ताव रखा गया। कांग्रेस ने सरकारी आर्थिक नीतियों की आलोचना कर उन्हें सबके सामने रखकर देश में राष्ट्रीयता की भावना को जागृत किया, जिससे राष्ट्रीय आन्दोलन के लिए एक भूमिका तैयार हो रही थी। अत: इस प्रकार प्रारंभिक राष्ट्रीय नेतृत्व के कार्य आर्थिक विवेचन से प्रेरित थे। इन्हीं कार्यों के परिणामस्वरूप देश में स्वदेशी को अपनाया गया तथा विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार किया गया। जिसके कारण ही भारत में आत्मनिर्भरता एवं आत्मशांति की भावना प्रबल रूप मे विकसित हो रही थी।

प्रश्न : "1916 के लखनऊ समझौते पर बिना इसके परिणामों पर विचार किए हस्ताक्षर कर दिए गए।" व्याख्या कीजिए। (1993) (150 शब्दों में)

उत्तर : 1916 में लखनऊ में कांग्रेस व मुस्लिम लीग का अधिवेशन साथ-साथ हुआ तथा कांग्रेस-लीग में एक समझौता भी हुआ जो

"लखनऊ पैक्ट" के नाम से विख्यात है। समझौते के अनुसार कांग्रेस ने मुसलमानों के लिए सांप्रदायिक निर्वाचन प्रणाली तथा उनके अधीन प्रतिनिधित्व की मांग को स्वीकार लिया। विभिन्न प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाओं में निर्वाचित भारतीय सदस्यों की संख्या के निश्चित भाग मुसलमानों के लिए निश्चित कर दिए गए। संभवत: समझौता करते समय तत्कालीन लाभ पर ही ध्यान दिया गया था तथा इसके दूरगामी परिणामों को अनदेखा किया गया। ऐसा माना गया कि इस समझौते द्वारा हिंदू -मुस्लिम एकता की स्थापना की गई थी। लेकिन साम्प्रदायिक निर्वाचन को आधार मानकर देश को एकता के सूत्र में बांधा जा सकेगा, यह सोचना बड़ी भारी भूल थी। इसने ऐसा स्वीकार करके जाने-अनजाने ही देश के विभाजन की भूमिका तैयार की थी। इस समझौते से कुछ समय के लिए हिंदू-मुस्लिम एकता स्थापित हो गई, लेकिन यह समझौता अंग्रेजों की "फूट डालो और राज करो" की नीति की सफलता थी। जिसका परिणाम भारत का भारत व पाकिस्तान नामक दो अलग-अलग राष्ट्रों में विभाजन हो जाना था। इस समझौते द्वारा राजनीति में धर्म का प्रवेश सहज हो गया और इसने भी राजनीतिक परिदृश्य पर प्रभाव डाला।

प्रश्न : 1917 के चंपारण सत्याग्रह तक भारतीय राजनीति में हुए गांधीजी के उद्‌भव को रेखांकित कीजिए। उनके द्वारा प्रतिपादित सत्याग्रह का आधारभूत दर्शन क्या था? (1994) (250 शब्दों में)

उत्तर : इग्लैंड से बैरिस्टरी की पढ़ाई खत्म करने के बाद गांधीजी भारत आए। यहां से 1893 में अफ्रीका गए और वहां पर अपने 20 वर्ष के प्रवास के दौरान ब्रिटिश सरकार की रंगभेद नीति के विरुद्ध लड़ाई लड़ते रहे। यहीं पर गांधीजी ने सर्वप्रथम सत्याग्रह आन्दोलन चलाया। जनवरी, 1915 में वे भारत आए। यहां वे गोपाल कृष्ण गोखले के सम्पर्क में आए व सक्रिय राजनीति से जुड़े।

1916 में गांधीजी ने अहमदाबाद में साबरमती आश्रम की स्थापना की। इस दौरान वे देश का दौरा करते रहे और अपने आश्रम को जमाने का कार्य करते रहे। इस समय "होमरूल आंदोलन" पूरे जोर पर था, लेकिन गांधीजी ने इसमें भाग नहीं लिया। वे तत्कालीन संघर्षों के तरीकों से असहमत थे। उनका मानना था कि संघर्षों का एकमात्र तरीका है सत्याग्रह। 1917 में गांधीजी ने बिहार में स्थित चम्पारण जिले में किसानों पर किए जा रहे अत्याचार के खिलाफ आन्दोलन चलाया। यहां नील के खेतों में कार्य करने वालों किसानों पर यूरोपीय निलहों द्वारा किए जा रहे अत्याचार के अन्तर्गत किसानों को अपनी भूमि के कम से कम 3/20 भाग पर नील की खेती करना व निलहों द्वारा तय कीमत पर बेचना पड़ता था। गांधीजी के प्रयत्नों के फलस्वरूप सरकार द्वारा एक आयोग गठित किया गया जिसकी सिफारिश के फलस्वरूप किसानों को उनका हक वापस दिलवाया गया। चम्पारण सत्याग्रह में गांधीजी ने अनुचित आदेश की अवज्ञा व शांतिपूर्ण तरीके से प्रतिरोध की नीति का प्रयोग किया, जिसके परिणामस्वरूप चम्पारण आन्दोलन सफल हो सका।

गांधीजी ने साध्य तथा साधन की पवित्रता पर बल दिया। उनके अनुसार सत्याग्रह अहिंसा का मार्ग है। उसमें हिंसा को कोई स्थान प्राप्त नहीं है। सत्याग्रह के द्वारा ही भारत की आर्थिक, राजनीतिक एवं आध्यात्मिक मुक्ति संभव है। गांधीजी के सत्याग्रह को यथार्थ शिक्षण की प्रक्रिया कहा जा सकता है। सत्याग्रह का प्रयोग परिणामों की परवाह किए बिना भी किया जा सकता है। उनके अनुसार सत्याग्रह में पराजय का कोई स्थान नहीं होता। सत्याग्रह का मार्ग अपनाने के लिए धर्म में पूर्ण आस्था होनी चाहिए। सत्याग्रह में तर्क अथवा विचार के स्थान पर विश्वास को अधिक महत्त्व दिया गया है। सत्याग्रह के अन्तर्गत गांधीजी ने अनुचित आदेशों की अवज्ञा, असहयोग, शांतिपूर्ण प्रतिरोध के तरीकों को अपनाने पर बल दिया।

प्रश्न : स्वराज पार्टी के प्रादुर्भाव का परिचय दीजिए। स्वराज्य-पार्टी का घोषणा पत्र क्या था? स्वराजवादियों की मांगे क्या थी? उन पर ब्रिटिश शासन की प्रतिक्रिया क्या थी? (1990) (250 शब्दों में)

उत्तर : महात्मा गांधी द्वारा अचानक असहयोग आंदोलन स्थागित किए जाने से कांग्रेस के एक वर्ग में घोर निराशा व असंतोष फैल गया। कांग्रेस के भावी कार्यक्रमों के विषय में नेताओं में मतभेद पैदा हो गया। देशबंधु चितरंजन दास व मोतीलाल नेहरू कांग्रेस द्वारा सशक्त नीति अपनाए जाने का समर्थन कर रहे थे। वहीं दूसरी तरफ एक ऐसा वर्ग भी था जो कांग्रेस की नीति में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं चाहता था। दोनों दलों का विरोध स्पष्ट रूप से उभरकर 1922 में गया अधिवेशन में प्रकट हुआ। अधिवेशन में कौंसिल बनाने के प्रस्ताव पर दास व नेहरू का दल पराजित हो गया। परिणामस्वरूप इन्होंने कांग्रेस छोड़कर "कांग्रेस खिलाफत स्वराज पार्टी" स्थापित की। स्वराज पार्टी ने अपना एक घोषणा पत्र भी प्रकाशित किया। जिसमें हिन्दू-मुस्लिम एकता स्थापित करना, अस्पृश्यता उन्मूलन कार्यक्रम को आगे बढ़ाना, कृषक व मजदूरों के संघर्ष को गति देना, व्यापार-वाणिज्य का विकास करना, देशी उद्योगों को

संरक्षण देकर उन्हें आगे बढ़ाना इत्यादि लक्ष्यों को शामिल किया गया। स्वराज पार्टी ने 1919 के अधिनियम में परिवर्तन करके भारत में उत्तरदायी सरकार की स्थापना की मांग की तथा भारत के प्रतिनिधियों का एक सम्मेलन बुलाने को कहा। पहली बार इस पार्टी ने गोलमेज सम्मेलन का प्रस्ताव रखा। स्वराज दल ने भारत के सभी प्रतिनिधियों की गोलमेज परिषद् का आयोजन करने, जो अल्पसंख्यकों के अधिकारों एवं हितों का ध्यान रखते हुए एक विधान तैयार करे, की मांग की। वर्तमान व्यवस्थापिका को भंग कर एक नवीन व्यवस्थापिका के समक्ष यह योजना प्रस्तुत करने की मांग भी इनके द्वारा की गई।

सर मैल्कम हैली ने स्वराज दल की इन मांगों पर विचार करने का आश्वासन दिया, लेकिन दल हैली के आश्वासनों से संतुष्ट नहीं हो पाया। इसकी प्रतिक्रिया स्वरूप सदस्यों ने अनुदान मांगों को अस्वीकृत कर दिया व वित्त विधेयक भी पारित नहीं हो सका। 1919 के अधिनियम के क्रियान्वयन की जांच की स्वराज पार्टी की मांग के दृष्टिगत 1924 में सर मुडीमैन की अध्यक्षता में ''मुडीमैन रिफॉर्म कमेटी'' की स्थापना की गयी।

प्रश्न : स्वाधीनता एवं डोमिनियन पद पर जवाहर लाल नेहरू के विचारों का विश्लेषण कीजिए। लाहौर कांग्रेस में प्रतिपादित नीति में ये कहां तक प्रति-बिम्बित हुए? (1992) (150 शब्दों में)

उत्तर : दिसंबर, 1928 में मोतीलाल नेहरू की अध्यक्षता में सम्पन्न कांग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन में कांग्रेस ने नेहरू रिपोर्ट के अन्तर्गत डोमिनियन स्टेट्स के स्वरूप की सरकार की मांग का प्रस्ताव पारित किया। जवाहरलाल नेहरू इस प्रकार की डोमिनियन राज्य से संतुष्ट नहीं थे। नेहरू पूर्ण स्वाधीनता को कांग्रेस का लक्ष्य बनाना चाहते थे। नेहरू कांग्रेसियों से अपेक्षा रखते थे कि वे पूर्ण स्वराज के 'मद्रास प्रस्ताव' को क्रियान्वित करें। इसका परिणाम 1929 के कांग्रेस के लाहौर अधिवेशन में सामने आया। जवाहर लाल नेहरू की अध्यक्षता में सम्पन्न इस अधिवेशन में 'नेहरू रिपोर्ट' को स्वीकार नहीं किया गया।

डोमिनियन स्टेट्स के स्थान पर नेहरू ने 'पूर्ण स्वाधीनता' की मांग रखी। नेहरू ने यह बिलकुल स्पष्ट कर दिया कि उनका लक्ष्य केवल स्वाधीनता का लक्ष्य है, जिसका तात्पर्य है ब्रिटिश शासन के आधिपत्य और साम्राज्यवाद से पूर्ण स्वतंत्रता। नेहरू रिपोर्ट में ब्रिटिश सरकार को डोमिनियन स्टेट्स वाली सरकार देने के लिए दिया गया एक वर्ष का समय भी समाप्त हो चुका था। अत: 31 दिसंबर, 1929 की मध्य रात्रि को रावी नदी के तट पर जवाहर लाल नेहरू ने तिरंगा झंडा फहराया तथा 'स्वतंत्रता की घोषणा' का प्रस्ताव रखा। 26 जनवरी, 1930 को पूर्ण स्वतंत्रता दिवस मनाने की घोषणा भी की गई।

प्रश्न : मैकडोनाल्ड निर्णय क्या था? इसको किस प्रकार संशोधित किया गया तथा इसके क्या परिणाम हुए? (1993), (1996) (150 शब्दों में)

उत्तर : द्वितीय गोलमेज सम्मेलन के पश्चात् भारतीय अल्पसंख्यक समुदाय की समस्या का आपसी समझौते से हल न हो पाने के कारण ब्रिटिश प्रधानमंत्री रैम्जे मैकडोनाल्ड ने 14 अगस्त, 1932 को अपनी प्रसिद्ध घोषणा की, जिसे मैकडोनाल्ड निर्णय कहा जाता है। इस घोषणा के अनुसार अल्पसंख्यक तथा विशेष हितों वाले सम्प्रदाय मुसलमान, सिक्ख, दलित वर्ग, भारतीय ईसाई, एंग्लो इंडियन, यूरोपियन आदि की संख्या काफी बढ़ा दी गई तथा प्रत्येक के लिए कौंसिल में स्थान निर्धारित कर दिए गए। उनके प्रतिनिधियों के निर्वाचन के लिए भिन्न प्रणालियां अपनाई गईं। मैकडोनाल्ड निर्णय की योजना इस प्रकार बनाई गई कि वास्तविक उत्तरदायी शासन का विकास प्रान्तों में भी न हो सके।

गाँधीजी ने इस निर्णय के विरोध में मत प्रकट करते हुए मैकडोनाल्ड को पत्र लिखकर आमरण अनशन की सूचना दी, यदि दलितों के लिए पृथक्-निर्वाचन समाप्त नहीं किया गया। भारतीय नेता गाँधीजी के इस निर्णय से चिंतित हो उठे। मदन मोहन मालवीय, राजेन्द्र प्रसाद इत्यादि नेताओं ने अम्बेडकर के साथ समझौता वार्ता की जो 'पूना पैक्ट' के नाम से जानी गई। इस पैक्ट के अनुसार दलित वर्गों के अलग निर्वाचन की योजना समाप्त हो गई और सामान्य सीटों में ही उनके लिए आरक्षण की व्यवस्था की गई। साथ ही, दलितों के समुचित शैक्षणिक एवं आर्थिक विकास के लिए प्रयास करने की व्यवस्था की गई। इस समझौते के पश्चात् गाँधीजी द्वारा दलितों के उत्थान के लिए प्रयास आरंभ कर दिए गए। उनके द्वारा अस्पृश्यता निवारण के प्रयास भी किए गए। फलस्वरूप दलितों को एक राजनीतिक शक्ति प्राप्त हुई व उन्हें विकास के अवसर प्राप्त हुए।

प्रश्न : द्वितीय विश्व युद्ध के प्रति इंडियन नेशनल कांग्रेस का दृष्टिकोण क्या था? 'अगस्त प्रस्ताव' क्या था? वे कौन से कारक थे जिनके कारण ब्रिटिश शासन को अपनी निषेधात्मक नीति बदलकर क्रिप्स को भारत भेजना पड़ा? (1990) (250 शब्दों में)

उत्तर : द्वितीय विश्व युद्ध की घोषणा ने इंडियन नेशनल कांग्रेस को दुविधा में डाल दिया था क्योंकि अंतरराष्ट्रीय स्तर पर ब्रिटेन और उसके सहयोगियों के प्रति कांग्रेस की सहानुभूति थी और वह नहीं चाहती थी कि ब्रिटेन युद्ध में हार जाए। इस सहानुभूति का कारण कांग्रेस के मन में ब्रिटिश लोकतंत्र, स्वतंत्रता तथा संसदीय व्यवस्थाओं के प्रति आदर का भाव था और वे नाजियों और फासीवादियों को स्वतंत्रता और लोकतंत्र का दुश्मन मानते थे। कांग्रेस के दक्षिणपंथी एवं वामपंथी गुटों में स्पष्ट अंतर था। वामपंथी इस साम्राज्यवादी युद्ध को भारत के मुक्ति युद्ध में बदल देना चाहते थे लेकिन दक्षिणपंथी नेता इससे फायदा उठाकर, दबाव डालकर ब्रिटिश शासकों से ज्यादा से ज्यादा अधिकार प्राप्त कर लेना चाहते थे। युद्ध में ब्रिटेन की अर्थव्यवस्था बुरी तरह से प्रभावित हुई थी। उसे जर्मनी की बढ़ती शक्ति से खतरा महसूस होने लगा। ऐसी स्थिति में सरकार को भारत के समर्थन की आवश्यकता थी। सरकार यह भी जानती थी कि कांग्रेस कुछ आश्वासनों के साथ सरकार को सहयोग देने को तैयार भी थी। इसके तहत 8 अगस्त, 1940 को भारतीयों को संतुष्ट करने के लिए वायसराय लार्ड लिनलिथगो ने अपना 'अगस्त प्रस्ताव' प्रस्तुत किया। जिसमें भारत को औपनिवेशिक स्वराज्य देने, संवैधानिक कार्यकलापों में अल्पसंख्यकों की स्वीकृति का प्रावधान, गवर्नर जनरल की सलाहकार परिषद् का विस्तार कर उसमें अधिक संख्या में भारतीयों की नियुक्ति तथा युद्ध संबंधी विषयों पर सरकार को सलाह देने के लिए एक युद्ध सलाहकार समिति बनाई गई, जिसमें भारतीयों को शामिल करने का प्रावधान शामिल था।

कांग्रेस द्वारा 'अगस्त प्रस्ताव' के प्रावधानों को निराशाजनक व असंतोषजनक कह कर ठुकरा दिया गया तथा गाँधीजी द्वारा व्यक्तिगत सत्याग्रह आरंभ कर दिया गया। उधर, युद्ध में जापान की सफलताओं से ब्रिटिश सरकार चिंतित हो रही थी क्योंकि जापान की पूर्वी एशिया में विजयों से भारत के लिए खतरा अत्यधिक बढ़ गया था। साथ ही, कांग्रेस पार्टी इस बात पर बल दे रही थी। कि जब तक सरकार स्वतंत्रता प्रदान नहीं करती तब तक युद्ध संबंधी क्रियाकलापों में उससे सहयोग नहीं किया जाएगा। इन समस्त कारणों के चलते ब्रिटिश सरकार ने अपनी निषेधात्मक नीति को त्याग कर युद्ध में भारतीयों को सहयोग प्राप्त करने के लिए कुछ आश्वासनों के साथ सर स्टैफर्ड क्रिप्स को भारत भेजा।

प्रश्न : मंत्रिमंडल मिशन के क्या प्रस्ताव थे? इन प्रस्तावों पर कांग्रेस और लीग की प्रतिक्रियाओं का विश्लेषण कीजिए। (1999) (250 शब्दों में)

उत्तर : द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति के पश्चात् अंग्रेजी सरकार की स्थिति काफी नाजुक बन चुकी थी। वह किसी भी प्रकार भारतीयों को संतुष्ट रख अपना शासन बनाए रखना चाहती थी, परन्तु स्थिति उसके नियंत्रण से बाहर हो रही थी। वह भारतीय सेना, शासनतंत्र व पुलिस पर भी निर्भर नहीं रह सकती थी। समूचे भारत में श्रमिकों के आंदोलन हो रहे थे, देशी राज्यों की प्रजा भी विद्रोह परे उतारू हो गई थी। पुलिस ने भी दिल्ली व बिहार में हड़ताल की तथा बम्बई में नौ-सेना के विद्रोह से और भी भयंकर स्थिति उत्पन्न हो गई। 19 फरवरी, 1946 को ब्रिटिश प्रधानमंत्री एटली ने मंत्रिमंडल मिशन (कैबिनेट मिशन) को भारत की समस्याओं के लिए भारत भेजा। यह मिशन भारत के लिए अति महत्त्वपूर्ण था क्योंकि इस मिशन ने पहली बार भारत के लिए स्वाधीनता के प्रस्ताव को स्वीकार किया।

व्यापक विचार विमर्श के पश्चात् मिशन ने 16 अक्टूबर, 1946 को अपनी योजना प्रस्तुत की, जिसमें भारत के लिए कुछ प्रस्ताव पेश किए गए। योजना में ब्रिटिश भारत व देशी रियासतों का एक संघ, जिसके पास यातायात, विदेशी मामलों व सुरक्षा का अधिकार होंगे, के निर्माण की बात कही गई। संघीय विषयों के अतिरिक्त सभी विषय प्रान्तों को सौंप जाने की बात कही गई। संघ को सौंपे गए विषयों के अतिरिक्त अन्य सभी विषयों पर देशी रियासतों का अधिकार होगा। प्रस्तावित संघ के लिए एक कार्यकारिणी व विधायिका का व्यवस्था होगी। जिसमें ब्रिटिश भारत व देशी रियासतों के प्रतिनिधि होंगे। मिशन ने पाकिस्तान की मांग को व्यावहारिक कठिनाइयों के कारण स्वीकार नहीं किया। योजना में एक ऐसे त्रि-स्तरीय संविधान का प्रस्ताव रखा गया जिसने भारत की राजनीतिक एकता को बनाए रखने का प्रयास किया। योजना में संविधान के निर्माण की बात कही गई तथा इससे पूर्व एक अंतरिम सरकार की स्थापना का प्रस्ताव रखा गया। कांग्रेस और मुस्लिम लीग ने मिशन की योजना को प्रारंभ में स्वीकार कर लिया। लेकिन अंतरिम सरकार की

योजना को कांग्रेस स्वीकार नहीं कर सकी। लीग ने दावा पेश किया कि वह कांग्रेस के बगैर अंतरिम सरकार का गठन कर सकती है। वायसराय द्वारा लीग की इस मांग के ठुकराए जाने पर लीग ने मंत्रिमंडल मिशन को अस्वीकृत कर दिया व पाकिस्तान की प्राप्ति के लिए 'सीधी कार्यवाही' करने की धमकी दे डाली। इसी बीच कांग्रेस वार्किंग कमेटी ने प्रस्ताव पास कर अंतरिम सरकार बनाने की योजना स्वीकार कर ली। मुस्लिम लीग ने भी वायसराय के सुझाव पर अन्ततः इस योजना को स्वीकार कर लिया।

प्रश्न : 'अगस्त प्रस्ताव से माउन्टबेटन योजना तक तर्कसंगत क्रम विकास था' विवेचन कीजिए। (1993) (250 शब्दों में)

उत्तर : द्वितीय विश्य युद्ध में भारतीयों का सहयोग व समर्थन प्राप्त करने के उद्देश्य से भारतीयों को संतुष्ट करने के लिए वायसराय लार्ड लिनलिथगो ने 8 अगस्त, 1940 को अगस्त प्रस्ताव प्रस्तुत किया। यद्यपि प्रस्ताव में भारतीयों को औपनिवेशिक स्वराज्य प्रदान करने का आश्वासन दिया गया तथा अल्पसंख्यकों को भी अधिकार प्रदान किए गए। लेकिन प्रस्ताव में अल्पसंख्यकों को जरूरत से ज्यादा महत्त्व प्रदान किया गया। इससे साम्प्रदायिकता व देश विभाजन को बल मिला। भले ही मुस्लिम लीग ने इसे स्वीकार न किया हो लेकिन वह इस बात से संतुष्ट थी कि उसके पास अल्पसंख्यकों को दिए गए अधिकारों के रूप में एक हथियार आ गया था, जिसके सहारे वह आसानी से पाकिस्तान प्राप्त कर सकती थी। प्रस्ताव की असफलता के पश्चात् 1942 में 'क्रिप्स मिशन' को भारत भेजा गया। यह भारतीयों को संतुष्ट नहीं कर सका। इसने अगस्त प्रस्ताव को ही आगे बढ़ाया। इसने देशी रियासतों को संघ में शामिल होने या न होने की स्वतंत्रता तथा मुस्लिम लीग को भी संघ से पृथक् अस्तित्व बनाए रखने की स्वतंत्रता प्रदान की, जो भारत विभाजन की योजना को निरंतर आगे बढ़ा रही थी। क्रिप्स मिशन की असफलता के पश्चात् वेवेल योजना के अन्तर्गत मुस्लिम लीग की राजनीतिक समानता के बदले साम्प्रदायिक समानता की मांग को स्वीकार कर विभाजन की राह काफी आसान कर दी थी। भारतीयों को सत्ता हस्तांतरित करने के उपाय खोजने के लिए कैबिनेट मिशन भारत आया। मिशन द्वारा साम्प्रदायिक समस्या पर उस समुदाय के बहुमत प्राप्त सदस्यों की सहमति की अनिवार्यता को लागू कर अप्रत्यक्ष रूप से भारत विभाजन की परिकल्पना को सच कर दिया। अगस्त प्रस्ताव से लेकर कैबिनेट मिशन तक ने जो कार्य परोक्ष रूप से किया, माउंटबेटन योजना, 1947 ने वही कार्य प्रत्यक्ष रूप से पूरा करते हुए भारत व पाकिस्तान को दो स्वतंत्र राष्ट्रों में विभाजित कर दिया, जिसकी शुरूआत परोक्षरूप से 'अगस्त प्रस्ताव' ने कर दी थी। यह माना जा सकता है कि अगस्त प्रस्ताव से माउंटबेटन योजना तक का सफर स्वायत्तता से स्वतंत्रता तक का सफर था।

प्रश्न : माउन्टबेटन योजना क्या थी? योजना के प्रति गांधी और आजाद की प्रतिक्रिया की विवेचना कीजिए। (2000) (250 शब्दों में)

उत्तर : मार्च, 1947 में लार्ड माउंटबेटन को वेवल के स्थान पर भारत का वायसराय नियुक्त किया गया। उन्होंने शीघ्र ही यह जान लिया कि भारत का बंटवारा और पाकिस्तान की स्थापना अपरिहार्य है। मुस्लिम लीग और कांग्रेस में इतना अधिक मतभेद था कि उसे पाटना मुश्किल था। इसी के तहत माउंट बेटन ने विचार विनिमय के बाद 3 जून, 1947 को भारत विभाजन की योजना रखी। इसमें संविधान सभा को कार्य जारी रखने को कहा गया। यह भी कहा गया कि यह संविधान उन पर लागू नहीं होगा जो इसके इच्छुक नहीं है।

साथ ही, योजना में यह भी कहा गया कि भारत को विभाजन भारतीय संघ और पाकिस्तान में कर दिया जाए। भारत विभाजन से पहले पंजाब और बंगाल के सीमांकन का प्रश्न हल करना होगा। सिंध की विधान सभा यह तय करेगी कि वह भारत की संविधान सभा में मिलना चाहती है अथवा नहीं तथा असम के मुस्लिम बहुल प्रान्त सिलहट जिले में इस बात का निर्णय जनमत संग्रह द्वारा किया जाएगा। भारत व पाकिस्तान को राष्ट्रमंडल की सदस्यता छोड़ने का अधिकार होगा। बंगाल और पंजाब में विधानसभाओं के अधिवेशन दो भागों में किए जाएंगे। एक भाग में मुस्लिम बहुल जिलों के प्रतिनिधि होगे व दूसरे में हिन्दू बहुल जिलों के। भारत मंत्री का पद समाप्त कर दिया गया। भारत और पाकिस्तान, दोनों हिस्सों की संविधान सभाओं को शासन की शक्ति सौंपी जाएगी, तथा इनको जनता की इच्छा के अनुसार संविधान निर्माण का पूरा अधिकार होगा। सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह कि जब तक दोनों संविधानों का निर्माण हो तब तक दोनों हिस्सों व प्रांतों का शासन 1935 के भारत सरकार अधिनियम के अनुसार होगा, परंतु इन पर गवर्नर व गवर्नर जनरल को कोई अधिकार नहीं होगा।

महात्मा गांधी ने इस योजना का विरोध किया। वे भारत के बंटवारे के पक्ष में नहीं थे। उन्होंने मांउटबेटन से मुलाकात कर उन्हें विभाजन करने से रोका भी। उन्होंने कहा कि अगर विभाजन होगा तो वह मेरी लाश पर होगा।'' आजाद ने विभाजन को कभी स्वीकार नहीं

किया परंतु उनकी स्थिति कांग्रेस में ऐसी नहीं थी कि उनके मत को महत्त्व मिले।

प्रश्न : बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक तक के क्रांतिकारी आतंकवाद के विकास का इसके महाराष्ट्र, बंगाल तथा पंजाब में हुए प्रभाव के विशेष संदर्भ में विवेचन कीजिए। (1991), (250 शब्दों में)

उत्तर : अंग्रेजों की नीतियों से विक्षुब्ध एक ऐसे दल का निर्माण हुआ जो हिंसा में विश्वास करता था। सामान्यत: ऐसे दल को क्रांतिकारी आतंकवाद कहा गया, जिसमें युवा वर्ग का प्रभुत्व था। इन क्रांतिकारियों का मुख्य उद्देश्य हिंसा के द्वारा स्वतंत्रता प्राप्त करना था, ये बल प्रयोग द्वारा विदेशी शासन को उखाड़ फेंकना चाहते थे। अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए क्रांतिकारियों ने सबसे पहले बंगाल में समितियों की स्थापना की। सरकारी अधिनियमों के दंभ और उनकी दमनात्मक कार्यवाहियों ने बंगाल के युवकों को विद्रोही बनाया। बंगाल में इस आंदोलन के नेता वारिन्द्र कुमार घोष एवं भूपेन्द्र नाथ दत्त थे। 1906 में इन दोनों ने मिलकर 'युगांतर' नामक समाचार पत्र का प्रकाशन किया जिसने देश के नवयुवकों को सशस्त्र क्रांति के लिए प्रेरित किया। क्रांतिकारियों द्वारा बंगाल के गवर्नर की गाड़ी को उड़ाने की कोशिश की गई लेकिन इसमें गवर्नर बच गया। 1907 में ढ़ाका के मजिस्ट्रेट की गोली मारकर हत्या कर दी गई। इसी के तहत 1908 में मुजफ्फरपुर के जज किंग्सफोर्ड को मारने की कोशिश खुदीराम बोस व प्रफुल्ल चाकी द्वारा की गई लेकिन जिस गाड़ी पर इनके द्वारा बम फेंका गया था उसमें किंग्सफोर्ड नहीं बल्कि उसकी पत्नी व पुत्री बैठी थी, जिनकी मृत्यु हो गई। प्रफुल्ल चाकी ने स्वयं को गोली मार ली व खुदीराम बोस को फांसी दे दी गई।

बंगाल की भांति पंजाब में भी क्रांतिकारी गतिविधियाँ मुखर होने लगीं। अजीत सिंह, परमानंद, लाला हरदयाल ने पंजाब में क्रांतिकारियों को संगठित किया। 1908 में लायलपुर के डी. एस. पी. कॉलो एवं उसके अर्दली की हत्या कर दी गई। 1909 में अंबाला के डिप्टी कलेक्टर के घर पर विस्फोट किया गया, जिसमें उसका एक नौकर घायल हुआ। महाराष्ट्र में क्रांतिकारी आंदोलन को उभारने का श्रेय तिलक के पत्र 'केसरी' को जाता है। 1904 में सावरकर द्वारा 'अभिनव भारत' नामक एक गुप्त क्रांतिकारी संगठन की स्थापना की गई। 1905 के बाद अनेक अखबार खुले तौर पर और कुछ नेता छिपे तौर पर क्रांतिकारी आतंकवाद की वकालत करने लगे। गणेश सावरकर को 1909 में आजीवन कारावास की सजा दी गई तथा इसी वर्ष इस मुकद्दमे के जज की गोली मार कर हत्या कर दी गई। सावरकर द्वारा विदेशों से हथियार लाने के प्रयास भी किए गए। मादाम कामा तथा मदन लाल धींगरा का सहयोग भी महाराष्ट्र के क्रांतिकारियों को मिल रहा था।

प्रश्न : भारत के अतिरिक्त अन्य देशों में आतंकवादी आंदोलन कैसे सशक्त हुआ? (2000) (150 शब्दों में)

उत्तर : क्रांति की लहर भारत के अतिरिक्त इंग्लैंड, फ्रांस, रूस एवं जर्मनी में भी फैली। इंग्लैंड में श्याम जी कृष्ण वर्मा ने 'इण्डियन होमरूल सोसायटी' की स्थापना की। इसके अन्य सदस्य थे विनायक दामोदर सावरकर, मादाम कामा, मदन लाल ढींगरा। 1907 में मादाम कामा द्वारा जर्मनी के एक अंतरराष्ट्रीय सम्मेलन में भाग लेकर भारतीय स्वतंत्रता के झंडे को लहराया गया। 1909 में मदन लाल ढींगरा द्वारा भारत सचिव के सहायक कर्नल विलियम कर्जन वाइली की गोली मारकर हत्या कर दी गई। फलस्वरूप उन्हें मृत्युदंड दे दिया गया। कनाडा और अमेरिका में इस आंदोलन ने प्रवासी भारतीयों में राष्ट्रीय चेतना जगाई एवं उन्हें एकताबद्ध किया। इनका एक साप्ताहिक पत्र 'गदर' भी प्रकाशित होता था जो अनेक देशों को भेजा जाता था। काबुल के राजा महेन्द्र प्रताप ने भारत की आजादी के लिए एक अस्थायी सरकार की भी स्थापना की थी। इसमें जर्मनी, तुर्की, ईरान, अरब, इराक व अफगानिस्तान की मदद से भारत में क्रांति लाने की योजना बनाई गई थी।

प्रश्न : होमरूल आंदोलन में एनी बेसेंट की भूमिका स्पष्ट कीजिए। (1994), (150 शब्दों में)

उत्तर : भारत में होमरूल आंदोलन के प्रणेता बाल गंगाधर तिलक एवं एक आयरिश महिला एनी बेसेंट थीं। होमरूल आंदोलन भारत में 1916 में प्रारंभ हुआ, लेकिन एनी बेसेंट ने 1914 में ही लंदन में 'होमरूल लीग' की स्थापना कर ली थी। 1915 के प्रारंभ से ही इन्होंने 'न्यू इंडिया' और 'कामनवील' नामक दो समाचार-पत्रों द्वारा आंदोलन छेड़ दिया। जनसभाएं एवं सम्मेलन आयोजित किए। उनकी माँग थी कि जिस प्रकार ब्रिटेन में जनता को स्वशासन का अधिकार दिया गया है, उसी प्रकार भारतीय जनता को भी स्वशासन का अधिकार प्रदान किया जाए। यह स्वशासन ग्राम पंचायत से लेकर जिला बोर्ड और नगरपालिकाओं, प्रांतीय विधान सभाओं तथा राष्ट्रीय स्तर का होगा। एनी बेसेंट युद्ध के दौरान ही स्वशासन प्राप्ति की इच्छुक थी। उनका विचार था कि यदि शांतिपूर्ण और वैधानिक तरीकों

से आंदोलन नहीं चलाया गया तो देश की राजनीति पर क्रांतिकारियों का प्रभुत्व हो जाएगा। अत: वे राष्ट्रीय क्रांतिकारियों के प्रभाव को भी रोकना चाहती थी। उनका मुख्य उद्देश्य भारतीय जनता में आई निराशा व शिथिलता को दूर करना था। एनी बेसेंट भारत में जगह-जगह इस आंदोलन की शाखाएं स्थापित कर देश में पुन: जागरण लाई। एनी बेसेंट के प्रयासों के परिणामस्वरूप ही 1916 में लखनऊ अधिवेशन में कांग्रेस के दोनों दलों नरमपंथी व गरमपंथी में एकता स्थापित हो पाई।

प्रश्न : "अंहिसात्मक सत्याग्रह की तकनीक को अंग्रेजों के विरूद्ध शस्त्र के रूप में राष्ट्र द्वारा 1916-20 के मध्य स्वीकार करवा लेने में महात्मा गाँधी की सफलता अद्‌भुत थी।" स्पष्ट कीजिए। (1993) (250 शब्दों में)

उत्तर : गाँधीजी का मानना था कि संघर्षों का एकमात्र तरीका है- सत्याग्रह। यह सत्याग्रह अहिंसक होना चाहिए। गाँधीजी केवल उसी आंदोलन से जुड़ सकते थे जो सत्याग्रह के रास्ते पर चल रहा हो। 1917 में गाँधीजी ने चंपारण आंदोलन के अन्तर्गत नील के किसानों पर गोरों के जुल्मों के खिलाफ सत्याग्रह चलाया। गाँधीजी ने इस आंदोलन में अनुचित आदेश की अवज्ञा एवं उसका शांतिपूर्ण तरीके से प्रतिरोध करने की नीति पर बल दिया। परिणामस्वरूप सरकार ने मामले की जाँच के लिए एक आयोग गठित किया, जिसकी सिफारिशों के आधार पर किसानों को उनका हक दिलाया गया।

इस तरह, अहमदाबाद में मिल मालिकों और मजदूरों में 'प्लेग बोनस' को लेकर विवाद उत्पन्न हो गया था। प्लेग का प्रकोप खत्म होने के बाद मालिक इसे समाप्त करना चाहते थे। गाँधीजी ने इस विवाद में मध्यस्थता कर मजदूरों को हड़ताल पर जाने को कहा। गाँधीजी ने मजदूरों का उत्साह बढ़ाने के लिए स्वयं अनशन प्रारंभ किया। मिल मालिकों पर इस अनशन का प्रभाव पड़ा और उन्होंने मजदूरों की माँगों को स्वीकार कर लिया व हड़ताल भी समाप्त हो गई। इसी बीच खेड़ा में किसान आंदोलन प्रारंभ हुआ। जिसका कारण सरकार द्वारा किसानों को मालगुजारी वसूलना था, जबकि उनकी फसल बर्बाद हो गई थी। गाँधीजी ने किसानों को लगान न देने व दमनकारी आदेशों के खिलाफ जुझारू संघर्ष करने को प्रेरित किया। तथा गाँधीजी ने कहा कि यदि सरकार गरीब किसानों का लगान माफ कर देती है, तो जो लोग लगान दे सकते हैं, वे स्वेच्छा से पूरा लगान दे देंगे। सरकार द्वारा यह बात मान ली गई, फलस्वरूप आंदोलन समाप्त हो गया।

चंपारण, अहमदाबाद और खेड़ा आंदोलन ने संघर्ष के गाँधीवादी तरीके- जिसमें सत्याग्रह, अवज्ञा, असहयोग, हड़ताल, अनशन को आजमाने का अवसर दिया था। इन आंदोलनों में गाँधीजी द्वारा अपनाए गए सत्याग्रह के सफल प्रयोग को पूरे देश में अग्रेंजों के विरुद्ध एक अस्त्र के रूप में स्वीकार कर लिया गया।

प्रश्न : खिलाफत आंदोलन के उद्देश्यों और लक्ष्यों का विवेचन कीजिए। यह कहाँ तक सफल रहा? (2001) (150 शब्दों में)

उत्तर : खिलाफत आंदोलन भारतीय मुसलमानों का मित्र राष्ट्रों के विरुद्ध विशेषकर ब्रिटेन के खिलाफ तथा तुर्की के खलीफा के समर्थन में था। तुर्की का खलीफा समूचे विश्व के 'सुन्नी मुसलमानों' का धर्मगुरु माना जाता था। प्रथम विश्व युद्ध के बाद ब्रिटिश सरकार द्वारा मुसलमानों को दिया गया आश्वासन पूरा न करना, मित्र राष्ट्रों द्वारा तुर्की का बंटवारा, खलीफा को अपदस्थ करना इत्यादि इस आंदोलन के लिए जिम्मेदार कारण थे।

खिलाफत आंदोलन का उद्देश्य खलीफा की सर्वोच्चता और उसकी शक्ति को स्थापित करना था। इसका आरंभ एक प्रतिक्रियावादी आंदोलन के रूप में हुआ, लेकिन शीघ्र ही यह साम्राज्य विरोधी और राष्ट्रीय आंदोलन का एक अंग बन गया। इस आंदोलन का मुख्य लक्ष्य था- तुर्की के साम्राज्य को विघटित होने से रोकना तथा सेवर्स की संधि को तत्काल भंग करना। आंदोलन द्वारा सरकार को चेतावनी दी गई कि यदि खलीफा के साथ न्याय नहीं किया गया तो वे सरकार के साथ असहयोग करेंगे। महात्मा गाँधी ने खिलाफत आंदोलन को राष्ट्रीय आंदोलन से जोड़ने का प्रयास किया। लेकिन तुर्की ने खलीफा की स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं आया। साथ ही तुर्की में मुस्तफा कमाल पाशा द्वारा खलीफा के पद को समाप्त करने के साथ ही खिलाफत का आंदोलन समाप्त हो गया। परंतु खिलाफत आंदोलन ने थोड़े समय के लिए ही सही हिन्दू-मुस्लिम एकता की भावना को सुदृढ़ किया।

प्रश्न : किन कारणों से 1920 में गाँधीजी का संवेदनापूर्ण सहयोग का दृष्टिकोण असहयोग में बदल गया? इसके क्या परिणाम हुए। (1996) (250 शब्दों में)

उत्तर : गाँधीजी द्वारा असहयोग आंदोलन प्रारम्भ करने के मूल में अनेक घटनाओं का योगदान है। प्रथम विश्वयुद्ध में अंग्रेजों ने जीत

के बाद भारतीयों को स्वशासन का वचन देकर उन्हें प्रथम विश्व युद्ध में शामिल कर लिया। जिसके परिणामस्वरूप भारतीयों की आर्थिक स्थिति अत्यन्त शोचनीय हो गई।

साम्राज्यवादियों ने स्वशासन के जो आश्वासन दिए थे उन्हें भुलाकर पुनः उपनिवेशों को आपस में बाँट लिया। युद्ध के बाद अंग्रेजों द्वारा युद्धकालीन प्रतिज्ञाओं की अवहेलना एवं दमन की नीति के अनुसरण ने गाँधीजी को असहयोगी बना दिया।

रौलेट एक्ट के विरुद्ध गाँधीजी ने असहयोग आंदोलन प्रारंभ किया। रौलेट एक्ट के अंतर्गत संदेह के आधार पर किसी भी व्यक्ति को गिरफ्तार किया जा सकता था। इस घटना ने गाँधीजी को ब्रिटिश शासन का विरोधी बना दिया। वहीं, जलियाँवाला बाग हत्याकांड से क्षुब्ध गाँधीजी ने सहयोग की नीति का परित्याग कर दिया। इसके विरोधस्वरूप गाँधीजी ने प्रदत उपाधियाँ सरकार को लौटा दी। भारतीय मुसलमानों द्वारा चलाए जा रहे खिलाफत आंदोलन को समर्थन देने के उद्देश्य से भी गाँधीजी ने असहयोग आंदोलन प्रारंभ किया जिसका उद्देश्य हिन्दू-मुस्लिम एकता की स्थापना करना था। 1919 के मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधारों से उत्पन्न असंतोष से प्रेरित हो गाँधीजी ने असहयोग आंदोलन प्रारंभ कर दिया था। प्रथम विश्व युद्ध के बाद सेना में छँटनी से उत्पन्न बेकारी की समस्या भी इसके लिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण कारक थी। असहयोग आंदोलन ने सारे भारत में जन-जागृति पैदा कर दी। हिन्दू-मुस्लिम एकता की स्थापना भी आंदोलन का सबसे महत्त्वपूर्ण परिणाम था। विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार किया गया व स्वदेशी को अपनाया गया। सरकारी स्कूलों व न्यायालयों का बहिष्कार किया गया। काशी विद्यापीठ, तिलक-महाराष्ट्र विद्यापीठ जैसे राष्ट्रीय विश्वविद्यालयों की स्थापना की गई। संक्षेप में कहा जा सकता है कि असहयोग आंदोलन के परिणामस्वरूप संपूर्ण भारत में एक जागृति की लहर दौड़ गई व हिन्दू और मुसलमान कंधे से कंधा मिलाकर स्वराज्य की स्थापना के लिए कार्य करने लगे।

प्रश्न : असहयोग आंदोलन का समालोचनात्मक आकलन कीजिए। (2004) (250 शब्दों में)

उत्तर : गाँधीजी द्वारा असहयोग आंदोलन चलाने के मूल में अनेक घटनाओं का महत्त्वपूर्ण योगदान था। जिसमें प्रथम विश्व युद्ध के बाद की परिस्थितियाँ, रौलेट एक्ट, 1919 सुधार अधिनियम, जलियाँवाला बाग हत्याकांड, खिलाफत आंदोलन इत्यादि प्रमुख हैं। असहयोग आंदोलन के परिणामस्वरूप गाँधीजी सहित कई अन्य नेताओं ने भी उपाधियाँ वापस कर दी। सी. आर. दास, मोतीलाल नेहरू, राजेन्द्र प्रसाद, जवाहर लाल नेहरू एवं वल्लभभाई पटेल ने वकालत छोड़ दी। सरकारी स्कूलों एवं न्यायालयों का बहिष्कार होने लगा। काशी विद्यापीठ, बिहार विद्यापीठ, तिलक-महाराष्ट्र विद्यापीठ, अलीगढ़ जैसे विश्वविद्यालयों की स्थापना की गई। मुसलमान और हिन्दू खिलाफत एवं स्वराज्य की स्थापना के लिए कंधे से कंधा मिलाकर कार्य करने लगे। सम्पूर्ण भारत में जनजागृति पैदा हो गई। विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार किया गया व स्वदेशी को अपनाया गया। पंचायतों की स्थापना की गई। अस्पृश्यता निवारण, खादी पहनने, चर्खा चलाने अहिंसा का मार्ग अपनाने आदि का प्रचार-प्रसार किया गया।

लेकिन चौरा चौरी नामक हत्याकांड से क्षुब्ध होकर गाँधीजी ने तुरंत असहयोग आंदोलन के स्थगन की घोषणा कर दी। इससे सर्वत्र गाँधीजी ने विरुद्ध रोष का वातावरण बन गया। देश में सभी प्रगतिशील नेताओं व कांग्रेस के नवयुवकों ने इसका विरोध किया। भारत में भविष्य में इसी कारण साम्प्रदायिक दंगे हुए। इस आंदोलन के स्थगन से हिन्दू-मुसलमानों में तनाव पैदा हो गया। कई लोगों को लगा कि गाँधीजी में नेतृत्व क्षमता अब नहीं रह गई है। इस आंदोलन के फलस्वरूप कई आलोचकों ने तो गाँधीजी को अमीर वर्ग समर्थक बताया।

यद्यपि भारतीयों की आशाओं को यह आंदोलन पूर्ण न कर सका और एक वर्ष के भीतर स्वराज्य का मोह भंग हो गया, तथापि भारतीय राजनीति पर इसका अमिट प्रभाव पड़ा। असहयोग आंदोलन अंग्रेजी हुकूमत के खिलाफ देशव्यापी जनसंघर्ष का प्रथम प्रयास था। इसी आंदोलन ने पहली बार देश की जनता को इकट्ठा किया। सबसे महत्त्वपूर्ण रूप में हिन्दु-मुस्लिम एकता स्थापित की। इस आंदोलन में मुसलमानों की भागीदारी ने ही इस आंदोलन को जनांदोलन को स्वरूप दिया। इसने जनता को आधुनिक राजनीति से परिचित कराया व आजादी की भूख जगाई।

प्रश्न : सविनय अवज्ञा आंदोलन का भारत के विभिन्न प्रांतों पर क्या प्रभाव पड़ा? उसने भारत में कृषक आंदोलन का किस प्रकार पोषण किया? (1995) (250 शब्दों में)

उत्तर : एक बार जब गाँधीजी ने दांडी में नमक हाथ में लेकर सविनय अवज्ञा आंदोलन का श्रीगणेश कर दिया तो नमक कानून

तोड़ने का सत्याग्रह पूरे देश में शुरू हो गया। पहली बार इस आंदोलन में देश की महिलाओं ने व समाज के कृषक और मजदूर वर्ग ने बढ़-चढ़कर भाग लिया। पूरे देश में करबंदी, लगानबंदी, शराबबंदी, नमक सत्याग्रह, विदेशी कपड़ों की दुकानों पर धरना, सरकारी स्कूलों व कॉलेजों का बहिष्कार किया गया।

लगान कम करने का कार्यक्रम इलाहाबाद में एक किसान सम्मेलन से शुरू हुआ जो शीघ्र ही संयुक्त प्रांत के अन्य भागों में फैल गया। बंगाल में भी किसानों ने लगान कम करने व लगानबंदी का मार्ग अपनाया। बिहार के किसानों ने अनेक क्षेत्रों में चौकीदारी टैक्स देना बंद कर दिया। आंदोलन के तहत महाराष्ट्र में स्थित वडाला में नमक के कारखानों पर धावा बोला गया व यहां से अत्यधिक मात्रा में नमक ले जाए गया। आंध्र प्रदेश में विशेष रूप में महिलाओं ने नमक कानून तोड़ा। गुजरात में खेड़ा जिले में, बारदोली तहसील में ओर भड़ौच जिले में कर अदा न करने का एक आंदोलन चलाया जा रहा था। यहां पर लोगों ने भूमिकर अदा करने से इंकार कर दिया था। वहीं उत्तर - प्रदेश में "कर न दो, लगान न दो" का आंदोलन चलाया जा रहा था यहाँ कर ने देने का आह्वान जमीदारों के लिए व लगान न देने का आह्वान किसानों के लिए था। सविनय अवज्ञा आंदोलन में कृषकों की भूमिका काफी व्यापक थी। संगठित राजनीतिक आंदोलन में पहली बार किसानों की भागीदारी दिखी जो सामाजिक आधार का विस्तार कर रही थी। इस आंदोलन के फलस्वरूप किसानों के स्वतंत्र वर्ग संगठन के निर्माण की प्रक्रिया शुरू हुई। कांग्रेसी नेतृत्व के प्रभावस्वरूप शामिल किए गए आर्थिक तत्वों के कारण भी कृषकों का झुकाव कांग्रेस की तरह हुआ जिसका परिणाम यह हुआ कि कृषकों ने राष्ट्रीय आंदोलनों में भाग लेना प्रारंभ किया। इस प्रकार कृषकों में इस आंदोलन के परिणामस्वरूप राष्ट्रीय चेतना का उदय हुआ।

प्रश्न : द्वितीय महायुद्ध के आरंभ का भारत के राजनीतिक परिदृश्य पर क्या प्रभाव पड़ा? क्या क्रिप्स मिशन भारत में राजनीतिक संकट को सुलझा पाया? (1994) (250 शब्दों में)

उत्तर : द्वितीय विश्व युद्ध का भारतीय राजनीति और स्वतंत्रता संग्राम पर व्यापक प्रभाव पड़ा। इसने स्वतन्त्रता आंदोलन की गति को तीव्र कर दिया। कांग्रेस को अपनी नीति में परिवर्तन करना पड़ा व मुस्लिम लीग ने भी अपनी नीतियों में परिवर्तन किया। सरकार को बाध्य होकर विश्वयुद्ध के दौरान और उसके पश्चात् भारत के लिए संवैधानिक सुधारों और स्वतंत्रता प्रदान करने के आश्वासन देने पड़े।

कांग्रेस ने ब्रिटेन को युद्ध में सहयोग प्रदान करने के लिए पूर्ण जनतंत्र तथा आत्म निर्णय का अधिकार मांगा एवं सरकार से असहयोग करने का फैसला किया। फलत: समस्त कांग्रेस मंत्रिमंडल ने इस्तीफा दे दिया। कांग्रेस के इस कदम ने लीग और अंग्रेजों के गठबंधन तथा मुसलमानों पर जिन्ना के नियंत्रण को बढ़ाने में सहयोग दिया तथापि भारतीय राजनीतिक गतिविधियों को प्रभावित करने की कांग्रेस की क्षमता में कमी आ गई थी। दूसरी तरफ मुस्लिम लीग सरकार को समर्थन देने के लिए सरकार से सौदेबाजी कर मुसलमानों के लिए सुविधाओं व उनके हितों की रक्षा की मांग कर रही थी। इसी समय मुस्लिम लीग ने दिसम्बर, 1939 में 'मुक्ति दिवस' मनाया तथा भारतीय राजनीतिक व्यवस्था पर अपना प्रभुत्व कायम करने का प्रयास करने लगी।

सरकार ने भारत में इस बदलते राजनीतिक परिदृश्य के मद्देनजर युद्ध में भारतीयों के सहयोग प्राप्ति के लिए कुछ आश्वासनों के साथ ब्रिटिश संसद के सदस्य सर स्टैफर्ड क्रिप्स को भारत भेजा, जो 'क्रिप्स मिशन' कहलाया। क्रिप्स मिशन भारतीयों को संतुष्ट नहीं कर सका। बल्कि इसने कांग्रेस और भारतीय जनता में अंग्रेजों के प्रति अविश्वास की भावना व घृणा भर दी। वस्तुत: तत्कालीन भारतीय राजनीति में उत्पन्न संकट को यह सुलझा पाने में नाकामयाब ही रहा। इसकी पृष्ठभूमि में कई कारण मौजूद थे। जिनमें प्रथम, कांग्रेस ने क्रिप्स मिशन को यह कहकर अस्वीकार कर दिया कि इसके प्रस्तावों में उसकी पूर्ण स्वतंत्रता की मांग को स्वीकार नहीं किया गया है। दूसरे, मुस्लिम लीग का इसको अस्वीकार करने का कारण यह था कि इसमें मुसलमानों के लिए पाकिस्तान की मांग नहीं मानी गई थी। तीसरे, अन्य राजनीतिक दलों ने इसे दो आधारों पर रद्द कर दिया। प्रथम, ब्रिटिश सरकार रक्षा विभाग किसी भी कीमत पर भारतीयों को सौंपने को तैयार नहीं थी। दूसरी, सरकार कार्यकारिणी परिषद् के एक मंत्रिमंडल के रूप कार्य करने के पक्ष में न थी। इन सब कारणों के परिणामस्वरूप क्रिप्स मिशन राजनीतिक संकट को नहीं सुलझा पाया व असफल होकर लौट गया।

प्रश्न : भारत छोड़ो आंदोलन के प्रति विभिन्न राजनीतिक दलों के दृष्टिकोणों का मूल्यांकन कीजिए। (2002) (150 शब्दों में)

उत्तर : भारत के सभी दल इस आंदोलन के पक्ष में नहीं थे। कांग्रेस तथा समाजवादी दल के सदस्यों ने इस प्रस्ताव का स्वागत किया। लेकिन मुस्लिम लीग, उदारवादी तथा साम्यवादी दलों ने इसका खंडन किया। साम्यवादी दल ने आंदोलन को साम्राज्यवादी बताया तथा

यह भी कहा कि आंदोलन के फलस्वरूप पूर्वी एशिया में मित्र देशों की स्थिति और भी अधिक बिगड़ जाएगी। उन्होंने इस आंदोलन के लिए कांग्रेस को उत्तरदायी ठहराया। मुस्लिम लीग ने भी इस आंदोलन का विरोध किया क्योंकि वे किसी भी स्थिति में यह नहीं चाहते थे कि अंग्रेज बंटवारे से पूर्व भारत से जाएं। लीग ने गाँधीजी पर यह आरोप भी लगाया कि इस आंदोलन में गाँधीजी का उद्देश्य मुसलमानों व अन्य अल्पसंख्यकों पर कांग्रेसी हिन्दुओं की सत्ता स्थापित करना है। प्रारंभ में हिन्दू महासभा ने इस आंदोलन में हिन्दुओं को भाग न लेने को कहा लेकिन बाद में उसके दृष्टिकोण में परिवर्तन आया तथा उसने भारत में पूर्ण स्वतंत्रता व राष्ट्रीय सरकार की स्थापना की मांग की। उदारवादी दल ने आंदोलन को अकल्पित व असामयिक बताया तथा विरोध-स्वरूप गाँधीजी को स्वयं को राजनीति से अलग करने को कहा। हरिजनों ने भी इसका विरोध किया तथा इसे कानून और व्यवस्था को कमजोर करने वाला कार्यक्रम बताया। अन्य दलों जैसे अकाली तथा ईसाइयों ने भी इस आंदोलन का विरोध किया। परन्तु पारसी इस आंदोलन के पक्ष में थे। वे भारत की पूर्ण स्वतंत्रता चाहते थे। समाजवादी दल ने ही इस आंदोलन में जोर-शोर से भाग लिया था।

प्रश्न : रॉयल इंडियन नेवी अथवा नौसैनिक (रेटिंग्स) का विद्रोह कब और क्यों हुआ? उन्होंने इस आंदोलन को स्थगित क्यों कर दिया। इस आंदोलन के प्रति गांधी और पटेल के दृष्टिकोण क्या थे? (1990) (150 शब्दों में)

उत्तर : 18 फरवरी, 1946 को बम्बई के रॉयल इंडियन नेवी के प्रशिक्षण पोत 'तलवार' नामक जहाज के नाविकों ने खूनी बगावत आरंभ कर दी। इसके कारणों ने मुख्य रूप से युद्ध काल में नौ-सैना का विस्तार कर उसमें गैर-भारतीयों को शामिल करना था। इन गैर-भारतीयों के समक्ष अपनी दयनीय स्थिति देखकर इनमें असंतोष की भावना सुलगने लगी। नौ-सैनिक प्रजातंत्रीय विभेद की नीति से अत्यंत क्षुब्ध थे। आजाद हिन्द फौज के अधिकारियों पर चलाए गए मुकदमों से भी उनमें रोष उत्पन्न हुआ। इन सभी घटनाओं से प्रेरित नौ-सैनिक आंदोलन के मार्ग पर चल पड़े। आंदोलनकारियों ने अच्छे भोजन की व्यवस्था करने, भारतीय व यूरोपीय नाविकों को समान वेतन देने, आजाद हिन्द फौज के सैनिकों व अन्य अधिकारी बंदियों की रिहाई एवं इंडोनेशिया से भारतीय सैनिकों की वापसी की मांग की।

ब्रिटिश सरकार द्वारा आंदोलन को सैनिक शक्ति की सहायता से कुचलने का प्रयास किया गया। लेकिन सरदार बल्लभ भाई पटेल के आश्वासन पर 23 फरवरी, 1946 को नौ-सैनिकों ने अपना आंदोलन स्थगित कर दिया और बैरकों व जहाजों पर लौट आए। गाँधीजी ने इसे अविवेकपूर्ण आंदोलन कहा। गाँधीजी ने आंदोलनकारियों की राजनीतिक पहल की प्रतीक्षा करने की सलाह दी। गाँधीजी व पटेल का मानना था कि इस आंदोलन के पूरी सेना में फैलने से स्वतंत्रता के लिए जारी प्रक्रिया में बाधा आएगी तथा अंग्रेजों को भारत को स्वतंत्र करने में विलंब करने का एक अवसर मिल जाएगा। अन्ततः पटेल के प्रयासों से ही आंदोलन स्थगित कर दिया गया।

प्रश्न : भारत में स्वतंत्रता आंदोलन के अंतिम चरण विशेषकर 1947 में प्रारंभ से स्वतंत्रता प्राप्ति तक का विवरण दीजिए। (1991) (250 शब्दों में)

उत्तर : भारत में स्वतंत्रता प्राप्ति की पृष्ठभूमि तो कैबिनेट-मिशन योजना के अनुसार जवाहर लाल नेहरू के नेतृत्व में गठित अंतरिम सरकार के फलस्वरूप तैयार हो गई थी। लेकिन 20 फरवरी, 1947 को ब्रिटेन के प्रधानमंत्री एटली की हाऊस ऑफ कॉमन्स में यह घोषणा कि जून 1948 तक प्रभुसत्ता भारतीयों के हाथ में दे देंगे, इसे अंतिम रूप से स्वीकार भी कर ली थी। घोषणा में यह भी कहा गया कि अगर संविधान सभा उस तिथि तक कोई संविधान तैयार नहीं कर सकेगी तो अंग्रेजी सरकार यह निश्चित करेगी कि सत्ता किसे सौंपी जाएगी। किसी केन्द्रीय सरकार को या प्रांतीय सरकारों को। एटली की घोषणा के बाद यह निश्चित हो गया कि भारतीयों को स्वाधीनता मिलने ही वाली है।

आजादी मिलने की संभावना जब साकार होने जा रही थी तो बड़े पैमाने पर साम्प्रदायिक दंगे हुए। लाहौर में विरोधी संघर्ष हुआ। लाहौर, अमृतसर, तक्षशिला में भीषण नरसंहार हुए। 24 मार्च, 1947 को नए वायसराय लार्ड माउंटबेटन ने कार्यभार संभाला। उन्होंने शीघ्र ही यह जान लिया कि भारत का विभाजन अवश्यभावी है। कांग्रेस व मुस्लिम लीग में मतभेद इतने गहरे हो चुके थे कि उन्हें दूर नहीं किया जा सकता था। इसी परिप्रेक्ष्य में माउंटबेटन ने 3 जून 1947 को भारत विभाजन की योजना प्रस्तुत की। जिसके तहत भारत को स्वतंत्रता मिली।

13. 1857 के बाद भारत का संवैधानिक विकास

1858 का भारत शासन अधिनियम

1857 की क्रांति के बाद अंग्रेजों को अपने शासन संबंधी नीति के मूल्यांकन पर मजबूर होना पड़ा। इस मूल्यांकन के अंतर्गत बड़े-बड़े नीतिगत परिवर्त्तन किए गए। 1858 का अधिनियम इन्हीं परिवर्त्तनों को दृष्टिंगत करता है:-

- प्रशासनिक एवं सैन्य संगठन में भारी परिवर्तन किए गए और उन्हें ब्रिटिश सत्ता के ज्यादा अनुकूल बनाया गया।
- पार्मस्टन स्टैनली आदि के प्रयास से 1858 ई. को भारत शासन अधिनियम पारित हुआ और सत्ता कम्पनी से क्राउन के पास चली गई।
- इंग्लैण्ड के प्रमुख राज्य मंत्री को भारत सचिव बनाकर 15 सदस्यीय भारत परिषद् के सहयोग से उसे भारतीय शासन का उत्तदायित्व सौंप दिया गया।
- नियंत्रण मंडल एवं निदेशक मंडल समाप्त कर दिए गए।
- गवर्नर जनरल एवं गवर्नरों की नियुक्ति का अधिकार क्राउन के हाथों में चला गया।
- भारत में सम्पूर्ण प्रशासनिक शक्तियाँ गवर्नर जनरल के पास आ गई जो अब से वायसराय कहलाने लगा।
- भारतीय परिषद् के निर्णय बहुमत के आधार पर लिए जाने थे, लेकिन भारत सचिव अपनी कौंसिल के बहुमत के विरुद्ध भी निर्णय ले सकता था। भारत सचिव एवं उसकी कौंसिल का खर्च भारतीय राजकोष पर डाल दिया गया।

इस अधिनियम के लागू होने से 1784 के पिट्स इंडिया एक्ट द्वारा स्थापित द्वैध शासन व्यवस्था पूरी तरह खत्म हो गई। देशी राजाओं का क्राउन के साथ प्रत्यक्ष संबंध स्थापित हो गया और डलहौजी की हड़प नीति निष्प्रभावी हो गई।

1861 का भारतीय परिषद् अधिनियम

1858 के अधिनियम के द्वारा भारत में ब्रिटिश साम्राज्य का सीधा शासन स्थापित हो गया, लेकिन भारत की आंतरिक शासन व्यवस्था लगभग उसी प्रकार की थी। साथ ही केंद्रीय विधान परिषद् में भी अनेक प्रकार के दोष थे, उसका संगठन न तो संतोषजनक था और न ही उसकी शक्तियाँ निश्चित थी। सभी महत्त्वपूर्ण समस्याएँ केन्द्रीय विधान परिषद् के लिए रखी जाती थी। ब्रिटिश सरकार एवं गवर्नर जनरल के बीच पत्र-व्यवहार भी बहुत बढ़ गया था। अत: इन सभी कारणों को ध्यान में रखते हुए 1861 में भारतीय विधान परिषद् अधिनियम बनाया गया जिसके प्रावधान निम्न थे-

- इस अधिनियम द्वारा गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी परिषद् के सदस्यों की संख्या 4 से बढ़ाकर 5 कर दी गई।
- लार्ड कैनिंग ने इस अधिनियम के तहत कार्य प्रणाली में सुविधा के लिए 'विभागीय प्रणाली' (पोर्टफोलियो सिस्टम) शुरू की।
- वायसराय को सौंपे गए मामले- नए प्रान्तों के निर्माण, उप-गवर्नरों की नियुक्ति, आदि से सम्बन्धित थे।

- गवर्नर जनरल को परिषद् के किसी भी प्रस्ताव को अस्वीकृत करने का अनन्य अधिकार था। गवर्नर जनरल सिर्फ भारत सचिव के प्रति उत्तरदायी था।
- इस अधिनियम के तहत 1862 ई. में बंगाल में, 1882 ई. में उत्तर-पश्चिमी प्रांत में तथा 1897 ई. में पंजाब में विधान परिषदों का गठन किया गया।
- इस अधिनियम द्वारा गवर्नर जनरल को अध्यादेश जारी करने का अधिकार मिला।
- मद्रास एवं बम्बई के गवर्नर एवं उप-गवर्नर को असाधारण तथा अतिरिक्त सदस्यों के रूप में सर्वोच्च विधान परिषद् की स्थानीय बैठकों में भाग लेने का अधिकार मिला।

इस अधिनियम के द्वारा भारतीयों में असंतोष बढ़ा। भारतीय जनता को वास्तविक प्रतिनिधित्व नहीं प्राप्त हो सका और विधान परिषद् के अधिकार अत्यंत सीमित हो गए। विधान परिषदों में राजा, महाराजा एवं जमींदारों की ही नियुक्ति की जाती थी। इस अधिनियम की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि इसके द्वारा विकेंद्रीकरण की नीति को प्रोत्साहन मिला। भारतीय इसकी मांग काफी समय से करते आ रहे थे। इसने भावी विकास एवं संवैधानिक प्रगति का मार्ग प्रशस्त किया।

1892 का भारतीय परिषद् अधिनियम

कांग्रेस की स्थापना के पश्चात् ब्रिटिश सरकार द्वारा किया गया यह पहला संवैधानिक सुधार का प्रयास था जिसके अंतर्गत निम्न बिंदु थे:-

- इस अधिनियम द्वारा गवर्नर जनरल के विधान-परिषद् तथा प्रान्तीय गवर्नरों के परिषदों गैर सरकारी सदस्यों की संख्या में वृद्धि कर दी गई।
- इस अधिनियम के द्वारा ही सदस्यों को वार्षिक बजट पर बहस करने तथा प्रश्नों द्वारा सूचनाएँ प्राप्त करने का अधिकार मिला।
- अप्रत्यक्ष रूप से इस अधिनियम द्वारा निर्वाचन-सिद्धांत को स्वीकार करता था और विधान परिषद् को कार्यकारिणी पर कुछ नियंत्रण प्रदान कर भारत में प्रतिनिधि सरकार की स्थापना का मार्ग प्रशस्त किया।
- इस अधिनियम के द्वारा वित्तीय विकेन्द्रीकरण पर भी जोर दिया गया।
- राष्ट्रीय कांग्रेस के उदारवादी सदस्य इससे संतुष्ट थे और यह दावा करते थे कि प्रारम्भिक कांग्रेस के लिए यह एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। परंतु उग्रवादी सदस्य इससे असंतुष्ट थे और इसकी कटु आलोचना की।

परिषद् के अतिरिक्त सदस्यों में से 2/5 सदस्य गैर-सरकारी होने थे। ये सदस्य भारतीय समाज के विभिन्न वर्गों, जातियों व विशिष्ट हितों के आधार पर नियुक्त किए गए। यह परंपरा कालांतर में भारतीय राष्ट्रीय एकता के विकास में बाधक बनी।

इस अधिनियम द्वारा एक ओर जहां संसदीय प्रणाली का रास्ता खुला एवं भारतीयों को कौंसिल में अधिक स्थान मिला, वहीं दूसरी ओर चुनाव पद्धति एवं गैर-सदस्यों की संख्या में वृद्धि ने असंतोष पैदा किया।

1909 का मार्ले-मिंटो सुधार

1892 के पश्चात् संवैधानिक सुधार की दिशा में अगला प्रयास 1909 में मार्ले-मिंटो सुधार के रूप में आया। ब्रिटिश शासन की 'फूट डालो और राज करो' की नीति का खुला चिट्ठा इस अधिनियम द्वारा लोगों के सामने आया जिसके महत्त्वपूर्ण बिंदु निम्न थे :

- सर्वोच्च विधान परिषद् तथा प्रान्तीय विधान परिषद् की सदस्य संख्या में वृद्धि, गवर्नर जनरल की कार्यकारी परिषद् में एक भारतीय सदस्य की नियुक्ति।
- इस अधिनियम के द्वारा भारत में पहली बार अप्रत्यक्ष एवं सीमित ही सही, निर्वाचन सिद्धांत को मान्यता मिली।
- मुसलमानों को उनकी साम्राज्य की सेवा एवं व्यावहारिक महत्त्व को देखते हुए पृथक् एवं प्रत्यक्ष प्रतिनिधित्व दिया गया।

- कुछ प्रतिनिधि प्रान्तीय विधान परिषदों द्वारा, कुछ बड़े-बड़े जमींदारों द्वारा और कुछ मंडल द्वारा चुने जाते थे।
- सुधारवादियों को संतुष्ट करने के लिए 'बजट' पर विचार करने एवं उस पर प्रस्ताव करने का अधिकार मिला। पूरक प्रश्न करने का अधिकार दिया गया।
- सार्वजनिक महत्त्व के विषयों पर भी प्रस्ताव प्रस्तुत करने का अधिकार मिला।

1909 ई. के वार्षिक अधिवेशन में कांग्रेस ने इस अधिनियम के प्रति घोर असंतोष व्यक्त किया। सुरेन्द्र नाथ बनर्जी, मदन मोहन मालवीय, विलियम वेडरबर्न आदि नेताओं ने इस अधिनियम की तीखी आलोचना की। इनकी आलोचना का सबसे बड़ा कारण पृथक् निर्वाचन मंडल की घोषणा था।

पृथक् निर्वाचन की व्यवस्था ने भारत में सांप्रदायिकता का बीज बो दिया जो कालांतर में भारत विभाजन का आधार बना। रैम्से मैकडोनाल्ड के अनुसार यह जनतंत्रवाद और नौकरशाही के बीच एक अधूरा और अल्पकालीन समझौता था।

1919 का मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधार

प्रथम महायुद्ध की समाप्ति पर ब्रिटिश सरकार ने पुनः संवैधानिक परिवर्त्तन लागू करने का प्रयास किया। 1917 ई. की मांटेग्यू घोषणा के आधार पर भारत में स्वशासन स्थापित करने के लिए ब्रिटिश संसद ने 1919 ई. का भारत सरकार अधिनियम पारित किया जिसके महत्त्वपूर्ण बिंदु निम्न थे:-

- इस अधिनियम द्वारा ब्रिटिश सरकार ने भारतीयों की भावना को देखते हुए 'उत्तरदायी सरकार' की स्थापना की ओर प्रयास शुरू कर दिया।
- इस अधिनियम के द्वारा गृह-सरकार के लिए भी कुछ उपबन्ध थे, जिनके तहत भारत-सचिव के भारतीय शासन में नियंत्रण को शिथिल किया गया और भारत के लिए ब्रिटेन में एक उच्चायुक्त की नियुक्ति की गई।
- कार्यकारिणी में भारतीय सदस्यों की संख्या बढ़ाकर तीन कर दी गई।
- इस अधिनियम द्वारा साम्प्रदायिकता को और बढ़ावा दिया गया इसके द्वारा मुसलमानों के साथ-साथ सिक्खों को भी साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व दिया गया और प्रतिनिधित्व देकर एक अस्वस्थ परंपरा की शुरूआत कर दी गई।
- विषयों को पहली बार केन्द्रीय और प्रांतीय भागों में बांटा गया। राष्ट्रीय महत्त्व के विषय पर गवर्नर जनरल परिषद् की सहायता से कानून बना सकता था। यह केंन्द्रीय सूची का विषय था। प्रांतीय महत्त्व के विषयों पर गवर्नर कार्यकारिणी तथा विधान मंडल की सहमति से कानून बनाता था।
- केन्द्र में द्विसदनीय व्यवस्था लागू की गई। पहला सदन राज्य परिषद् था, दूसरा केन्द्रीय विधान सभा। केन्द्रीय विधान सभा का कार्यकाल तीन वर्ष का था, जिसे गवर्नर जनरल बढ़ा भी सकता था।
- प्रांतों में द्वैध शासन लागू किया गया। इसके तहत् प्रांतीय विषयों को दो भागों में बांट दिया गया-आरक्षित एवं हस्तांतरित। आरक्षित विषयों का प्रशासन गवर्नर जनरल अपने द्वारा मनोनीत पार्षदों द्वारा करता था तो हस्तांतरित विषयों का प्रशासन उन मंत्रियों की सहायता से गवर्नर करता था, जो विधान मंडल के निर्वाचित सदस्य थे। परंतु इनकी पदस्थापना व पदच्युति गवर्नर की इच्छा पर आधारित थी। हस्तांतरित एवं आरक्षित विषयों का विभाजन भी दोषपूर्ण था।

द्वैध शासन प्रणाली 1 अप्रैल, 1937 तक चलती रही। इस अधिनियम की महत्त्वपूर्ण बुराई थी- प्रांतों में द्वैध शासन की स्थापना एवं सांप्रदायिक निर्वाचन पद्धति का विस्तार।

कांग्रेस ने 1919 के वार्षिक अधिवेशन में इन सुधारों को अपर्याप्त, असन्तोषजनक तथा अत्यन्त निराशाजनक कहकर इसकी निन्दा की। इन सुधारों का मुख्य तौर पर कांग्रेस के कुछ मध्यमवर्गीय नेताओं ने स्वागत किया जिसके चलते कांग्रेस में विभाजन भी हो गया।

1935 का भारत शासन अधिनियम

1919 ई. से 1935 ई. के बीच देश के राजनीतिक जीवन में महत्त्वपूर्ण परिवर्त्तन हुए। इस अवधि में कांग्रेस ने दो जन आंदोलनों को चलाया। इसके अतिरिक्त 1923 ई. में स्वराज दल का गठन, 1928 ई. में सर्वदलीय सम्मेलन एवं साइमन कमीशन का आगमन, परंतु इन सारे प्रयासों के बावजूद स्वशासन की प्राप्ति नहीं हो पायी और न भारतीय संविधान का कोई ढांचा बन सका। देश में राजनीतिक गतिरोध पूर्ववत बना रहा। इस गतिरोध को दूर करने के लिए ब्रिटिश सरकार ने 1935 ई. में भारत सरकार अधिनियम पारित किया जिसके महत्त्वपूर्ण प्रावधान निम्न थे:

- भारतीय संविधान के निर्माण में इसकी महत्त्वपूर्ण भूमिका रही। संविधान लागू होने तक (1950 तक) इसी अधिनियम के प्रावधानों से भारत का शासन चलता रहा।
- 1935 का अधिनियम 1919 के अधिनियम से बस एक मामले में विशिष्ट था कि इसमें अखिल भारतीय परिसंघ की परिकल्पना की गई थी, इसमें रियासतों की सहभागिता ऐच्छिक मानी गयी थी, इसलिए यह परिसंघ अस्तित्व में ही नहीं आया। अंग्रेज भी यही चाहते थे।
- विधायी शक्तियों का वितरण केन्द्र एवं प्रान्त के बीच तीन सूचियों-केन्द्रीय, प्रान्तीय एवं समवर्ती में किया गया था एवं अवशिष्ट शक्तियाँ गवर्नर जनरल में निहित थी।
- प्रान्तों में द्वैध शासन समाप्त कर दिया गया था और पूर्ण स्वायत्त शासन की स्थापना की गई थी। लेकिन अब केन्द्र में द्वैध शासन आरक्षित एवं हस्तांतरित शुरू कर दिया गया था।
- केन्द्रीय एवं प्रान्तीय विधान मंडलों के सदस्यों की संख्या बढ़ा दी गई थी, मतदाताओं की संख्या भी बढ़ गई थी।
- कांग्रेस में इस बात पर सर्वसम्मति थी कि 1935 के अधिनियम का विरोध किया जाए और यह भी कि इसके बावजूद 1937 के चुनाव में भाग भी लिया जाए।
- इस अधिनियम ने साम्प्रदायिक निर्वाचन पद्धति को 1919 से भी अधिक घृणित बना दिया। मुसलमानों को एक तिहाई स्थान दिया गया।
- दलितों के लिए भी पृथक् निर्वाचन की व्यवस्था की गई।
- मूल, अपीलीय तथा परामर्शदाता क्षेत्राधिकार वाले एक संघीय न्यायालय (Federal Court) की स्थापना का प्रावधान किया गया था। इसके निर्णयों की अपीलें लंदन में प्रीवी काउन्सिल में की जा सकती थी।
- अधिनियम ने गवर्नरों को विशेषाधिकार तथा 'उत्तर दायित्व' प्रदान किए। मंत्रियों के अधिकार और प्रांतीय स्वायत्तता पंगु बनकर रह गई। गवर्नर के पास विभिन्न प्रकार की विधायी शक्तियाँ भी थीं।

कांग्रेस में इस अधिनियम के प्रति विभिन्न प्रतिक्रियाएँ हुई। कांग्रेस के दक्षिणपंथी सदस्य इससे संतुष्ट थे। वे चुनाव में भाग लेने को इच्छुक थे तथा पदों को स्वीकार करने के पक्ष में थे। परंतु वामपंथी विचार वाले कांग्रेसी जैसे-नेहरू, सुभाष आदि दक्षिणपंथी विचार के विपरीत विचार रखते थे। वास्तव में इस अधिनियम के चलते कांग्रेस संगठन में सैद्धांतिक मतभेद पैदा हुआ। फिर भी 1936 ई. के फैजपुर अधिवेशन में कांग्रेस ने इस अधिनियम को स्वीकार कर लिया।

इस अधिनियम के द्वारा गवर्नर एवं गवर्नर जनरल के अधिकारों में वृद्धि कर दी गई। इसके तहत् संघीय शासन व्यवस्था दोषपूर्ण थी क्योंकि इसमें भारतीय राजाओं को अधिक स्थान दिया गया था एवं संघीय न्यायालय को अंतिम न्यायालय नहीं माना गया था। सांप्रदायिक निर्वाचन प्रणाली को और भी बढ़ा दिया गया था। इस अधिनियम में कहने को तो प्रांतीय स्वायतता की बात की गई थी पर वास्तविक रूप से अब भी समस्त अधिकार गवर्नर के पास ही थे।

इन कमियों के बावजूद भारत शासन अधिनियम 1935 भारतीय शासन व्यवस्था का मुख्य आधार बना। स्वतंत्रता प्राप्ति तक भारत की शासन व्यवस्था इसी आधार पर संचालित की जाती रही। यहां तक कि स्वतंत्र भारत के संविधान में भी इसके कई प्रावधान शामिल

कर लिए गए।

1947 का भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम

भारतीय संवैधानिक विकास के इतिहास में 1947 का भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम अंतिम था। माउंटबेटन योजना (3 जून, 1947) के अनुसार भारतीय स्वतंत्रता के संबंध में एक विधेयक 4 जुलाई, 1947 को पेश किया गया और 18 जुलाई को स्वीकृत कर लिया गया। 15 अगस्त, 1947 को यह लागू किया गया। इस अधिनियम के प्रावधान निम्न थे :

- प्रस्ताव में भारतीय प्रायद्वीप को दो राष्ट्र भारतीय संघ तथा पाकिस्तान में बांट दिया गया।
- भारतीय संघ या हिन्दुस्तान में वे सभी सम्मिलित किए जाएंगे, सिवाए उस प्रदेश के जो अब पाकिस्तान कहलाएगा। पाकिस्तान में सिन्ध, ब्रिटिश बलूचिस्तान, उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त, पश्चिम पंजाब तथा पूर्वी बंगाल होंगे। इसमें अन्तिम दो प्रान्तों की सुनिश्चित सीमाओं का निर्धारण एक सीमा आयोग या जनमत संग्रह द्वारा किया जाएगा।
- 15 अगस्त, 1947 के बाद भारत तथा पाकिस्तान पर अंग्रेजी संसद के क्षेत्राधिकार की समाप्ति हो जाएगी।
- भारत सरकार अधिनियम, 1935 तब तक यथासम्भव इन दोनों राज्यों का शासन चलाने में सहायता देगा, जब तक कि नए संविधान प्रत्येक राज्य द्वारा नहीं अपना लिया जाता। आवश्यकता पड़ने पर अधिनियम में परिवर्तन भी किया जा सकता है, जिसके लिए गवर्नर जनरल की अनुमति आवश्यक होगी।
- भारतीय रियासतों को यह अधिकार दिया गया कि वे अपनी इच्छानुसार भारत या पाकिस्तान किसी एक में विलय का निर्णय ले सकती हैं।
- जब तक दोनों अधिराज्यों में नए संविधान का निर्माण नहीं हो जाता, तबतक राज्यों की संविधान सभाओं को अपने लिए कानून बनाने को अधिकार होगा।
- दोनों अधिराज्यों के पास यह अधिकार सुरक्षित होगा कि वे अपनी इच्छानुसार राष्ट्रमंडल में बने रहें। ब्रिटेन में भारत मंत्री के पद को समाप्त कर दिया गया।
- जब तक प्रांतों में नए चुनाव नहीं कराए जाते, उस समय तक प्रांतों में पुराने विधान मंडल कार्य करते रहेंगे।

इस अधिनियम की सबसे बड़ी कमी यह थी कि इसमें देश को दो भागों में बांट दिया गया था। पर कांग्रेस एवं लीग दोनों ने ही वर्त्तमान परिस्थितियों में इसे स्वीकार कर लिया।

प्रमुख विचार

1. 1919 के सांविधानिक सुधारों के बाद उद्योग-धंधे चुने हुए प्रतिनिधियों के प्रति जिम्मेदार सरकार के हाथ में आ गए। दुर्भाग्यवश उपलब्ध धनराशि नाकाफी थी, इसलिए महत्वपूर्ण कदम नहीं उठाए जा सके। - **डी एच बुकानन**
2. तथाकथित 'संवैधानिक सुधार' की प्रक्रिया सरकारी नीति के दो अन्य तत्वों से संबद्ध रही - समय-समय पर 'नरमपंथियों को साथ लाना' एवं 'फूट डालो और राज करो के उपायों को चतुराईपूर्वक प्रयुक्त करना। - **(1892 के सुधार के बारे में)**
3. रिफार्म्स एक्ट और तत्संबंधी वक्तव्य ब्रिटिश जनता के इस अभिप्राय के परिचायक हैं कि वह भारत के साथ न्याय करना चाहती है और अब इस संबंध में कोई संदेह नहीं रहना चाहिए। इसलिए हमारा कर्तव्य है कि रिफार्म्स की कटु आलोचना न कर हम उन्हें सफल बनाने के लिए प्रयास करें। - **गांधी (1919 के एक्ट के बारे में)**

DISCOVERY

मॉडल उत्तर

प्रश्न : 1919 तक हुए सुधारों में स्थानीय स्वायत्त शासन का एक संक्षिप्त इतिहास लिखिए। (1992) (150 शब्दों में)

उत्तर : 1858 के भारतीय परिषद् अधिनियम के तहत बम्बई और मद्रास के लिए कानून बनाने तथा उसमें संशोधन लाने के लिए प्रान्तीय विधानसभाओं के गठन का अधिकार गवर्नरों को दिया गया। इस आधार पर बाद में बंगाल, उत्तर-पश्चिमी प्रान्त और पंजाब में विधान परिषदें गठित की गई। 1870 में लार्ड मेयो ने स्थानीय स्वायत्त सरकार की स्थापना पर बल देते हुए उसे शिक्षा, स्वास्थ्य, सफाई, परिवहन एवं अन्य लोक निर्माण संबंधी कार्यों के अधिकार दिए जाने की घोषणा की। 1882 ई. में लार्ड रिपन द्वारा नगरीय व ग्रामीण क्षेत्रों में म्यूनिसिपल बोर्ड, जिला बोर्ड व स्थानीय बोर्डों की स्थापना की। इसी प्रकार 1892 के भारतीय परिषद् अधिनियम द्वारा प्रान्तीय कौंसिलों के लिए डिस्ट्रिक्ट बोर्ड, म्युनिसिपल बोर्ड, विश्वविद्यालयों आदि के प्रतिनिधियों की व्यवस्था की गई। 1907 में गठित 'रॉयल कमीशन' ने ग्राम पंचायतों के पुनरूद्धार की वकालत की। 1909 के मार्ले-मिन्टो सुधार अधिनियम में प्रान्तीय विधानसभा में निर्वाचित गैर-सरकारी सदस्यों का निर्वाचन नगरपालिका, जिलामंडलों, विश्वविद्यालयों, जमींदारों एवं व्यापारिक संघों द्वारा किया जाता था। जिससे प्रांतों में स्थानीय स्वायत्त शासन की भावना का सुदृढ़ीकरण हो रहा था। 1919 के भारत सरकार अधिनियम द्वारा स्थानीय स्वशासन को राज्यों की स्थानान्तरित सूची में शामिल कर लिया गया।

प्रश्न : 1935 के अधिनियम की प्रमुख विशेषताएँ क्या थी? इस अधिनियम के प्रति जवाहर लाल नेहरू की प्रतिक्रिया क्या थी? उन्होंने 1937 के चुनाव में क्यों भाग लिया और उसका क्या परिणाम हुआ? (1990) (250 शब्दों में)

उत्तर : 1935 का अधिनियम भारतीय सांविधानिक विकास के इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इस अधिनियम को बिना प्रस्तावना के पास किया गया था। अधिनियम के अंतर्गत प्रान्तों में दोहरा शासन लागू कर दिया गया। अधिनियम में एक अखिल भारतीय संघ की स्थापना की योजना रखी गई तथा प्रान्तीय विधानमंडलों का विस्तार व केन्द्रीय विधानमंडल की सदस्य संख्या में वृद्धि की गई। मुसलमानों को उनकी संख्या से भी अधिक प्रतिनिधित्व दिया गया तथा हरिजनों के लिए भी साम्प्रदायिक निर्वाचन पद्धति को अपनाया गया। एक संघीय न्यायालय की स्थापना का प्रावधान किया गया तथा बर्मा को भारत से अलग कर दिया गया। गवर्नर व गवर्नर जनरल को विशेष उत्तरदायित्व सौंपे गए। जवाहर लाल नेहरू ने इस अधिनियम को दासता का घोषणा-पत्र" बताते हुए इसे भारतीय राजा-महाराजाओं, जमींदारों और प्रतिक्रियावादी तत्वों को खुश करने वाला बताया । उन्होंने इसे एक ऐसी गाड़ी की संज्ञा दी जिसके ब्रेक तो थे लेकिन उसका इंजन नहीं था। इस अधिनियम का विरोध करने के लिए कांग्रेस ने सत्ता से दूर रहना ही ठीक समझा। लेकिन बाद में उन्होंने इस समस्या को सुलझाने के लिए जवाबी रणनीति अपनाई अर्थात् सत्ता प्राप्त कर इस समस्या को सुलझाने की कोशिश करना।

जिसके अन्तर्गत संसद में घुसकर सरकारी कदमों का विरोध करना और ऐसे हालात उत्पन्न करना जिससे अधिनियम पर अमल न हो पाए। इसी रणनीति के तहत नेहरू ने 1937 के चुनावों में भाग लिया। चुनावों के परिणाम कांग्रेस के पक्ष में रहे। उसे भारी सफलता प्राप्त हुई। चुनाव परिणामों ने नेहरू को बहुत प्रभावित किया और नेहरू अब मानने लगे कि संघर्ष-विराम-संघर्ष की रणनीति ही सही है। कांग्रेस की शानदार सफलता के अन्तर्गत उसे बंगाल, असम, उत्तर-पश्चिम सीमा प्रान्त, पंजाब और सिंध को छोड़कर शेष सभी स्थानों पर स्पष्ट बहुमत प्राप्त हुआ था। औपनिवेशिक सत्ता के विकल्प के रूप में कांग्रेस की प्रतिष्ठा बढ़ी, तथा उसकी नीतियों में भी परिवर्तन होने लगा।

DISCOVERY

14. राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रति ब्रिटेन की प्रतिक्रिया

भूमिका

1885 ई. में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना हुई। इसकी स्थापना में कई अंग्रेज अधिकारी भी शामिल थे। ए.ओ. ह्यूम की भूमिका तो इसमें सबसे अधिक थी। वे एक सेवानिवृत आई.सी.एस. अधिकारी थे। भारतीय राष्ट्रवादियों और ब्रिटिश सरकार के बीच ह्यूम ने एक कड़ी का काम किया। राष्ट्रीय कांग्रेस के आरंभिक दिनों के कार्यकलाप से ब्रिटिश सरकार काफी संतुष्ट थी। इस काल में कांग्रेस ने ब्रिटिश सरकार के प्रति कोई क्रांतिकारी कदम नहीं उठाया तथा संवैधानिक तरीकों के द्वारा भारतीयों की मांगों की पूर्ति की चेष्टा की। इस प्रकार कांग्रेस ने आरंभिक दिनों में संविधान के दायरे में रहकर ही अपने उद्देश्यों की पूर्ति का प्रयास किया।

पर 1887 के बाद कांग्रेस के प्रति ब्रिटिश नीति में एकाएक परिवर्तन आया। ब्रिटिश सरकार को अब यह लगने लगा था कि कांग्रेस राष्ट्रवादी मांगों की ओर बढ़ रही है और इस कारण वह जनता में अधिक लोकप्रिय होती जा रही है। डफरिन ने अब यह कहना शुरू किया कि कांग्रेस का झुकाव राजद्रोह की ओर है। यह एक ऐसे अल्पमत का प्रतिनिधित्व करती है, जिसे सत्ता नहीं सौंपी जा सकती। ब्रिटिश सरकार की ओर से यह प्रचार किया जाने लगा कि कांग्रेस भारतीयों का सिर्फ नाम मात्र का प्रतिनिधित्व करती है।

1889 में कांग्रेस का अधिवेशन इलाहाबाद में हुआ। इस अधिवेशन में सरकार की ओर से काफी बाधाएं पहुंचाई गई। अधिवेशन में भाग लेनेवालों पर कड़ी निगरानी रखी गई। सरकारी कर्मचारियों को कांग्रेस के कार्यक्रमों से किसी भी प्रकार का संबंध नहीं रखने का आदेश दिया गया।

मुसलमानों को यह कहकर कांग्रेस से अलग रखने की कोशिश की गई कि कांग्रेस हिंदुओं का संगठन है। सैयद अहमद और बनारस के राजा चैत सिंह ने मिलकर कांग्रेस के विरोध के लिए पैट्रियोटिक सोसायटी की स्थापना की। सैयद अहमद खां द्वारा चलाए गए आंदोलन के कारण मुसलमान गुमराह हुए और उनमें पृथकतावादी भावनाएं पनपने लगीं। 1906 में मुस्लिम लीग की स्थापना भी हो गई।

कांग्रेस के प्रति सरकारी नीति में इस बदलाव के कई कारण थे:

1. कांग्रेस भारतीय राष्ट्रवाद के विचारों तथा आकांक्षाओं को एक स्पष्ट एवं संगठनात्मक रूप देने लगी थी।
2. कांग्रेस द्वारा भारत में शीघ्र ही प्रजातंत्रात्मक शासन तथा संसदीय प्रणाली के लागू किए जाने की मांग से अंग्रेज शासक घबरा उठे।
3. ये कांग्रेस की बढ़ती हुई लोकप्रियता से परेशान थे। उन्हें लगने लगा था कि अगर कांग्रेस इसी तरह लोकप्रिय होती रही तो उन्हें शीघ्र ही भारत छोड़ना पड़ेगा।
4. कुछ आर्थिक आलोचकों ने भारत की समस्याओं के लिए अंग्रेजों को उत्तरदायी ठहराया। इससे जनता में अंग्रेजों के प्रति रोष बढ़ रहा था।

सरकार द्वारा कांगेस के प्रति इस प्रकार के कठोर रूख के चलते सरकारी संरक्षण तथा प्रश्रय से कांग्रेस को हाथ धोना पड़ा। 20वीं

सदी के आरंभ में लार्ड कर्जन ने भी कांग्रेस के प्रति कठोर रूख अपनाया। उसने इच्छा व्यक्त की कि हम कांग्रेस को मृत होते देखना चाहते हैं।

1907 ई. में कांग्रेस में फूट पड़ गई और कांग्रेस गरमपंथी और नरमपंथी दल में बंट गया। अंग्रेज इससे काफी प्रसन्न हुए। अब उन्होंने नरमपंथियों को अपने पक्ष में मिलाने का प्रयास किया। 1909 में एक अधिनियम पारित हुआ, जिसका अभिप्राय नरमपंथियों को अपने पक्ष में करना था। इसमें मुसलमानों के लिए सांप्रदायिक निर्वाचन की व्यवस्था की गई थी। इसका उद्देश्य कांग्रेस के जनान्दोलन को कमजोर करना था। इस काल में भाषण और प्रेस की स्वतंत्रता पर भी रोक लगाई गई।

प्रथम विश्वयुद्ध काल में इस नीति में थोड़ी ढील दी गई। कारण कि अंग्रेज इस काल में भारतीयों का समर्थन प्राप्त करना चाहते थे। 1920 में गांधीजी के नेतृत्व में जनान्दोलन का दौर आरंभ हुआ। इसके कारण अंग्रेजों की नीति फिर कठोर हो गई। असहयोग के दौरान भारी संख्या में कांग्रेसी कार्यकर्ताओं को गिरफ्तार किया गया। मुसलमानों को भी भड़काया गया, जिसके कारण सांप्रदायिक दंगे हुए। गांधी आदि नेता गिरफ्तार किए गए।

1930 में सविनय अवज्ञा और 1942 के भारत छोड़ो आंदोलन के दौरान भी मुसलमानों ने कांग्रेस का साथ नहीं दिया। मुसलमानों के तुष्टीकरण को इस सीमा तक बढ़ावा दिया गया कि अंत में इसी आधार पर भारत का विभाजन हुआ।

कांग्रेस के प्रति ब्रिटिश सरकार की नीति ब्रिटेन की राजनीतिक परिस्थितियों से भी प्रभावित थी। ब्रिटिश राजनीतिक जीवन उदार और अनुदार दल में बंटा हुआ था। अनुदार दल वाले भारतीयों को स्वशासन के लिए सर्वथा अयोग्य समझते थे। इसलिए वे कांग्रेस जैसी संस्था को कोई महत्त्व नहीं देते थे। भारतीय मुसलमान अनुदार वर्ग के समर्थक थे। दोनों ही कांग्रेस को हिंदुओं का संगठन मानते थे। जबकि उदार दल के नेता कांग्रेस समर्थक थे। कई उदारवादियों ने कांग्रेस की अध्यक्षता की, इनमें जार्ज यूल, वेंडरबर्न आदि प्रमुख थे। स्वतंत्रता प्राप्ति के समय उदारवादी नेता एमरी ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई थी।

इस प्रकार कांग्रेस के प्रति ब्रिटिश सरकार की नीति भारतीय स्थिति के साथ-साथ ब्रिटेन की राजनीतिक स्थिति से भी प्रभावित थी।

प्रमुख विचार

1. कांग्रेस का महल भरभरा रहा है और भारत में रहते हुए मेरी मुख्य महत्त्वाकांक्षा यह है कि मैं शांति के साथ इसे मरने में सहयोग दे सकूं।
   - लार्ड कर्जन

DISCOVERY

15. कांग्रेस की नीतियाँ

पूंजीपति वर्ग के प्रति कांग्रेस की नीति

1885 में कांग्रेस की स्थापना के बाद से वह लगातार अपने जनाधार का विस्तार करती रही। इस क्रम में वह समाज के सभी वर्गों को साथ लेकर चलने का प्रयास कर रही थी। कांग्रेस की स्थापना में भी पूंजीपति वर्ग ने अपना सहयोग प्रदान किया था। कुछ इतिहासकार यह भी मानते हैं कि कांग्रेस की स्थापना पूंजीपति वर्ग के संरक्षण के लिया हुआ था। लेकिन यह दृष्टिकोण प्रामाणिक तौर पर आज स्वीकार नहीं किया जाता। फिर भी इससे इतना तो स्पष्ट होता ही है कि कांग्रेस और पूंजीपतियों के हित परस्पर संबद्ध थे।

कांग्रेस के आरंभिक नेताओं ने भारत के आर्थिक शोषण की तीव्र भर्त्सना की एवं भारत की समृद्धि के लिए देशी उद्योगों की स्थापना एवं प्रोत्साहन की मांग की। इन्होंने भारतीय अर्थव्यवस्था में विदेशी कंपनियों एवं पूंजी के वर्चस्व की आलोचना की। वे एक ऐसे आर्थिक तंत्र की स्थापना के पक्षधर थे जिसमें देशी पूंजी एवं उद्योगों को बढ़ावा मिले। आरंभिक राष्ट्रवादियों की यह नीति प्रत्यक्षतः एवं परोक्षतः भारतीय पूंजी एवं पूंजीपति वर्ग को प्रोत्साहित करता थी। कांग्रेस के स्वदेशी के नारे ने भी देशी उत्पादन पद्धति को बढ़ावा दिया।

प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान भारत में देशी उद्योगों की स्थापना एवं उत्पादन को बढ़ावा मिला। इसका मुख्य कारण यह था कि युद्धकाल के दौरान देश में आयातित वस्तुओं की कमी हो गई। साथ ही युद्ध सामग्री की मांग में वृद्धि के कारण ब्रिटिश सरकार ने भारतीय उद्योगों में उत्पादन को बढ़ावा दिया। पर युद्ध की समाप्ति के बाद स्थिति बदल गई। अब विदेशी वस्तुओं का आयात पुनः आरंभ हुआ। इससे देशी उद्योगों को संकट का सामना करना पड़ा। कांग्रेस ने इन उद्योगों के लिए संरक्षण की मांग की ताकि ये विदेशी वस्तुओं के साथ प्रतिस्पर्धा कर सकें।

भारत में देशीय पूंजी के विकास एवं उद्योगों की स्थापना के साथ श्रमिकों का एक वर्ग भी उभर कर सामने आया। इससे पूंजीपति एवं श्रमिक वर्ग के बीच टकराव आरंभ हुआ। कांग्रेस के अनेक नेता श्रमिकों की न्यायोचित मांगों का समर्थन करते थे। पर उन्होंने पूंजीपति वर्ग के खिलाफ सीधे आंदोलन में इन श्रमिकों का साथ नहीं दिया। इसका मुख्य कारण यह था कि कांग्रेस राष्ट्रीय आंदोलन में पूंजीपति एवं श्रमिक दोनों वर्गों का समर्थन प्राप्त करना चाहती थी।

गांधीजी यद्यपि कुटीर उद्योग के समर्थक थे, पर उन्होंने देशी पूँजी द्वारा स्थापित बड़े उद्योगों का पक्ष लिया। गांधीजी के स्वदेशी वस्तुओं के इस्तेमाल एवं आर्थिक आत्मनिर्भरता के नारे ने देशी पूंजी से स्थापित उद्योगों को प्रश्रय दिया। गांधीजी की कई भारतीय उद्योगपतियों से घनिष्ठ मित्रता थी। कई औद्योगिक घराने कांग्रेस को सक्रिय आर्थिक सहयोग देते थे। गांधीजी ने इरविन के सामने जो 11 सूत्री मांग रखी थी, उनमें चार का संबंध उद्योगपति वर्ग से था। इनमें सबसे प्रमुख और विवादित था- तटकर की कटौती।

जवाहर लाल नेहरू यद्यपि समाजवादी विचारों से प्रभावित थे, फिर भी उन्होंने समग्र राष्ट्रीयकरण का समर्थन नहीं किया। वे एक प्रतिस्पर्धी अर्थव्यवस्था के निर्माण के लिए निजी पूँजी का समर्थन करते थे। यही कारण है कि देश की आजादी के बाद जब वे प्रधानमंत्री बने, तो उन्होंने बड़े उद्योगों की स्थापना को प्रोत्साहित किया एवं मिश्रित अर्थव्यवस्था को अपनाया।

मजदूर वर्ग के प्रति कांग्रेस की नीति

भारत में पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के निर्माण के साथ ही मजदूर वर्ग का उदय हुआ। पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में मजदूरों के शोषण तथा पूंजीपति एवं श्रमिकों के हितों के परस्पर टकराव ने कांग्रेस के सामने एक दुविधा खड़ी कर दी। भारत में जिन नवीन उद्योगों की स्थापना हुई उनमें विदेशी के साथ देशी पूंजी भी लगी हुई थी। कांग्रेस विदेशी पूंजी के बढ़ते प्रभाव का तो विरोध करती थी पर आर्थिक आत्मनिर्भरता के लिए देशी पूंजी का समर्थन भी करती थी। कांग्रेस के सामने एक दुविधा यह भी थी कि राष्ट्रीय आंदोलन में वह पूंजीपति एवं श्रमिक दोनों वर्गों का समर्थन प्राप्त करना चाहती थी। ऐसे में किसी एक के हितों का समर्थन दूसरे के हितों के विरुद्ध होता। फलतः कांग्रेस ने इस मुद्दे पर सुझबुझ भरा संतुलित दृष्टिकोण अपनाया। कांग्रेस श्रमिकों के उचित मांगों, यथा कार्य के घंटों में कमी, साप्ताहिक छुट्टी एवं कारखाने में कार्य करते वक्त हुई घटनाओं का हर्जाना का तो समर्थन करती थी पर श्रमिकों के ऐसे किसी मांग का समर्थन नहीं करती थी, जिससे उत्पादन की प्रक्रिया एवं संपत्ति को क्षति हो।

कांग्रेस के नेता श्रमिकों के संगठन एवं आंदोलन से आरंभ से ही जुड़े रहे। श्रमिकों ने भी राष्ट्रीय आंदोलन में बढ़चढ़ कर भाग लिया। 1908 में बम्बई में सूती मिल में हड़ताल हुई। यह हड़ताल तिलक की गिरफ्तारी के विरोध में किया गया था। एनी बेसेंट के नजदीकी सहायक बी० पी० वाडिया ने अप्रैल 1918 में मद्रास श्रमिक संघ की स्थापना की। यह भारत का पहला ट्रेड यूनियन था। 1920 ई० में गांधीजी ने मजदूर महाजन संघ की स्थापना की जिसमें मालिकों एवं श्रमिकों के बीच शांतिपूर्ण सहयोग स्थापित करने की बात कही गई थी। गांधीजी अहमदाबाद के मिल मजदूरों की मांग के समर्थन में हड़ताल में शामिल भी हुए थे। अंततः मजदूरों की मांग स्वीकार कर ली गई।

अखिल भारतीय स्तर पर श्रमिकों के संघ बनाने की कोशिश का आरंभ राष्ट्रीय नेताओं द्वारा ही हुआ। 1920 में बम्बई में अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन की स्थापना की गई। कांग्रेस के नेता लाला लाजपत राय ने इसके प्रथम अधिवेशन ही अध्यक्षता की। इसमें मोती लाल नेहरू, एनी बेसेंट, सी. एफ. एन्ड्रूज एवं बी. पी. वाडिया जैसे नेता शामिल हुए।

1937 में राज्यों में कांग्रेस की सरकार की स्थापना से श्रमिकों की प्रेरणा एवं आकांक्षा को प्रोत्साहन मिला। 1936 से 39 के बीच ट्रेड यूनियन की संख्या में दोगुनी वृद्धि हुई। 1944 में सरदार बल्लभ भाई पटेल ने भारतीय राष्ट्रीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस की स्थापना की।

किसानों के प्रति कांग्रेस की नीति

भारत में ब्रिटिश सरकार ने एक नवीन प्रकार की कृषि पद्धति का आरंभ किया। इसके अंतर्गत भूमि का स्वामित्व जमींदार नामक एक मध्यस्थ वर्ग को सौंप दिया गया। परंपरागत भूमि व्यवस्था में किसान ही भूमि का स्वामी समझा जाता था। इस प्रकार नई व्यवस्था में किसान अपनी भूमि से वंचित कर दिया गया। उनसे भूमि पर कृषि कार्य के बदले लगान वसूल किया जाता था। लगान की दर काफी अधिक होती थी। जमींदार किसानों से बेगार भी कराता था। किसानों को भूमि पर खास किस्म की फसल उपजाने के लिए भी दबाव डाला जाता था। किसान इस व्यवस्था से खासे नाराज थे और वे शोषण से मुक्ति चाहते थे। वे जमींदारी व्यवस्था के भी खिलाफ थे।

किसानों ने इस शोषण के खिलाफ संघर्ष भी किया। बंगाल के स्थानीय कांग्रेसी नेता किसानों की इन मांगों से सहानुभूति रखते थे। पर राष्ट्रीय स्तर के नेता इनमें अधिक रुचि नहीं रखते थे। 1917 में पहली बार गांधी के नेतृत्व में चंपारण में निलहे किसानों का आंदोलन हुआ। सरकार को किसानों की मांग माननी पड़ी एवं तीन कठिया भूमि व्यवस्था को समाप्त कर दिया गया। किसानों से वसूल किए जाने वाले कर में भी एक चौथाई की कमी कर दी गई। इस आंदोलन से किसान राष्ट्रीय आंदोलन से अभिन्न रूप से जुड़ गए।

कांग्रेस ने किसान सभाओं के गठन में भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। होमरूल लीग की गतिविधियों के कारण उत्तर प्रदेश में किसान सभा का गठन हुआ। 1918 में गौरी शंकर मिश्र तथा इंद्र नारायण द्विवेदी ने उत्तर प्रदेश किसान सभा का गठन किया। इस कार्य में मदन मोहन मालवीय ने सराहनीय योगदान किया।

असहयोग आंदोलन के दौरान जवाहर लाल नेहरू ने उत्तर प्रदेश के कई गांवों का दौरा किया। उन्होंने किसानों की समस्याओं को भी

करीब से देखा। विश्व व्यापी आर्थिक मंदी एवं बढ़ते कृषक शोषण के खिलाफ किसानों ने सविनय अवज्ञा आंदोलन में बढ़चढ़ कर भाग लिया। इस आंदोलन ने देश के बहुत बड़े हिस्से में टैक्स और लगान न देने के अभियान का रूप के लिया।

1936 में कांग्रेस एवं किसान सभा का सम्मेलन साथ-साथ लखनऊ में हुआ। लखनऊ में ही अखिल भारतीय किसान सभा का गठन हुआ। कांग्रेस के कई नेता किसानों के सम्मेलन में शामिल हुए। किसान सभा ने पहली बार इसी सम्मेलन में जमींदारी उन्मूलन का प्रस्ताव पास किया। कांग्रेस ने भी इसका समर्थन किया। 1937 के चुनावी घोषणा पत्र में कांग्रेस ने किसानों की कई मांगों को शामिल कर लिया। इस चरण में किसानों की जो तात्कालिक मांगे थीं- उनमें टैक्स में कटौती, सामंतों की गैर कानूनी वसूलियां, बेगार की समाप्ति, ऋण के बोझ में कमी तथा गैर कानूनी तरीके से ली गई भूमि की वापसी आदि प्रमुख थी। 1937-39 के कांग्रेसी शासन के दौरान किसान आंदोलन अपने उत्कर्ष पर पहुँच गया। एक तो इस काल में आंदोलन के लिए नागरिक स्वतंत्रता अधिक मिली। दूसरे, कांग्रेसी सरकारों ने कृषि कानून में सुधार के लिए कई ठोस कदम भी उठाए।

देसी रियासतों के प्रति कांग्रेस की नीति

जहाँ तक कांग्रेस का देसी रियासतों के आंदोलन में हस्तक्षेप का प्रश्न है, यह 1920 के नागपुर अधिवेशन से संभव हो सका। जिसमें रियासत के शासकों को यह कहा गया कि वे अविलम्ब वहाँ पर उत्तरदायी सरकार का गठन कर साथ ही रियासतों की जनता को कांग्रेस संगठन में सदस्य बनने की अनुमति दे दी। परंतु इसके साथ ही यह भी कहा गया कि वे कांग्रेस के नाम पर रियासत में किसी प्रकार की राजनीतिक गतिविधियों का प्रारंभ नहीं कर सकते। ऐसा उन्होंने निम्न कारण से किया:

- ब्रिटिश भारत एवं रियासतों की स्थिति में अंतर था।
- रियासतों के मध्य भी स्थिति अलग-अलग थी।
- वहाँ की जनता दलित व पिछड़ी थी।
- कानूनी तौर पर रियासतें स्वाधीन थीं।

रियासत की जनता को कांग्रेस के नाम पर किसी प्रकार की कार्यवाही नहीं करने देने का उद्देश्य यह था कि वह स्वयं संघर्ष के लिये संगठित हो। 1927 में कांग्रेस ने 1920 वाली बात को ही दुहराया एवं 1929 के लाहौर अधिवेशन में नेहरू ने स्पष्ट कहा कि देसी रियासतें अब शेष भारत से अलग नहीं रह सकतीं एवं इन रियासतों के तकदीर का फैसला सिर्फ वहाँ की जनता ही कर सकती है। बाद के वर्षों में कांग्रेस ने राजाओं से रियासतों में मौलिक अधिकारों को बहाली की मांग की।

1935 के एक्ट का रियासतों की जनता पर काफी गहरा प्रभाव पड़ा। इस एक्ट के अनुसार एक अखिल भारतीय संघ की स्थापना की व्यवस्था की गई, जिसमें रजवाड़ों को 23 प्रतिशत तक सीट आवंटित किया गया। इसका प्रभाव यह पड़ा कि पहले तो रजवाड़ों की जनता को लगा कि वे भारत के अंग है, एवं दूसरा यह कि कांग्रेस एवं ।सस प्दकपं च्मवचसमे ब्वदमितमदबम दोनों अंग्रेजों की इस चाल को भांप गए कि वे राष्ट्रीय ताकतों को तोड़ना चाहते हैं।

1937 के चुनावों के पश्चात् कांग्रेस कई प्रांतों में सतासीन हुई, अब वह महज एक पार्टी नहीं थी, अपितु शासक वर्ग भी थी, जो अपने शासित प्रांतों के पड़ोसी रियासतों पर प्रभाव डाल सकती थी। इसके शासन में आने का प्रभाव भी पड़ा। रियासतें नवीन सुधारों से अनुप्राणित हो, संघर्ष के लिये कसमसा उठी। अनेक रियासतों में जहाँ कोई संगठन नहीं था, बड़ी संख्या में प्रजामंडलों का गठन हुआ। हैदराबाद, मैसूर, ट्रावणकोर, जयपुर, कश्मीर आदि रियासतों में जन संघर्ष बृहत पैमाने पर प्रारंभ हुआ। इन संघर्षों में नेतृत्व देने वाले कतिपय नाम थे-शेख अब्दुल्ला, यू.एन. ढेबर, जमनालाल बजाज आदि।

अब इन नये घटनाक्रमों से प्रभावित होकर कांग्रेस ने भी अपना रूख बदला। 1938 के हरिपुरा अधिवेशन में यह मानने वाली कांग्रेस कि रियासतों में किसी भी प्रकार का राजनीतिक आंदोलन कांग्रेस के नाम पर न हो, 1939 के त्रिपुरी अधिवेशन में इस बात को स्वीकार कर ली कि अब कांग्रेस के नाम पर भी रियासतों में आंदोलन हो सकते हैं। इस नीति में परिवर्तन के मुख्य कारण निम्न थे:

1. अब रियासत की जनता संघर्ष पर उतारू थी।

2. वह राजनीतिक रूप से जागरुक हो चुकी थी।
3. सोशलिस्टों एवं वामपंथियों का भी दबाव था।
4. अब रियासतों एवं ब्रिटिश भारत के मध्य के सारे अवरोध टूट चुके थे। गांधीजी के अनुसार अब कांग्रेस भी काफी सशक्त हो चुकी थी। ब्रिटिश शासन से अब डरने की बात नहीं थी।

1939 में ही लुधियाना के ऑल इंडिया पीपुल्स कांग्रेस में जवाहर लाल को अध्यक्ष चुना गया एवं ब्रिटिश भारत और देसी रियासतों में छिड़े आंदोलन अब खुले रूप में एक दूसरे से जुड़ गए।

सन् 1942 के भारत छोड़ो आंदोलन का प्रभाव देशव्यापी था। गांधीजी ने कहा था कि यह आंदोलन सिर्फ ब्रिटिश भारत का नही, बल्कि संपूर्ण भारत का आंदोलन है एवं सारे भारतवासी इसमें शरीक होंगे। फलत: रियासतों ने भी इस आंदोलन में अपना तीव्र तेवर दिखाया।

जब द्वितीय विश्व युद्ध एवं भारत छोड़ो आंदोलन के पश्चात् सता हस्तांतरण की बात होने लगी तो विभिन्न रियासतों के भारत में विलय पर जोरदार संघर्ष प्रारंभ हुआ। इधर अंग्रेजों ने अपना पेंच लगा दिया एवं रियासतों को स्वाधीन रहने का अधिकार दे दिया गया, फलत: समस्या विकट हो गई।

स्वतंत्रता के पश्चात् कई रियासतों के राजाओं ने अपनी तथा जनता की इच्छा के अनुसार भारत में विलय के पत्र पर हस्ताक्षर कर दिये, परंतु कुछ रियासतों ने स्वाधीन रहने की इच्छा प्रकट की, जैसे हैदराबाद, ट्रावणकोर, जूनागढ़, कश्मीर आदि। सभी रियासतें भारत में मिल गई। केवल हैदराबाद ने मिलने की इच्छा प्रकट नहीं की। 13 सितंबर 1948 ई. को भारतीय सेना वहाँ प्रवेश कर गई और उसे भारतीय संघ में शामिल कर लिया गया। भारतीय सेना का हैदराबाद रियासत की जनता ने जबरदस्त स्वागत किया।

क्रांतिकारियों के प्रति नीति

कांग्रेस आरंभ से ही एक उदारवादी और संविधानवादी पार्टी मानी जाती थी। वह संविधान के दायरे में रहकर ही लोकतांत्रिक सुधारों की मांग करती थी। कांग्रेस क्रांतिकारी बदलावों की तुलना में क्रमिक बदलाव में विश्वास करती थी। लोकतांत्रिक सुधारों के लिए वह सरकार के साथ सहयोग भी करती थी। आरंभिक राष्ट्रवादी ब्रिटिश सरकार को देश के हित में मानते थे जबकि क्रांतिकारी राष्ट्रवादी ब्रिटिश सरकार के विरोधी थे। वे उसे हिंसक तरीके अपना कर उखाड़ फेंकना चाहते थे। इस प्रकार विचारधारा एवं रणनीति के स्तर पर दोनों में काफी मतभेद थे। आरंभिक कांग्रेसी नेता इसी कारण क्रांतिकारियों से दूरी बनाए रखते थे। क्रांतिकारी नेता भी कांग्रेस की सुधारों की मांग की नीति को भिक्षावृति कहकर उसकी खिल्ली उड़ाया करते थे। हालांकि लाला लाजपत राय, बाल गंगाधर तिलक एवं विपीन चंन्द्र पाल जैसे नेता उग्र विचारों के प्रति सहानभूति रखते थे।

गांधी जैसे नेता के राष्ट्रीय आंदोलन में प्रवेश के कारण कांग्रेस के आंदोलन ने पूरी तरह से अहिंसक रूप ले लिया। गांधी दक्षिण अफ्रीका में अपने अहिंसक आंदोलन की सफलता से काफी उत्साहित थे। वे इसका प्रयोग भारत में भी करना चाहते थे। उनका मानना था कि हिंसक आंदोलन को कुचलने के लिए सरकार उससे भी बड़ी हिंसा का सहारा लेगी। ऐसी स्थिति में सरकारी हिंसा का मुकाबला आंदोलनकारी नहीं कर पाएंगे। गांधी जनता की प्रवृत्ति को भी अच्छी तरह समझते थे। वे मानते थे कि हिंसक आंदोलन में भारत की आम जनता, किसान एवं मजदूर तथा महिलाएं शामिल नहीं हो पाएंगे, ऐसे में कोई भी आंदोलन प्रभावी नहीं हो सकता। गांधीजी ने अंग्रेजों के खिलाफ आंदोलन को व्यापकता प्रदान करने के उद्देश्य से ही अहिंसक मार्ग को चुना। यही कारण है कि गांधी के आह्वान पर असहयोग आंदोलन में बड़ी संख्या में लोगों ने भाग लिया। किसान, मजदूर, बुद्धिजीवी, महिलाएं एवं युवा भारी संख्या में इस आंदोलन में शरीक हुए। इसी बीच चौरी चौरा की घटना घटी। यहां जनता की उग्र भीड़ ने थाने में आग लगा दी एवं 21 पुलिस कर्मियों को जिंदा जला दिया। गांधीजी ने इस घटना के बाद आंदोलन को वापस ले लिया। गांधीजी के कई सहयोगियों ने इनके इस फैसले की आलोचना की। पर गांधी ने इसे सही निर्णय बताया। दरअसल गांधीजी आंदोलन को अहिंसक तरीके से चलाना चाहते थे। और उन्हें किसी प्रकार की हिंसा स्वीकार नहीं थी। उन्होंने सविनय अवज्ञा एवं भारत छोड़ो आंदोलन के दौरान भी अहिंसक तरीके को चुना।

लाहौर षड्यंत्र केस के मुकदमे में भगत सिंह एवं राजगुरु को फांसी की सजा सुनाई गई। कुछ नेताओं का मानना था कि गांधी इरविन के सामने उनकी मुक्ति का प्रस्ताव रख सकते थे। पर गांधी ने ऐसा नहीं किया। गांधीजी भगत सिंह की राष्ट्रभक्ति से व्यक्तिगत तौर पर काफी प्रभावित थे। उन्होंने कई स्थलों पर उनकी तारीफ भी की थी। पर वे भगत सिंह की हिंसा की नीति से सहमत नहीं थे। यही कारण है कि उन्होंने इरविन के सामने भगत सिंह की मुक्ति का प्रस्ताव नहीं रखा।

कांग्रेस की धार्मिक नीति

कांग्रेस आरंभ से ही एक धर्मनिरपेक्ष पार्टी थी। उसमें सभी धर्म एवं संप्रदाय के लोग शामिल थे-क्या हिंदू, क्या मुसलमान, क्या सिक्ख, क्या ईसाई एवं क्या पारसी। कांग्रेस के तीसरे अधिवेशन की अध्यक्षता एक मुस्लिम नेता बदरूद्दीन तैयबजी ने की थी। ए० ओ० हयूम इसके पहले सचिव एवं जार्ज यूल पहले ईसाई अध्यक्ष थे। कांग्रेस के नेता इसे एक राष्ट्रीय पार्टी बनाने के उद्देश्य से सभी धर्म के लोगों को साथ लेकर चलना चाहते थे। कांग्रेस की इस नीति से सरकार का चिंतित होना स्वाभाविक था। अत: राष्ट्रीय आंदोलन को कमजोर करने के लिए सरकार ने एक चाल चली। यह चाल थी-सांप्रदायिक आधार पर एक दल मुस्लिम लीग का गठन। कांग्रेस ने मुस्लिम लीग के गठन का विरोध किया। 1909 के एक्ट में सरकार ने मुसलमानों के लिए पृथक् निर्वाचन मंडल की व्यवस्था की। इसका मुख्य उद्देश्य भारतीय जनमत को विभाजित कर राष्ट्रीय आंदोलन को कमजोर करना था। कांग्रेस के नेता सरकार की इस नीति को भलीभांति समझते थे। फलत: उन्होंने पृथक् निर्वाचन मंडल का विरोध किया।

मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधार में सरकार ने एक बार फिर धर्म के आधार पर राष्ट्रीय जनमत को विभाजित करने का प्रयास किया। इस बार सिक्खों के लिए पृथक् निर्वाचन की व्यवस्था की गई। कांग्रेस ने मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधार का विरोध किया और कहा कि सिक्खों के लिए पृथक् निर्वाचन की व्यवस्था भारतीयों को बांटने का प्रयास है।

धार्मिक एकजुटता को बनाए रखने के लिए गांधीजी ने खिलाफत आंदोलन में कांग्रेस एवं गैर-मुस्लिम जनता को भी भाग लेने को कहा। 1928 में जब जिन्ना ने 14 सूत्री मांग प्रस्तुत की तो कांग्रेस ने इसे नकार दिया। कांग्रेस की धर्म निरपेक्ष छवि का ही परिणाम था कि 1937 के चुनाव में कांग्रेस को मुस्लिम बहुल सीटों पर भी विजय मिली। धार्मिक आधार पर पृथक् मुस्लिम राष्ट्र पाकिस्तान की मांग को प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से स्वीकार करने वाले क्रिप्स एवं कैबिनेट मिशन को भी कांग्रेस ने नकार दिया।

पर कांग्रेस के धर्म निरपेक्ष छवि को तब बड़ा धक्का लगा, जब 1946 के चुनाव में कांग्रेस मुस्लिम बहुल प्रांतों में पराजित हो गई। मुस्लिम लीग ने अब अधिक हिंसक और आक्रामक रणनीति अपनाई, जिसके कारण 1947 में देश का विभाजन करना पड़ा। पर कांग्रेस के नेताओं ने इस विभाजन को मन से स्वीकार नहीं किया।

कांग्रेस की आर्थिक नीति

19वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में बुद्धिजीवियों ने ब्रिटिश शासन की आर्थिक नीतियों का समर्थन किया क्योंकि उनका मानना था कि अंग्रेज सरकार अत्याधुनिक तकनीक एवं पूंजीवादी आर्थिक संगठन द्वारा देश का आधुनिकीकरण कर रही है। लेकिन 1860 के पश्चात् भारतीयों में राजनीतिक चेतना का तेजी से प्रसार हुआ तथा ब्रिटिश शासन की आर्थिक नीतियों का वास्तविक स्वरूप उनके सम्मुख उभरने लगा।

कुछ राष्ट्रवादी नेताओं ने इसी समय साम्राज्यवादी सरकार की आर्थिक शोषण की नीतियों को सार्वजनिक किया तथा लोगों के सामने यह स्पष्ट किया कि अंग्रेज सरकार एक सुविचारित योजना के तहत भारत को लूटने की प्रक्रिया में संलग्न है। इन राष्ट्रवादी आर्थिक विश्लेषकों में दादा भाई नौरोजी का नाम सबसे प्रमुख है, सर्वप्रथम इन्होंने ही ब्रिटिश शासन की आर्थिक नीतियों का विश्लेषण किया तथा अपनी पुस्तक, पावर्टी एण्ड अनब्रिटिश रूल इन इंडिया, में धन के निकास का सिद्धांत प्रस्तुत किया। दादा भाई नौरोजी के अतिरिक्त जस्टिस महादेव गोविंद रानाडे, रोमेश चंद्र दत्त, गोपाल कृष्ण गोखले भी भारत के प्रमुख आर्थिक विश्लेषकों में से थे। इन राष्ट्रवादी आर्थिक विश्लेषकों ने अपने अध्ययनों से यह सिद्ध किया कि किस प्रकार यह अनाज एवं कच्चे माल के रूप में भारत का धन इंग्लैण्ड भेजा जाता है, और किस प्रकार वह विनिर्मित उत्पादों का रूप लेकर भारतीय बाजार पर कब्जा करता है। इनके अनुसार भारतीय धन

इंग्लैण्ड पहुंचकर वापस भारत आता है, तथा पुनः उसे यहां पूंजी के रूप में लगा दिया जाता है। इस प्रकार यह देश के शोषण का दुष्चक्र बन चुका है। इन प्रारंभिक राष्ट्रवादी अर्थशास्त्रियों ने सरकार के इस अन्यायपूर्ण शोषण के विरुद्ध भारतीय बुद्धिजीवियों को संगठित करने का प्रयत्न किया तथा भारतीय अर्थव्यवस्था को उपनिवेशी दासता से विमुक्त करने की मांग उठायी। इन्होंने सरकार से मांग की कि भारतीय अर्थव्यवस्था का स्वरूप भारतीय हितों के अनुरूप तय किया जाए, जिससे देश का समग्र एवं आधुनिक ढंग से विकास हो सके। इन राष्ट्रवादियों का मत था कि भारतीय अर्थव्यवस्था को स्वतंत्र रूप से विकसित किया जाना चाहिए।

इन राष्ट्रवादी अर्थशास्त्रियों के अनुसार, ब्रिटिश साम्राज्यवादी नीतियों के कारण भारत निर्धन से और निर्धन बनता जा रहा है। भारत की निर्धनता मानव निर्मित है तथा इसका स्पष्टीकरण करके इसे दूर किया जा सकता है, इस निर्धनता के कारण पूंजी का संचय एवं निर्माण नहीं हो रहा है तथा लोगों का जीवन स्तर बहुत निम्न हो गया है। इस प्रकार, इन्होंने निर्धनता को एक राष्ट्रीय मुद्दा बना दिया। इससे समाज के सभी वर्ग के लोगों को यह सोचने पर विवश होना पड़ा कि उनकी समस्त आर्थिक समस्याएं उपनिवेशी शासन की देन है।

इन राष्ट्रवादी चिंतकों ने भारत के औद्योगीकरण और विकास का भी तुलनात्मक अध्ययन किया। तत्पश्चात् उन्होंने स्पष्ट किया कि भारत का औद्योगीकरण भारतीय धन पर ही आधारित है न कि ब्रिटेन के धन पर इसकी व्याख्या करते हुए उन्होंने बताया कि जो धन भारत से बाहर जाता है, उसी धन को ब्रिटिश उद्योगपति पुनः यहां लगा देते हैं और उसी से मुनाफा कमाते हैं। इस प्रकार भारत का जो तथाकथित औद्योगीकरण हो रहा है, उसका आधार भारतीय संसाधन ही हैं न कि विदेशी धन। इस प्रक्रिया में भारत का धन निरंतर इंग्लैण्ड की ओर प्रवाहित हो रहा है, तथा इससे भारतीय अर्थव्यवस्था पर इंग्लैण्ड की पकड़ दिनोंदिन मजबूत होती जा रही है। इन आलोचकों के अनुसार, भारत में विदेशी पूंजी निवेश के प्रभाव अत्यंत घातक हैं क्योंकि इससे राजनीतिक वशीकरण तथा विदेशी निवेशकों के हितों का पक्षपोषण होता है तथा भारत में विदेशी शासन की निरंतरता को गति मिलती है।

इन्होंने ब्रिटिश सरकार के इस वक्तव्य का खंडन किया कि भारत में विदेशी व्यापार के विकास एवं रेलवे की स्थापना से देश की प्रगति हुयी है। उन्होंने तर्क दिया कि भारत का विदेशी व्यापार देश के बिल्कुल प्रतिकूल है। इस व्यापार ने भारत को कृषिगत वस्तुओं एवं कच्चे माल का निर्यातक तथा तैयार माल का आयातक बना दिया है। इन आलोचकों ने तर्क दिया कि अंग्रेजों ने रेलवे का विकास अपने वाणिज्यिक हितों को पूरा करने के उद्देश्य से किया है न कि भारत को प्रगति के पथ पर अग्रसर करने के लिये। रेलवे के विकास से भारत की औद्योगिक जरूरतों में समन्वय भी नहीं हो पा रहा है। अंग्रेजों द्वारा रेलवे के विकास का उद्देश्य, भारत के दूर दराज के क्षेत्रों से कच्चे माल का दोहन एवं विनिर्मित सामान को उन क्षेत्रों में पहुंचाने की अभिलाषा है। इससे भी अधिक इस्पात उद्योग को बढ़ाने एवं मशीनीकरण करने का कार्य भी उपनिवेशी हितों को ध्यान में रखकर किया गया है। जी बी. जोशी ने तर्क दिया कि रेलवे के विकास को ब्रिटेन के उद्योगों द्वारा भारत के दिये गए अनुदान के रूप में देखा जाना चाहिए।

राष्ट्रवादी आलोचकों ने अंग्रेजों पर आरोप लगाया कि उनके द्वारा अपनायी गयी एकमार्गी व्यापार नीतियां, भारत के हस्तशिल्प उद्योग का सर्वनाश कर रही है। वित्तीय क्षेत्र में दृष्टिपात करें तो हम पाते हैं कि कर के अत्यधिक बोझ से गरीब दबा हुआ है तथा ब्रिटिश पूंजीपति एवं नौकरशाह मालामाल हो रहे हैं। उन्होंने, भू-राजस्व में कमी करने, नमक कर का उन्मूलन करने, उच्च मध्यवर्गीय लोगों पर आयकर लगाने तथा इस वर्ग द्वारा उपभोग की जा रही वस्तुओं पर उत्पाद कर लगाने की मांग सरकार से की। इन आलोचकों ने तर्क दिया कि सरकारी व्यय का उद्देश्य उपनिवेशी हितों की पूर्ति करना है, जबकि विकास एवं कल्याण जैसे मुद्दे बिल्कुल उपेक्षित कर दिये गए हैं। इन विद्वानों ने विदेशी पूंजी के दुरुपयोग और कम उपयोग की ओर संकेत किया और यह स्पष्ट किया कि उपनिवेशी शासन जानबूझकर देश को कम विकास की ओर ले जा रहा है।

इन राष्ट्रवादी नेताओं द्वारा आर्थिक निकास का सिद्धांत प्रस्तुत करने से देश के समक्ष साम्राज्यवादी शासकों की वास्तविक मंशा उजागर हो गयी तथा इस धारणा का खोखलापन सार्वजनिक हो गया कि विदेशी शासन, भारत के हित में है। इस प्रकार इस मिथक की नैतिक अवधारणा का पर्दाफांश हो गया। इस सिद्धांत ने यह भी स्पष्ट कर दिया कि भारत निर्धन है, क्योंकि वह उपनिवेशी हितों के अनुरूप शासित किया जा रहा है।

कांग्रेस की विदेश नीति

राष्ट्रवादी बुद्धिजीवियों पर पाश्चात्य प्रभावों का महत्त्वपूर्ण एवं अवश्यंभावी परिणाम यह हुआ कि वे अपने हितों को इसमें तलाशने लगे तथा वे तत्कालीन प्रभावी अंतरराष्ट्रीय विचारों एवं गतिविधियों से अवगत हुए। धीरे-धीरे राष्ट्रवादी चिंतक यह महसूस करने लगे कि उपनिवेशवाद या साम्राज्यवाद एक अंतरराष्ट्रीय चरित्र का शासन है तथा इसके प्रभाव विनाशकारी हैं। साम्राज्यवाद -विरोधी राष्ट्रवादी विचारधारा के उदय एवं विकास के फलस्वरूप राष्ट्रवादी विदेश नीति का दृष्टिकोण निर्मित हुआ।

1878 के पश्चात्, अंग्रेजों ने अनेक विस्तारवादी अभियान किए, जिनका राष्ट्रवादियों ने तीव्र विरोध किया। इन अभियानों में सम्मिलित थे- द्वितीय अफगान युद्ध, 1882 में इंग्लैण्ड द्वारा मिश्र में कर्नल अराबी के नेतृत्व में चल रहे आंदोलन को कुचलने के लिये सेनाएं भेजना 1885 में बर्मा का कम्पनी साम्राज्य में विलय, 1890 के दशक में रूस के प्रसार को रोकने के लिये उत्तर पश्चिम में किए गए विभिन्न प्रयास। राष्ट्रवादियों ने उग्र साम्राज्यवाद के स्थान पर शांति की नीति अपनाये जाने की वकालत की। 1897 में तत्कालीन कांग्रेस अध्यक्ष सी. शंकरन नायर ने कहा "हमारी वास्तविक नीति शांति की नीति है।"

इस प्रकार 1880-1914 के दौरान उभरती विचारधारा थी- उपनिवेशवादी शासन के विरुद्ध संघर्ष कर रहे-राष्ट्रों से घनिष्ठता। जैसे रूस, आयरलैंड, मिस्र, तुर्की, इथियोपिया, सूडान, बर्मा एवं अफगानिस्तान एवं एशिया समर्थक भावनाएं।

राष्ट्रवादियों ने प्रथम विश्व युद्ध में इस उम्मीद के साथ ब्रिटेन का समर्थन किया कि वह युद्ध के उपरांत भारत में भी लोकतंत्र के उन सिद्धांतों को लागू करेगा, जिसके लिए वे संघर्षरत थे। युद्ध की समाप्ति के पश्चात् कांग्रेस ने इस बात पर जोर दिया कि प्रस्तावित शांति सम्मेलन में उसे भी प्रतिनिधित्व दिया जाए। 1920 में कांग्रेस ने भारतीयों से अपील की कि वे पश्चिम में लड़ने हेतु जाने वाली सेनाओं में सम्मिलित न हों। 1925 में कांग्रेस ने सन-यात-सेन के नेतृत्व में चल रहे चीन के राष्ट्रवादी आंदोलन के दमन हेतु भारतीय सेना को भेजे जाने की कड़ी आलोचना की।

1926-1927 में जवाहरलाल नेहरू यूरोप गए, जहां उन्होंने समाजवादियों एवं अन्य वामपंथी नेताओं से सम्पर्क स्थापित किया। इससे पहले दादा भाई नौरोजी ने समाजवादी कांग्रेस के हेग सम्मेलन में भाग लिया। 1927 में जवाहरलाल नेहरू पीड़ित राष्ट्रवादियों के ब्रुसेल्स में आयोजित सम्मेलन में शामिल हुए तथा भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का प्रतिनिधित्व किया। इस सम्मेलन का आयोजन एशिया, अफ्रीका एवं लैटिन अमरीकी देशों के राजनीतिक निर्वासन की सजा झेल रहे राष्ट्रवादियों एवं क्रांतिकारियों ने किया था। ये राष्ट्रवादी राजनीतिक एवं आर्थिक साम्राज्यवाद के चंगुल में जकड़े हुए थे। इस सम्मेलन में जवाहरलाल नेहरू अल्बर्ट आंइस्टीन, श्रीमती सन यात सेन, रोलैंड रोमां एवं जार्ज लैंसबरी के साथ अध्यक्ष चुने गए। नेहरू अपने यूरोप प्रवास के दौरान ब्रिटिश साम्राज्यवाद के अंतरराष्ट्रीय चरित्र से परिचित हुए। नेहरू लीग की साम्राज्यवाद विरोधी कार्यकारिणी के लिये भी मनोनीत किए गए। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने विश्व के अन्य भागों में चल रहे साम्राज्यवाद विरोधी आंदोलनों से सम्पर्क बनाये रखने के लिये विदेश विभाग की स्थापना की। 1927 में जवाहरलाल नेहरू ने सोवियत संघ की यात्रा की तथा इस समाजवादी राष्ट्र की उपलब्धियों से वे अत्यंत प्रभावित हुए। उन्होंने रूस को साम्राज्यवाद के विरुद्ध एक विशाल ताकत के रूप में देखा।

1930 का दशक, यूरोप में फासीवाद के उदय एवं इसके विरुद्ध संघर्ष का काल था। राष्ट्रवादियों ने निष्कर्ष निकाला कि साम्राज्यवाद एवं फासीवाद पूंजीवाद के ही दो अंग हैं। राष्ट्रवादियों ने विश्व के विभिन्न भागों, यथा इथियोपिया, स्पेन, चीन तथा चेकोस्लोवाकिया में चल रहे फासीवाद विरोधी आंदोलन को अपना पूर्ण समर्थन प्रदान किया। 1939 में अपने त्रिपुरी अधिवेशन में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने ब्रिटेन की फासीवाद समर्थक नीति से खुद को पृथक् घोषित कर दिया। 1939 में राष्ट्रवादियों ने जापान द्वारा चीन पर किए गए आक्रमण को निंदनीय बताया। कांग्रेस ने डॉ. एम. अटल के नेतृत्व में एक चिकित्सा मिशन भी चीनी सशस्त्र सेनाओं की सहायता के लिये चीन भेजा।

फिलिस्तीन के मुद्दे पर कांग्रेस ने फिलिस्तीनियों का समर्थन किया। यद्यपि उसने यहूदियों के प्रति भी सहानुभूति जताई। उसने मांग की कि फिलिस्तीनियों को उनके स्थानों से विस्थापित न किया जाए तथा इस मुद्दे को फिलिस्तीनी एवं अरब आपस में द्विपक्षीय सहयोग

द्वारा हल करें तथा पश्चिम को इस मसले पर हस्तक्षेप न करने दें। कांग्रेस ने फिलिस्तीन के विभाजन का भी विरोध किया।

स्वतंत्रता के उपरांत भारत ने तत्कालीन शीत युद्ध तथा विश्वव्यापी गुटबंदी से दूर रहते हुए अपनी स्वतंत्र विदेश नीति बनायी। उसकी विदेश नीति गुट-निरपेक्षता की नीति पर आधारित थी तथा शीघ्र ही भारत विश्व के राष्ट्रों के मध्य गुट-निरपेक्षता की नीति का अगुआ बन गया।

प्रमुख विचार

1. आखिरकार यह कठोर तथ्य हमारी समझ में आने लगा है कि जब तक भारत स्वायत्त शासन प्राप्त नहीं कर लेता, उसकी आर्थिक स्थिति में सुधार नहीं हो सकता। **- डी. पी. खेतान**
2. गाँधीजी और कांग्रेस को यह बताने में कोई बुराई नहीं है कि एक सम्मानजनक समझौते की संभावनाओं का पता लगाने का समय आ गया है। हम सभी को शांति चाहिए। **- खेतान**

DISCOVERY

16. ब्रिटिश प्रशासक एवं उनकी नीतियाँ

लार्ड लिटन

लार्ड लिटन को ओवन मैरिडिथ के नाम से भी जाना जाता है। 1876 में लिटन भारत का वायसराय बन कर आया। वह एक सुप्रसिद्ध उपन्यासकार, लेखक एवं साहित्यकार था।

लिटन ने मुक्त व्यापार को प्रोत्साहन देते हुए इंग्लैण्ड की सूती मिलों को लाभ पहुँचाने के उद्देश्य से कपास पर लगे आयात शुल्क को कम कर दिया। उसने करीब 29 वस्तुओं पर से आयात कर हटा दिया। 1876-78 में उसके समय में बम्बई, मद्रास, हैदराबाद, पंजाब, मध्य भारत आदि में भयानक अकाल पड़ा। लगभग 50 लाख लोग भूख के कारण मारे गए। लिटन ने अकाल के जाँच के लिए रिचर्ड स्ट्रेची की अध्यक्षता में एक अकाल आयोग गठित की। आयोग ने असमर्थ व्यक्तियों की सहायता के लिए प्रत्येक जिले में एक अकाल कोष खोलने का सुझाव दिया। अकाल की भयानक स्थिति के बाद दिल्ली में 1 जनवरी, 1877 को ब्रिटेन की महारानी विक्टोरिया को कैसर-ए-हिन्द की उपाधि से सम्मानित करने के लिए दिल्ली दरबार का आयोजन किया गया। मार्च 1878 में लिटन ने - वर्नाक्यूलर प्रेस अधिनियम' पारित कर भारतीय समाचार पत्रों पर कठोर प्रतिबन्ध लगा दिया। इस एक्ट के अन्तर्गत अनुचित प्रकाशन को रोकने के लिए मजिस्ट्रेटों को व्यापक अधिकार मिल गया। लिटन के समय में ही 1878 का भारतीय शस्त्र अधिनियम पारित हुआ, इस अधिनियम के तहत बिना लाइसेंस के कोई व्यक्ति न तो शस्त्र रख सकता था न ही व्यापार कर सकता था। यूरोपीय, एंग्लो-इण्डियन तथा कुछ विशिष्ट सरकारी अधिकारी इस अधिनियम की सीमा से बाहर थे।

1879 में लार्ड लिटन ने वैधानिक जनपद सेवा के अन्तर्गत ऐसे नियम बनाये जिसमें सरकार को कुछ उच्च कुल के भारतीयों को वैधानिक जनपद सेवा में नियुक्ति का अधिकार मिला। ये नियुक्तियां प्रान्तीय सरकारों की सिफारिश पर भारत सचिव की स्वीकृति से की जानी थी। इनकी संख्या संभावित जनपद सेवा की नियुक्तियों का केवल 1/6 भाग होनी थी। परन्तु लिटन का यह नियम भारतीयों को प्रभावित न कर सका, परिणामस्वरूप करीब 8 वर्ष के बाद यह नियम निष्प्रभावी हो गया। लिटन भारतीय सिविल सेवा में भारतीयों के प्रवेश को प्रतिबन्धित करना चाहता था, परन्तु भारत सचिव की सहमति न होने पर परीक्षा की अधिकतम आयु को 21 से घटा 19 वर्ष कर दिया। लिटन की गलत नीतियों के कारण हुए द्वितीय आंग्ल-अफगान युद्ध में आंग्ल सेनाएं बुरी तरह असफल रहीं। उसने अलीगढ़ में एक 'मुस्लिम-एंग्लो प्राच्य महाविद्यालय' की स्थापना भी की।

लार्ड रिपन

जार्ज फ्रैडरिक सैम्यूल रॉबिन्सन, प्रथम मार्किवस ऑफ रिपन, 1880 में लिटन के बाद भारत का वायसराय बन कर आया। अपने स पहले आए सभी वायसरायों की तुलना में वह अधिक उदार था। रिपन के समय में भारत एक तरफ धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक जागरण की स्थिति से गुजर रहा था, वहीं दूसरी ओर लिटन के कार्यों से भारतीय जनता कराह रही थी।

अपने सुधार कार्यों के अन्तर्गत रिपन ने सर्वप्रथम समाचार पत्रों की स्वतंन्त्रता को बहाल करते हुए 1882 में वर्नाक्यूलर प्रेस एक्ट को समाप्त कर दिया। इसके सुधार कार्यों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य था 'स्थानीय स्वशासन' की शुरूआत। इसके अन्तर्गत ग्रामीण क्षेत्रों

में स्थानीय बोर्ड बनाये गए, जिले में जिला उपविभाग एवं तहसील बोर्ड बनाने की योजना बनी। नगरों में नगरपालिका का गठन किया गया एवं इन्हें कार्य करने की स्वतन्त्रता एवं आय प्राप्त करने के साधन उपलब्ध कराए गए। इन संस्थाओं में गैर-सरकारी सदस्यों की अधिक भागीदारी निश्चित की गई।

1881 में रिपन के समय में ही भारत में सर्वप्रथम जनगणना करवायी गयी, तब से लेकर अब तक प्रत्येक दस वर्ष के अन्तराल पर जनगणना की जाती है। प्रथम फैक्ट्री अधिनियम, 1881 में रिपन द्वारा ही लाया गया। अधिनियम के अन्तर्गत यह व्यवस्था की गई कि जिस कारखाने में सौ से अधिक श्रमिक कार्य करते हैं, वहाँ पर 7 वर्ष से कम आयु के बच्चे काम नहीं कर सकेंगे। 12 वर्ष से कम आयु के बच्चों के लिए काम करने के घण्टे तय कर दिये गए और इसके पालन के लिए एक निरीक्षक को नियुक्त कर दिया गया।

रिपन ने शैक्षिक सुधारों के अन्तर्गत 'विलियम हण्टर' के नेतृत्व में एक आयोग गठित किया। आयोग ने 1882 में अपनी रिपोर्ट पेश की। आयोग की रिपोर्ट में कहा गया था कि भारत में प्राइमरी और माध्यमिक स्कूली शिक्षा की सर्वथा उपेक्षा की गई है परन्तु इसमें विश्वविद्यालय की शिक्षा पर अपेक्षाकृत अधिक ध्यान दिया गया। रिपोर्ट में व्यवस्था की गई कि प्राइमरी स्तर की शिक्षा का अधिकार लोकल बोर्डो एवं म्यूनिसिपल बोर्डो को दे दिया जाए। शिक्षा संस्थाओं पर से सरकारी नियंत्रण को हटा दिया जाए। रिपन की सरकार ने इस रिपोर्ट को क्रियान्वित करने का प्रयत्न किया।

रिपन के समय में 'इल्बर्ट विधेयक' प्रस्तुत किया गया। इस विधेयक में फौजदारी दण्ड व्यवस्था में प्रचलित भेदभाव को समाप्त करने का प्रयत्न किया गया था। इल्बर्ट विधेयक में भारतीय न्यायाधीशों को यूरोपीय मुकदमों को सुनने का अधिकार दिया गया। भारत में रहने वाले अंग्रेजों ने इस बिल का विरोध किया, परिणामस्वरूप रिपन को इस विधेयक को वापस लेना पड़ा। इस विधेयक पर हुए वाद-विवाद का भारतीय जनमानस पर गहरा प्रभाव पड़ा।

फ्लोरेंस नाइटिंगेल ने रिपन को 'भारत के उद्धारक' की संज्ञा दी है। भारतीय रिपन को 'सज्जन रिपन' के रूप में याद करते हैं।

लार्ड कर्जन

1899 में लार्ड कर्जन भारत का वायसराय बन कर आया। वायसराय बनने के पूर्व कर्जन करीब चार बार भारत आ चुका था। कर्जन के विषय में पी० राबर्ट्स ने लिखा है कि भारत में किसी अन्य वायसराय को अपना पद सम्भालने से पूर्व भारत की समस्याओं का इतना ठीक ज्ञान नहीं था जितना कि लार्ड कर्जन को।

कर्जन के समय में कई महत्त्वपूर्ण सुधार किए गए-

कर्जन ने 1902 में सर एण्ड्रयू फ्रेजर की अध्यक्षता में एक पुलिस आयोग का गठन किया। 1903 में प्रस्तुत अपनी रिपोर्ट में आयोग ने पुलिस विभाग की आलोचना करते हुए कहा कि यह विभाग पूर्णत: अक्षम, प्रशिक्षण से रहित, भ्रष्ट एवं दमनकारी है। आयोग द्वारा दिये गए सुझावों के आधार पर सभी स्तरों पर वेतन वृद्धि, संख्या में वृद्धि, प्रशिक्षण की व्यवस्था, प्रान्तीय पुलिस की स्थापना व केन्द्रीय गुप्तचर विभाग की स्थापना की व्यवस्था की गई।

कर्जन ने 1902 में सर टामस रैले की अध्यक्षता में विश्वविद्यालय आयोग का गठन किया। आयोग द्वारा दिये गए सुझावों के आधार पर भारतीय विश्वविद्यालय अधिनियम, 1904 पारित किया गया। इस अधिनियम के आधार पर विश्वविद्यालय पर सरकारी नियंत्रण बढ़ा दिया गया।

आर्थिक सुधारों के अन्तर्गत कर्जन ने 1899-1900 में पड़े अकाल व सूखे की स्थिति के विश्लेषण के लिए सर एण्टनी मैकाडॉनल की अध्यक्षता में एक अकाल आयोग की नियुक्ति की। 1901 में सर कॉलिन स्कॉट मॉनक्रीफ की अध्यक्षता में एक 'सिंचाई आयोग' का भी गठन कर्जन ने किया और आयोग के सुझाव पर सिंचाई के क्षेत्र में कुछ महत्त्वपूर्ण सुधार किए गए। 1904 में 'सहकारी उधार समिति अधिनियम' पेश हुआ, जिसमें कम ब्याज पर उधार की व्यवस्था की गयी। एक 'साम्राज्यीय कृषि विभाग' स्थापित किया गया जिसमें पशुधन एवं कृषि के विकास के लिए वैज्ञानिक प्रणाली के प्रयोग को प्रोत्साहित किया गया।

DISCOVERY

सर्वाधिक रेलवे लाइन का निर्माण कर्जन के समय में ही हुआ। इंग्लैण्ड के रेल विशेषज्ञ राबर्टसन् को भारत बुलाया गया। उन्होंने वाणिज्य उपक्रम के आधार पर रेल लाइनों के विकास पर बल दिया।

न्यायिक सुधारों के अन्तर्गत कर्जन ने कलकत्ता के उच्च न्यायालय में न्यायाधीशों की संख्या में वृद्धि कर दी। उसने उच्च न्यायालय एवं अधीनस्थ न्यायालयों के न्यायाधीशों के वेतन एवं पेंशन बढ़ा दी। उसने भारतीय व्यवहार प्रक्रिया संहिता में परिवर्तन किया।

कर्जन ने सेनापति किचनर के सहयोग से सेना का पुनर्गठन किया। भारतीय सेना दो कमानों उत्तरी व दक्षिणी में बांट दी गई। उत्तरी कमान ने अपना कार्यालय मरी में एवं प्रहार केन्द्र पेशावर में तथा दक्षिणी कमान ने अपना कार्यालय पूना में एवं प्रहार केन्द्र क्वेटा में स्थापित किया।

कर्जन ने 'कलकत्ता निगम अधिनियम' के द्वारा चुने जाने वाले सदस्यों की संख्या में कमी कर दी, परन्तु निगम एवं उसकी समितियों में अंग्रेजों की संख्या बढ़ा दी गई।

'प्राचीन स्मारक परिरक्षण अधिनियम 1904' के द्वारा कर्जन ने भारत में पहली बार ऐतिहासिक इमारतों की सुरक्षा एवं मरम्मत की ओर ध्यान दिया। इस कार्य के लिए उसने 'भारतीय पुरातत्व विभाग' की स्थापना की।

कर्जन के भारत विरोधी कार्यों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य था - 1905 में 'बंगाल का विभाजन'। उसने राष्ट्रीय आंदोलन को कमजोर करने के उद्देश्य से, प्रशासनिक असुविधाओं को आधार बनाकर बंगाल को दो भागों में बांट दिया। पूर्वी भाग में बंगाल और असम में चटगाँव, ढाका, राजशाही को मिलाकर एक नया प्रान्त बनाया गया। इस प्रान्त का मुख्य कार्यालय ढाका में था। पश्चिमी भाग में पश्चिमी बंगाल, बिहार एवं उड़ीसा को सम्मिलित किया गया। कर्जन का यह विभाजन 'फूट डालो और राज करो' की नीति पर आधारित था। उसने इस कार्य के द्वारा हिन्दू और मुसलमानों में मतभेद पैदा करने का प्रयत्न किया। विभाजन का यह कार्य अन्तिम रूप से अक्टूबर, 1905 में सम्पन्न हुआ, परन्तु इस विभाजन के विरोध में इतनी आवाजें उठीं कि 1911 में इस विभाजन को समाप्त करना पड़ा।

कर्जन ने फारस की खाड़ी में अधिक सक्रियता दिखाई। उसने तिब्बत के गुरु दलाई लामा पर रूस की ओर झुकाव का आरोप लगाकर तिब्बत में हस्तक्षेप किया। कर्नल यंग हस्बैंड के नेतृत्व में गई सेना ने तिब्बतियों से एक संधि भी की।

लार्ड इरविन

एडवर्ड फ्रेडरिक लिंडले वुड के नाम से जाने वाले व्यक्ति की ख्याति बैरेन इरविन के रूप में हुई। वह 1930 के दशक में ब्रिटेन की कंजरवेटिव पार्टी का एक प्रमुख नेता था। द्वितीय विश्व युद्ध काल में उसे तुष्टिकरण की नीति का प्रमुख प्रवक्ता माना जाता है। इस दरम्यान वह कैबिनेट के कई महत्त्वपूर्ण पदों पर रहा। 1938 के म्युनिख समझौते के समय वह ब्रिटेन का विदेश सचिव था। अप्रैल, 1926 में वह भारत का वायसराय बना। उसने वाशिंग्टन में ब्रिटिश राजदूत के रूप में भी कार्य किया।

वह अपने पिता की तरह धार्मिक प्रवृत्ति का था। विंस्टन चर्चिल ने उसे होली फैक्स का नाम दिया। उसे एक समर्पित एंग्लो-कैथोलिक के रूप में जाना जाता है। ऑक्सफोर्ड के एटन तथा क्राइस्ट चर्च में उसने शिक्षा ग्रहण की।

1926 में लिंडले वुड भारत का वायसराय बनकर आया। भारत में इरविन का काल राजनीतिक उथल-पुथल का काल माना जाता है। भारतीयों को स्वशासन का अधिकार देने की जांच के लिए गठित साइमन कमीशन में किसी भी भारतीय को शामिल न किए जाने के कारण हिंसा भड़क उठी। साईमन कमीशन के भारत आने पर सर्वत्र उसका विरोध किया गया। साइमन कमीशन के रिपोर्ट प्रकाशित होने के बाद भारत में सर्वत्र निराशा व्याप्त थी। फलतः भारतीयों ने राष्ट्रव्यापी आंदोलन का फैसला किया। गांधी जी द्वारा 12 मार्च, 1930 को सविनय अवज्ञा आंदोलन आरंभ किया गया। लाला लाजपत राय की मृत्यु के बाद चरमपंथी नेताओं ने केंद्रीय असेम्बली में बम फेंका। 1929 में प्रसिद्ध लाहौर षड़यंत्र की घटना हुई एवं जतिनदास की 64 दिन के भूख-हड़ताल के बाद जेल में ही मृत्यु हो गई।

इरविन के प्रयासों से गांधी और इरविन के बीच एक समझौता हुआ। इरविन ने गांधी की कई मांगें स्वीकार कर ली। गांधी भी सविनय अवज्ञा आंदोलन को वापस लेने के लिए सहमत हो गए। गांधी कांग्रेस के प्रतिनिधि के रूप में द्वितीय गोलमेज सम्मेलन में शामिल हुए। यद्यपि सम्मेलन सफल नहीं हुआ, पर इरविन अपनी सरकार का विश्वास प्राप्त करने में सफल रहा। गांधी-इरविन समझौते के

बाद सविनय अवज्ञा आंदोलन का स्थगन इरविन की कूटनीतिक विजय के रूप में देखा जाता है तो सविनय अवज्ञा आंदोलन को उसके प्रारम्भिक दिनों में ही न कुचल देना इरविन की कूटनीतिक विफलता मानी जाती है।

लार्ड माउंटबेटन

लार्ड माउंटबेटन ब्रिटेन के एक आभिजात्य परिवार में जन्मा था। वह महारानी विक्टोरिया का नवासा (नाती) था। उसका लालन-पालन एवं शिक्षा एक खुशनुमा माहौल में हुआ। वह ब्रिटेन के राज परिवार से संबद्ध था। भारत आने से पहले वह ब्रिटेन में कई महत्त्वपूर्ण पदों पर रह चुका था। वह लड़ाकू प्रवृत्ति का था और ब्रिटेन की नौ सेना में भी अपनी सेवाएँ दे चुका था। राज परिवार से जुड़े होने के कारण वह स्वाभाविक तौर पर राजपरिवार के हितों का संरक्षक था। भारत के विभाजन के समय उसे यहां का वायसराय बनाकर भेजा गया ताकि वह भारत की स्वतंत्रता एवं ब्रिटिश हितों के बीच तालमेल बिठा सके।

उसी के कार्यकाल में 4 जून, 1947 को भारतीय स्वतंत्रता विधेयक के अनुसार भारत और पाकिस्तान दो स्वतंत्र राष्ट्रों के निर्माण की घोषणा की गई। माउंट बेटन की सफलता यह थी कि उसने नेहरू, गांधी, पटेल एवं जिन्ना जैसे नेताओं को इसके लिए राजी कर लिया। उसी के काल में भारत एवं पाकिस्तान के बीच सीमा विभाजन के लिए रेडक्लिफ आयोग का गठन किया गया। बेटन के प्रयासों से भारत और पाकिस्तान के बीच रुपये एवं ऋण के लेन-देन को आसानी से निपटा लिया गया।

माउंटबेटन उच्च कोटि का कूटनीतिज्ञ एवं सूझ-बूझ वाला व्यक्ति था। अविभाजित भारत के कई बड़े नेताओं के साथ उसके अच्छे संबंध थे। गांधी और नेहरू के साथ अपने संबंधों को लेकर वह खास तौर पर जाना जाता है। वही एकमात्र ऐसा वायसराय था, जिस पर भारतीय नेता विश्वास करते थे। यही कारण है कि भारत की आजादी के बाद उसे स्वतंत्र भारत का प्रथम वायसराय बनाया गया। माउंट बेटन के कूटनीतिक प्रयासों के कारण ही भारत ने आजादी के बाद ब्रिटिश राष्ट्रमंडल में बने रहने का फैसला किया।

कुछ इतिहासकार यह भी मानते हैं कि माउंटबेटन के दबाव के कारण ही नेहरू ने कश्मीर का प्रश्न राष्ट्रसंघ में उठाया, और कश्मीर की समस्या का अंतरराष्ट्रीयकरण हो गया। उसके प्रयासों के कारण ही पश्चिमी जगत के साथ भारत के संबंध अच्छे बने रहे।

जो भी हो इतना तो सच है कि भारत की आजादी और आजादी के बाद उसके वैदेशिक संबंधों के निर्धारण में उसकी महत्त्वपूर्ण भूमिका रही। पर ऐसा उसने भारतीय नेताओं को विश्वास में लेकर किया। देशी रियासतों के विलय के संबंध में उसने पटेल की नीति का समर्थन किया।

प्रमुख विचार

1. मैं केवल इतना ही कहूंगा कि स्वेच्छाचारी शासन, भ्रांति, घूसखोरी, भ्रष्टाचार और जबरन धन खसोटने का ऐसा दृश्य बंगाल के अलावा किसी भी अन्य देश में कभी देखा-सुना नहीं गया। **- क्लाइव**
2. उसके थोड़े से दोष जहां तक वे वास्तव में दोष थे, उस राजनीतिज्ञ के दोष थे जिस पर सहसा ही संकट आ पड़ा हो तथा जिस पर इतनी कठिन उलझने आ पड़ी हों कि कभी-कभी मानवीय समझ में भूल चूक हो जानी आवश्यक ही थी।
- वी० ए० स्मिथ (हेस्टिंग्स के बारे में)
3. हमने अपने शत्रु को प्रभावशाली ढंग से पंगु बना दिया है तथा अपने साथियों को भी शक्तिशाली नहीं बनने दिया।
- कार्नवालिस (मैसूर युद्ध के बारे में)
4. भारत हमारे साम्राज्य का केन्द्र है। यदि साम्राज्य अपने कोई अन्य भाग खो बैठता है तो हम जीवित रह सकते हैं परन्तु यदि हम भारत खो बैठे तो हमारे देश के साम्राज्य का सूर्य अस्त हो जाएगा। **- कर्जन**
5. उसी प्रकार केन्द्रीयकरण, वही व्यक्तिगत राज्य, वहीं दृढ़ निश्चय, वही कर्तव्यपरायणता, वही कार्य शक्ति और कार्यक्षमता, वही अकेलेपन की भावना, वही अविश्वास और दमनकारी नीतियाँ जिसके फलस्वरूप चारो ओर निराशा की भावना।
- गोखले (कर्जन के बारे में)

DISCOVERY

6. अब समय आ गया है और हमें अपनी योजना कार्यान्वित करने का कार्यक्रम निश्चित करना चाहिए, न केवल कि हमारे सुधार क्या होंगे अपितु यह भी कि ये कब और इन्हें कैसे लागू करना होगा। - **मिन्टो**
7. मैं समझता हूँ कि हमारी नीति में कहीं भी यह बात नहीं कि भारतीयों को नियंत्रण सौंपने की गति को अनावश्यक रूप से उस गति की तुलना में बढ़ाया जाए, जिसे हम, दीर्घकालीन दृष्टि से, भारत को साम्राज्य से जोड़े रखने के लिए सर्वोत्तम समझते हैं। - **लिनलिथगो**

मॉडल उत्तर

प्रश्न : "लार्ड लिटन एवं लार्ड रिपन का वायसराय बनना भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण घटना है।" कथन की सत्यता की जाँच कीजिए। (1992) (250 शब्दों में)

उत्तर : लार्ड लिटन के दमनात्मक कदमों ने ब्रिटिश कानूनों की भारत में लोकप्रियता को कम कर दिया था। इसी समय लार्ड रिपन के उदारवादी कदमों ने भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन को प्रेरणा प्रदान की। ऐसे समय में जबकि 1876-78 के मध्य भीषण अकाल पड़ा था, लाखों व्यक्ति भूख से मर रहे थे, लार्ड लिटन ने 1877 में महारानी विक्टोरिया को भारत की साम्राज्ञी घोषित करने के लिए दिल्ली में एक विशाल दरबार का आयोजन किया। इस भव्य, आडंबरपूर्ण समारोह पर लाखों रुपए खर्च किए गए जिसका सारा भार भारतीय राजकोष पर पड़ा। लिटन ने स्वतंत्र व्यापार की नीति अपनाई। उसने कुछ वस्तुओं पर से आयात शुल्क हटा लिए परिणामस्वरूप ब्रिटिश उद्योगपतियों व उद्योगों को तो लाभ हुआ, परंतु भारत की आर्थिक व्यवस्था पर इसका बहुत बुरा प्रभाव पड़ा। लिटन की नीतियों की समाचार-पत्रों में कड़ी आलोचना हुई। उसके कार्यों से जनता में असन्तोष फैल गया। इनसे क्रुद्ध होकर लिटन ने 1878 में "वर्नाक्यूलर प्रेस एक्ट" पारित किया। जिसके अन्तर्गत भारतीय समाचार पत्रों की स्वतन्त्रता पर प्रतिबंध लगा दिया गया। लिटन के इस कदम की तीव्र भर्त्सना हुई। इससे भारतीय जनता के असन्तोष में निरन्तर वृद्धि हुई। इतना ही नहीं, 1878 में लिटन ने भारतीय शस्त्र अधिनियम लागू कर, बिना लाइसेंस किसी भी व्यक्ति के लिए शस्त्र रखना व उसका व्यापार करना दंडनीय अपराध माना। इन कानूनों ने भारतीयों के दिलों में अंग्रेजी सरकार के प्रति घृणा की भावना प्रज्वलित कर दी थी। लिटन के उपरान्त भारत के वायसराय बने लार्ड रिपन ने लिटन के दमनात्मक कार्यों के स्थान पर सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार की नीति अपनाई। 1882 में रिपन ने स्थानीय स्वशासन के विकास तथा भारतीयों को राजनीतिक एवं सार्वजनिक शिक्षा प्रदान करने के उद्देश्य से स्थानीय स्वशासन से संबंधित प्रस्ताव पेश किया। जिसे सरकार द्वारा स्वीकार भी कर लिया गया था। रिपन ने भारतीय समाचार-पत्रों पर लगे प्रतिबन्ध को समाप्त कर दिया तथा उन्हें अंग्रेजी समाचार-पत्रों जैसी स्वतन्त्रता प्रदान की। रिपन द्वारा "इल्बर्ट बिल" को वापस लेना अत्यधिक विवादास्पद मुद्दा रहा। इस बिल के प्रावधान के अनुसार भारतीय न्यायाधीश को अंग्रेजों या यूरोपवासियों के मुकद्दमें सुनने का अधिकार दिया गया। परन्तु अंग्रेजों व यूरोपवासियों के बढ़ते विरोध के कारण रिपन को इसे वापस लेना पड़ा। इस घटना ने भारतीयों को इस बात के लिए प्रेरित किया कि अपनी रक्षा स्वयं भारतीय ही कर सकते हैं। वस्तुतः लिटन एवं रिपन के शासन काल को क्रमशः प्रतिक्रियावादी एवं मानवतावादी शासन व्यवस्था की संज्ञा दी जा सकती है। दोनों ही शासन व्यवस्था ने राष्ट्रीय आंदोलन को गति दी थी।

अकाल व अन्य बुराइयों से जनता को अवगत कराया। नौरोजी ने विभिन्न संस्थाओं के सामने ब्रिटिश उपनिवेशवाद का असली चेहरा दिखाते हुए कहा कि ब्रिटिश सरकार भारतीय उपनिवेश से आर्थिक संसाधनों का दोहन कर उसे कमजोर बनाने में जुटी है। इस तरह नौरोजी ने भारतीय स्वतंत्रता की आवाज बुलंद की।

प्रश्न : समय में दूरी के होते हुए भी लार्ड कर्जन और जवाहर लाल नेहरू के बीच अनके समानताएं थी। चर्चा कीजिए। (250 शब्द) 2006.

उत्तर : लार्ड कर्जन 1898 में भारत का गवर्नर जनरल बना एवं 1905 तक इस पद पर रहा। इस समय तक नेहरू का राष्ट्रीय रंगमंच पर उदय नहीं हुआ था। वे असहयोग आंदोलन के दौरान 1920-22 की अवधि में भारतीय राजनीति में सक्रिय हुए। इसके बाद राष्ट्रीय आंदोलन में उन्होंने अपने लिए एक विशेष स्थान बनाया। 1929 के लाहौर अधिवेशन तक वे एक महत्त्वपूर्ण हस्ती बन चुके थे। इसके

बाद गांधी और नेहरू भारतीय राजनीति के दो महत्त्वपूर्ण शक्ति केंद्र बन गए। 1947 में जब देश आजाद हुआ तो वे भारत के प्रथम प्रधानमंत्री बने। उन्होंने 1964 तक निर्विघ्न रूप से शासन किया। इस दौरान उन्होंने भारत को एक महत्त्वपूर्ण राष्ट्र के रूप में स्थापित कर दिया। इस प्रकार कर्जन एवं नेहरू ने दो अलग-अलग समय में भारत पर शासन किया।

पर समय के इस अंतराल के बावजूद दोनों में अनेक समानताएँ थीं। कर्जन एवं नेहरू दोनों ही घोर राष्ट्रवादी थे। कर्जन ने जिन भी क्षेत्रों में शासन किया, उसने राष्ट्रीय हितों को प्राथमिकता दी। भारत में उसकी पहली प्राथमिकता थी-ब्रिटिश साम्राज्य को मजबूती प्रदान करना। इसी भावना से प्रेरित होकर उसने बंगाल का विभाजन किया। कर्जन के समय में बंगाल राष्ट्रीय आंदोलन का मुख्य केन्द्र था। अत: कर्जन की कोशिश राष्ट्रीय शक्तियों को विभाजित कर आंदोलन को कमजोर करना था। नेहरू भी कर्जन की भांति ही राष्ट्रवादी नेता थे। उन्होंने भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन को संगठित करने में मुख्य भूमिका निभाई। आजादी के उपरांत देशी रियासतों के विलय में उन्होंने बल्लभ भाई पटेल को पूरा सहयोग दिया।

कर्जन एवं नेहरू दोनों ही अतर्राष्ट्रीय मामलों में काफी दिलचस्पी रखते थे। दोनों ही अंतरराष्ट्रीय मामलों के जानकार थे। विदेशों का दौरा करना भी दोनों को पसंद था। विदेशी मामले में कर्जन की दिलचस्पी का सबसे अच्छा उदाहरण है- तिब्बत के प्रति उसकी नीति। नेहरू ने भी आरंभ से ही रूस, अन्य समाजवादी राष्ट्रों एवं अफ्रीकी देशों की स्वतंत्रता का समर्थन किया। भारत के प्रधानमंत्री बनने के बाद उन्होंने विदेश विभाग अपने पास रखा पंचशील सिद्धांत एवं गुटनिरपेक्ष आंदोलन उनकी विदेश नीति की सबसे बड़ी उपलब्धि है।

कर्जन पश्चिमी ज्ञान विज्ञान में अधिक रुचि रखता था। साहित्य के प्रति भी उसका गहरा लगाव था। नेहरू भारत में पश्चिमीकरण के सबसे बड़े समर्थक थे।

DISCOVERY

17. सांप्रदायिकता एवं देश का विभाजन

भूमिका

"संप्रदायवाद" एक ऐसी विचारधारा है, जिसमें यह विश्वास किया जाता है कि किसी धर्म के अनुयायियों के सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक हित किसी दूसरे धर्म के मानने वालों के हितों से भिन्न होता है। यही विभिन्नता दोनों में परस्पर विरोधी एवं शत्रुतापूर्ण भाव को पैदा करती है, जिससे उनके मध्य टकराव निश्चित हो जाता है।

लेकिन वास्तव में संप्रदायवाद किसी धर्म या राष्ट्र की उपज न होकर संकीर्ण मानवीय मन:स्थिति की उपज कही जा सकती है, जिसका उद्देश्य जन-कल्याण अथवा राष्ट्र कल्याण न होकर विद्वेष में छिपी अपनी व्यक्तिगत स्वार्थपरता की पूर्ति होती है।

भारत में संप्रदायवाद का उदय 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में राष्ट्रवाद के उदय के साथ-साथ हुआ। इसका परिणाम यह हुआ कि एक ओर जहाँ राष्ट्रीय आंदोलन को क्षति पहुँची वहीं दूसरी ओर लोगों में आपसी वैमनस्य बढ़ा। इस वैमनस्य का अंतिम परिणाम भारत के विभाजन के रूप में हुआ जो साम्प्रदायिकता की चरम परिणति कही जा सकती है। भारतीय आम जीवन में आज भी साम्प्रदायिक तनाव को देखा जा सकता है, जो लंबे समय से चले आ रहे इसी वैमनस्य और अविश्वास का प्रतिफल है।

सांप्रदायिकता के विकास कारण

- अंग्रेजों की "फूट डालो और शासन करो" की नीति। इसके तहत 1857 की क्रांति के बाद 1870 तक ब्रिटिश शासक ने हिन्दू तुष्टिकरण की नीति अपनाई तथा 1870 के बाद मुस्लिम तुष्टिकरण की नीति। फलस्वरूप हिन्दू और मुसलमानों में आपसी वैमनस्य बढ़ा। अंग्रेजों की "फूट डालो एवं शासन करो" की नीति का परिणाम यह हुआ कि मुस्लिम हर क्षेत्रों-उद्योग, वाणिज्य, व्यापार, सरकारी नौकरियों, शिक्षा आदि में पिछड़ते गए तथा इन सबों के लिए उन्होंने हिन्दुओं को उत्तरदायी माना।
- कांग्रेस के गरम दल द्वारा हिन्दू धार्मिक कट्टरता को बढ़ावा देना, तिलक द्वारा गणपति एवं शिवाजी उत्सव शुरू किया जाना, अरविन्द घोष द्वारा भारत को माता तथा राष्ट्रीयता को धर्म कहना, क्रांतिकारियों द्वारा देवी काली के आगे शपथ लेना तथा बंगाल विभाजन विरोधी आंदोलन की शुरूआत गंगा में डुबकी लगाकर किया जाना तथा आपसी भाईचारा प्रकट करने के लिए रक्षा बंधन मनाया जाना। यद्यपि ये सारे कृत्य हिन्दू धर्म एवं परंपराओं से संबद्ध थे तथापि इन महान नेताओं का उद्देश्य संप्रदायवाद बढ़ाना न होकर राष्ट्रवाद की भावना को आपसी भाईचारा द्वारा 'मजबूत' बनाना था।
- सामाजिक एवं सांस्कृतिक सुधारों की भूमिका जैसे आर्य समाज (स्वामी दयानन्द सरस्वती) ने दूसरे धर्म ग्रहण करने वाले हिन्दुओं को धर्म में वापस लाने के लिए "शुद्धि आंदोलन' चलाया। इसके प्रति उत्तर में मुसलमानों ने "तंजिम या तबलिक आंदोलन" चलाया। दयानन्द सरस्वती ने नारा दिया "भारत हिन्दुओं के लिए है तो हिन्दू सभा के नेता लालचन्द ने नारा दिया कि "हिन्दू पहले अपने को हिन्दू तथा बाद में भारतीय समझें।" ठीक इसी प्रकार मुस्लिम नेताओं ने नारा दिया हम मुस्लिम पहले हैं और भारतीय बाद में" इस प्रकार की भावना सांप्रदायिकता के विकास में सहायक हुई।

- धर्म विशेष के आधार पर बने शिक्षण संस्थाओं ने भी सांप्रदायिकता के विकास को बढ़ावा दिया। इनमें डी. ए. वी. कॉलेज, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, मो. एंग्लो ओरिएण्टल कॉलेज, जामिया मिलिया इस्लामिया आदि प्रमुख थे।
- अंग्रेजों ने कांग्रेस की प्रतिद्वन्दी संस्थाओं की स्थापना के द्वारा सांप्रदायिकता को बढ़ावा दिया। इसमें 1886 में सर सैयद अहमद खां द्वारा स्थापित "एजुकेशनल कांग्रेस" तथा 1906 में आगा खाँ एवं उनके सहयोगियों द्वारा स्थापित "मुस्लिम लीग" प्रमुख थे।
- ब्रिटिश सरकार ने अपने संवैधानिक सुधार में धर्म विशेष के आधार पर पृथक् निर्वाचन पद्धति के द्वारा सांप्रदायिकता को बढावा दिया। जैसे-1909 में मुस्लिमों के लिए, 1919 में सिक्खों के लिए तथा 1935 में ईसाइयों एवं एंग्लो-इंडियन के लिए पृथक् निर्वाचन मंडल की व्यवस्था की गयी।
- अंग्रेज इतिहासकारों द्वारा सांप्रदायिकता के आधार पर इतिहास की व्याख्या किया जाना। उदाहरण के लिए जेम्स मील ने भारतीय इतिहास को तीन भागों हिन्दू काल, मुस्लिम काल तथा ब्रिटिश काल में बाँटा।

उपरोक्त कारणों से ही भारत में सांप्रदायिकता का विकास हुआ। लेकिन भारत में सांप्रदायिकता का विकास एकाएक न होकर क्रमिक रूप से हुआ, जिसने विभिन्न स्तरों पर राष्ट्रीय आंदोलन को बुरी तरह से प्रभावित किया।

1905 में बंगाल विभाजन तक मुस्लिम सांप्रदायिकता काफी बढ़ चुकी थी। इसका अनुमान इस आधार पर लगाया जा सकता है कि मुसलमानों का एक वर्ग बंगाल विभाजन का समर्थन कर रहा था तथा इसे सरकार का उचित कदम बता रहा था। इन्हीं लोगों ने आगा खाँ, सलीमुल्लाह तथा वकारूल मुल्क के नेतृत्व में 1906 में मुस्लिम लीग की स्थापना की ताकि राष्ट्रवादी हिन्दुओं के विरुद्ध अंग्रेजों को मदद किया जा सके तथा अपने समुदाय विशेष के लिए विशेष सहायता पायी जा सके। इन्हीं के प्रयासों से भारत परिषद् अधिनियम, 1909 के द्वारा मुसलमानों के लिए पृथक् निर्वाचन मंडल की व्यवस्था की गयी।

लेकिन 1913 के बाद जब मुस्लिम लीग की बागडोर कुछ युवा राष्ट्रवादियों जैसे-मो. अली जिन्ना, अली बंधुओं के हाथों में आयी तो उन्होंने मुसलमानों में राष्ट्रीयता का संचार करना शुरू कर दिया। यही कारण है कि 1916 के कांग्रेस के लखनऊ अधिवेशन में कांग्रेस एवं मुस्लिम लीग साथ मिलकर काम करने के लिए सहमत हो गए। खिलाफत एवं असहयोग आंदोलन के समय तो इनकी एकता चरम पर पहुँच गयी।

लेकिन मोपला कृषक आंदोलन तथा असहयोग आंदोलन के वापस लेने के बाद हुए हिन्दू-मुस्लिम दंगों ने सांप्रदायिकता को एक बार पुनः भड़काया। इस बार मुस्लिम लीग राष्ट्रवादी कट्टर दल के रूप में उभर कर सामने आया, जो राष्ट्रवादी मामलों जैसे-साइमन कमीशन का विरोध एवं सविनय अवज्ञा आंदोलन आदि में तो कांग्रेस का साथ देती थी लेकिन मुस्लिम हितों के सवाल पर बिल्कुल रूढ़िवादी हो जाती थी। नेहरू रिपोर्ट का विरोध इसी रूढ़िवादिता का परिणाम था। मुस्लिम लीग ने अपने समुदाय के हित के पोषण के लिए ही तीनों गोलमेज सम्मेलनों में भाग लिया था। इसी समय ब्रिटेन में अध्ययन कर रहे कुछ युवा मुसलमानों, जिसमें चौधरी रहमत अली, लियाकत अली तथा मो. इकबाल प्रमुख थे, पाकिस्तान नाम से एक अलग राष्ट्र का खाका तैयार किया। फलस्वरूप सांप्रदायिकता ने एक अलग स्वरूप धारण किया।

भारत शासन अधिनियम, 1935 के तहत 1937 में होने वाले चुनाव में जिन्ना के नेतृत्व में मुस्लिम लीग ने भाग लिया, जिसका उद्देश्य अपने को राष्ट्रीय दल के रूप में स्थापित करना था। परन्तु चुनाव परिणामों ने उसकी पोल खोल दी। क्योंकि 11 प्रांतों में हुए चुनाव में जहाँ कांग्रेस ने 9 प्रांतों में अपनी सरकार बनायी वहीं मुस्लिम लीग केवल दो प्रांतों में सरकार बनाने में सफल रही। वह भी साझा के रूप में जहाँ सबसे बड़ा दल मुस्लिम लीग न होकर क्षेत्रीय दल था।

इस असफलता से मुस्लिम लीग को भारी झटका लगा, फलस्वरूप वह मौका तलाशने लगी ताकि द्वि-राष्ट्र के सिद्धांत पर जनमत तैयार कर सके। यह मौका उसे तब मिला जब द्वितीय विश्व युद्ध में भारत को शामिल करने के ब्रिटिश फैसले के विरोध में कांग्रेस मंत्रिमण्डलों ने इस्तीफा दे दिया। मुस्लिम लीग ने इसे मुक्ति दिवस के रूप में मनाया। 1937 के चुनाव परिणाम मुस्लिम लीग को और भी कड़ी मांग रखने पर मजबूर करने लगी थी। क्योंकि यह अब उनके अस्तित्व का प्रश्न बन गया था। 1940 ई. में मो. जिन्ना की अध्यक्षता में मुस्लिम लीग का सम्मेलन लाहौर में हुआ, जिसमें सर्वसम्मति से पाकिस्तान की माँग का प्रस्ताव पारित किया गया। इस घोषणा ने सांप्रदायिकता की भावना को काफी बढ़ाया। इसी समय लार्ड लिनलिथगो ने 1940 में राजनीतिक संकट दूर करने के

उद्देश्य से "अगस्त प्रस्ताव" पेश किया, जिसमें युद्धोपरांत भारत को औपनिवेशिक राज्य का दर्जा देने के साथ-साथ मुस्लिम हितों की रक्षा का वचन दिया गया। इससे लीग की पाकिस्तान की माँग को प्रोत्साहन मिला तथा उसने दुगुने उत्साह के साथ अपनी माँग के समर्थन में आंदोलन किया। 1942 में भारत आए क्रिप्स मिशन के अन्य प्रस्तावों के अलावे युद्धोपरान्त दो संविधान सभा बनाने का प्रस्ताव रखा। इससे मुस्लिम लीग काफी उत्साहित हुई तथा इसी उत्साह से प्रेरित होकर जिन्ना ने 23 मार्च, 1943 को "पाकिस्तान दिवस" मनाया तथा कराची अधिवेशन में "बाँटो और जाओ" का नारा दिया। विभाजन संबंधी माँग तथा सांप्रदायिक समस्या के समाधान के लिए 1944 में कांग्रेस के वरिष्ठ नेता सी. राजगोपालाचारी ने "सी. आर. फार्मूला" पेश किया। जिसमें मुस्लिम लीग को कांग्रेस के साथ मिलकर स्वतंत्रता की माँग करने को कहा गया तथा स्वतंत्रता के बाद मुस्लिम बाहुल्य क्षेत्रों में जनमत संग्रह कराकर विभाजन संबंधी राय पूछने की बात कही गयी। लेकिन मुस्लिम लीग ने इसे अस्वीकार कर दिया।

1946 में भारत आए कैबिनेट मिशन ने यद्यपि पाकिस्तान संबंधी माँग को स्पष्ट रूप से अस्वीकार कर दिया लेकिन संविधान सभा के चुनाव के लिए उसने भारतीय राज्यों को समूह "क", "ख" एवं "ग" में बाँटा, इससे पाकिस्तान का खाका स्पष्ट रूप से तैयार हो गया।

मुस्लिम लीग उत्साह के साथ कैबिनेट मिशन योजना के तहत 1946 में होने वाले संविधान सभा के चुनाव में भाग लिया लेकिन उसे 1/4 से भी कम सीटों पर सफलता मिली। फलस्वरूप लीग ने इसे अस्वीकार करते हुए दो संविधान सभा की माँग रखी। कांग्रेस पर दबाव बनाने के उद्देश्य से लीग ने 16 अगस्त, 1946 को प्रत्यक्ष कार्रवाई दिवस मनाया। इससे देश भर में कई स्थानों पर दंगे हुए। लेकिन जब इसका कोई फायदा नहीं हुआ तो मुस्लिम लीग ने नेहरू की अध्यक्षता वाली अंतरिम सरकार में प्रवेश का फैसला किया। लेकिन इसका उद्देश्य सरकार को अस्थिर करना था ताकि बाध्य होकर कांग्रेस द्वि-राष्ट्र सिद्धांत को मान लें।

भारत विभाजन तथा सांप्रदायिक समस्या के समाधान का अंतिम प्रयास नवम्बर, 1946 में एटली के द्वारा किया गया, जिसके तहत लंदन में एक सम्मेलन का आयोजन किया गया। लेकिन मो. जिन्ना की हठधर्मिता के कारण सम्मेलन असफल रहा। फलस्वरूप एटली ने संविधान सभा की विफलता की घोषणा की तथा कहा कि जून, 1948 तक भारत को स्वतंत्र कर दिया जाए। इस कार्य के लिए लार्ड माउण्टबेटन को वायसराय बनाकर भारत भेजा गया।

लार्ड माउण्टबेटन ने कांग्रेस एवं मुस्लिम लीग के नेताओं से बातचीत के आधार पर यह निष्कर्ष दिया कि भारत में सांप्रदायिकता संबंधी समस्या का एकमात्र समाधान भारत का विभाजन है। इस उद्देश्य से माउण्टबेटन ने 3 जून, 1947 को भारत विभाजन संबंधी प्रस्ताव पेश किया। इसे लीग ने तत्काल स्वीकार कर लिया। कांग्रेस ने भी इस आधार पर इसे स्वीकार किया कि सांप्रदायिक समस्या के समाधान तथा स्वतंत्रता प्राप्ति का एकमात्र उपाय विभाजन है। माउण्टबेटन योजना के आधार पर 4 जुलाई, 1947 को ब्रिटिश संसद में "भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम" पेश किया गया, जिसे 18 जुलाई, 1947 को पारित कर दिया गया। इसके आधार पर 15 अगस्त, 1947 को भारत एवं पाकिस्तान को विभाजित कर स्वतंत्र घोषित कर दिया गया।

हिंदू सांप्रदायिकता

कांग्रेस के नेता राष्ट्रवादी होने के साथ -साथ हिंदू भी थे। बालगंगाधर तिलक, विपिनचन्द्र पाल तथा लाला लाजपतराय आदि के प्रेरणा स्रोत हिंदू धर्म, हिंदू सभ्यता एवं हिंदू संस्कृति ही थे। उग्र राष्ट्रवादी संकीर्ण एवं संकुचित विचार के नहीं थे। तिलक जनता में राष्ट्रीय आंदोलन के प्रति जागृति उत्पन्न करने के लिए शिवाजी-उत्सव तथा गणपति-उत्सव मनाते थे। ब्रिटिश कूटनीतिज्ञों के प्रभाव में आकर मुसलमानों ने इसका गलत अर्थ लगाया।

1906 ई. में मुस्लिम लीग का जन्म हुआ। इसका एक मात्र उद्देश्य मुसलमानों का हित साधन करना था। मुस्लिम लीग की प्रतिक्रिया स्वरूप 1907 ई. में पंजाब में हिंदू-महासभा की स्थापना की गई। इसने लॉर्ड मिन्टो के सांप्रदायिक निर्वाचन योजना का विरोध किया।

1916 ई. के लखनऊ अधिवेशन में मुस्लिम लीग तथा कांग्रेस के बीच समझौता हुआ। कांग्रेस ने मुस्लिम लीग की मांग के समक्ष घुटने टेक दिये। 1922 ई. में मालाबार क्षेत्र में मौलानाओं के द्वारा भीषण मजहबी दंगे हुए जिसमें हिंदुओं के साथ नृशंस व्यवहार किए गए।

हिंदुओं ने भी अपने धर्म की रक्षा के लिए 1923 ई. में महामना मदनमोहन मालवीय के नेतृत्व में 'अखिल भारतीय हिंदू-महासभा' की स्थापना की। उस समय वह राष्ट्रीय संस्था थी। इन्होंने घोषणा की कि सभी हिंदू कांग्रेस का साथ देंगे। 1924 ई. के हिंदू महासभा के अधिवेशन में मौलाना मुहम्मद अली, मौलाना शौकत अली, डॉ. महमूद तथा मौलाना आजाद भी उपस्थित थे।

मदनमोहन मालवीय तथा पंजाब केसरी लाला लाजपत राय भी मुसलमानों को प्रसन्न करने की कांग्रेसी नीति को पसंद नहीं करते थे। सन् 1924 ई. में कोहाट में भीषण दंगा हुआ। एक मुसलमान ने स्वामी श्रद्धानन्द की हत्या कर दी। इससे हिंदुओं में बड़ी तीव्र प्रतिक्रिया हुई। दिल्ली अधिवेशन में हिंदू-महासभा ने शासन में भाग लेने का निश्चय किया। सामाजिक तथा सांस्कृतिक क्षेत्रों के अतिरिक्त उसने राजनीति में भी भाग लेना शुरू किया।

1938 ई. में वीर सावरकर ने संस्था के बारे में बताया, "हमारी राजनीति केवल हिंदू-राजनीति होगी, जिसका स्वरूप केवल हिंदुत्व पूर्ण होगा, जिससे कि हिंदू-राष्ट्र की स्वतंत्रता के स्थायित्व तथा जीवनी-शक्ति में वृद्धि होगी"। उन्होंने मुसलमानों को यह आदेश दिया कि उनको अल्पसंख्यक संप्रदाय की स्थिति स्वीकार करनी चाहिए, न कि विशेष अधिकारों की माँग करनी चाहिए। 'भारत की राजनीति हिंदू राजनीति होगी, जो मुसलमानों को स्वीकार करनी होगी।

सावरकर के बाद डॉ. श्यामा प्रसाद मुखर्जी के हाथ में हिंदू-महासभा की बागडोर आयी। उन्होंने साम्प्रदायिक पंचाट तथा 1935 ई. के अधिनियम की कड़ी आलोचना की। जब मुस्लिम लीग ने पाकिस्तान का नारा दिया, तब इन्होंने भी अखंड हिंदुस्तान का नारा दिया। भारत एक अविभाज्य राज्य है। इसी आधार पर इस संस्था ने अगस्त योजना, क्रिप्स योजना, कैबिनेट मिशन योजना तथा एटली योजना का विरोध किया।

मुस्लिम लीग का जिस तरह मुसलमानों ने साथ दिया, हिंदूओं ने उसी रूप में हिंदू-महासभा को सहयोग नहीं किया। 1947 ई. के 15 अगस्त के 'स्वतंत्रता दिवस' के उत्सव में इसने भाग नहीं लिया। 1948 ई. में इस संस्था को गैर कानूनी घोषित कर दिया गया। डॉ. श्यामा प्रसाद मुखर्जी की मृत्यु के बाद इस संस्था का बहुत ह्रास हुआ।

स्पष्ट है कि हिंदू महासभा की सांप्रदायिक नीति एवं उनके नेताओं की मुस्लिम विरोधी नीति के कारण भी पाकिस्तान की माँग जोर पकड़ती गयी और अंतत: पाकिस्तान बना।

पाकिस्तान की मांग के कारण

मुस्लिम लीग के पास अन्य कार्यक्रम का अभाव

मुस्लिम लीग का एकमात्र उद्देश्य भारतीय मुसलमानों के लिए संरक्षण एवं सुविधा प्राप्त करना था। 1937 ई. तक उसकी बहुत सी मांगें पूरी हो चुकी थी। बिना किसी कार्यक्रम के वह मुसलमानों पर अपना प्रभाव कायम नहीं रख सकती थी। अत: उसने पृथक् राज्य की मांग करना शुरू कर दिया तथा 'इस्लाम खतरे में है' का नारा बुलंद किया।

हिंदुओं का तथाकथित अत्याचार

सामान्य मुसलमानों के बीच उद्वेग की लहर उत्पन्न करने के लिए मुस्लिम लीग ने हिंदुओं के अत्याचार का प्रचार करना शुरू किया। 1935 ई. के अधिनियम के अंतर्गत 1937 ई. में जब विभिन्न प्रांतों में कांग्रेस का मंत्रिमंडल बना तब मुस्लिम लीग ने यह मिथ्या प्रचार शुरू कर दिया कि हिंदू सरकार मुसलमानों पर अत्याचार कर रही है। इस झूठे प्रचार से मुस्लिम जनता पर काफी प्रभाव पड़ा।

अंग्रेजों की कूटनीति

भारतीय राजनीति में सांप्रदायिकता का जहर फैलने में अंग्रेजों की प्रमुख भूमिका थी। उन्होंने हिंदू-मुसलमानों के बीच अविश्वास की खाई पैदा कर दी। कुछ अंग्रेज पदाधिकारियों ने पाकिस्तान की मांग के प्रति काफी उत्साह दिखाया। पाकिस्तान की मांग के प्रति भारत सचिव एमरी की भी।पूरी सहानुभूति थी। उसने कहा भी था, 'भारतीय स्वतंत्रता के भावी कगार पर कई भवनों के लिए स्थान है।'

DISCOVERY

हिंदू सांप्रदायिकता

सरकार की भेदपूर्ण नीति और मुस्लिम सांप्रदायिकता के विकास के फलस्वरूप हिंदुओं की रक्षा हेतु कुछ हिंदू नेताओं ने एक संगठन की आवश्यकता महसूस की। इसी के फलस्वरूप 1922 ई. में हिंदू महासभा की स्थापना हुई। आरंभ में हिंदू महासभा ने कांग्रेस के साथ सहयोग की नीति अपनाई। परंतु बाद में उसने खुले रूप में हिंदू राष्ट्र का प्रचार करना शुरू किया। इस संगठन के नेताओं का कहना था कि भारत में हिंदू और मुसलमान दो अलग-अलग संप्रदाय हैं। इससे मुस्लिम लीग के अवसरवादी नेताओं को पाकिस्तान की मांग करने में प्रोत्साहन मिला।

1937 ई. के निर्वाचन में मुस्लिम लीग को पूरी सफलता नहीं मिली

सिंध एवं असम में मुस्लिम लीग के मंत्रिमंडल का गठन नहीं हो सका। इन प्रदेशों में संयुक्त मंत्रिमंडल का गठन हुआ। इससे मुस्लिम जनता का विश्वास प्राप्त करने के लिए लीग ने यह प्रचार करना शुरू किया कि संयुक्त भारत में मुसलमानों की रक्षा असंभव है। अत: जिन्ना कांग्रेस को हिंदुओं की एक संस्था बताते हुए पृथक्ता दिखाने लगे।

जिन्ना की महत्वाकांक्षा

जिन्ना तीक्ष्ण मस्तिष्क के योग्य व्यक्ति थे। कांग्रेस के अंदर जब वे अपना प्रभाव पूरी तरह स्थापित नहीं कर पाए तो कांग्रेस छोड़ दिया। जब मोहम्मद शफी गुट का प्रभाव बढ़ा तो 1929 में लीग को छोड़ लंदन चले गए। 1934 में दुबारा लीग का नेतृत्व संभाला और 1937 के चुनाव में करारी हार का सामना किया। अब उन्हें खुद को साबित करना था और इस जिद ने भी जिन्ना को पाकिस्तान की मांग की ओर प्रेरित किया।

सांप्रदायिक दंगे

भारत में सांप्रदायिक दंगों का इतिहास 1798 से मिलता है, जब अहमदाबाद में दंगे हुए। 1828 में वाराणसी में दंगे हुए परन्तु ये दंगे घटना मात्र थे। भारत में दंगों द्वारा वास्तविक कड़वाहट का प्रारम्भ 1906 के मैमनसिंह दंगे, 1921 के मोपला दंगे, तत्पश्चात् 1922-27 में संपूर्ण मध्य भारत में लगभग 500 दंगे से हुआ। इन घटनाओं ने दोनों कौमों के मध्य अगर कड़वाहट बढ़ाया तो 1946 में प्रत्यक्ष कार्यवाही दिवस के पश्चात् फैले दंगों ने पाकिस्तान की इमारत को ही खड़ा कर दिया। 16 अगस्त, 1946 से प्रारम्भ हुआ दंगा दिसम्बर, 1947 तक भारत में लगभग दस लाख लोगों की मृत्यु का कारण बना और भारत लगभग गृहयुद्ध की कगार पर आ खड़ा हुआ।

मुस्लिम लीग की ओर से पाकिस्तान की मांग 1938 ई. में की गई। 1940 ई. में लीग के लाहौर अधिवेशन में उसकी यह मांग और भी बलवती हो गई। लाहौर अधिवेशन में मुस्लिम लीग ने पाकिस्तान के गठन के प्रस्ताव को पास किया। अपने अध्यक्षीय भाषण में जिन्ना ने घोषणा की, 'राष्ट्र की किसी भी परिभाषा के अनुसार मुसलमान एक राष्ट्र हैं।' अत: उनकी अपनी निवास भूमि, अपना प्रदेश और अपना राज्य होना चाहिए।

प्रमुख विचार

1. हम नाग के दांत बो रहे हैं और इसका फल भीषण होगा। - **लार्ड मॉरले**
2. मैं अपने प्राण देकर भी इसका सामना करना चाहता हूँ। मैं मुसलमानों को भारत की सड़कों पर रेंगने नहीं दूँगा। वे आत्मसम्मान के साथ चलेंगे। - **खलीकुज्जमाँ**
3. 1880 के दशक में उठने वाले, हिंदी-उर्दू विवाद ने उन्हें हिंदू राष्ट्रीयता के विचार से बाँध दिया। - **लाजपतराय**
4. शैतान तभी भीतर आ सकता है जब उसे आने का मार्ग मिले और मूल समस्या तो यह थी कि हम थोड़े से शिक्षितों और देश के करोड़ों सामान्यजन के बीच एक विशाल खाई मौजूद है। - **रवींद्रनाथ टैगोर**
5. प्रत्येक हिंदू के मन में यह चेतना जागृत होनी चाहिए कि वह हिंदू है, मात्र भारतीय नहीं। - **लालचन्द**

18. राष्ट्रीय आन्दोलन में महिलाओं की भूमिका

महिलाओं में जागृति के कारण

भारत में सामाजिक-धार्मिक सुधार आंदोलन, ईसाई मिशनरियों द्वारा शिक्षा के प्रचार-प्रसार एवं ब्रिटिश सरकार की उदारवादी प्रशासनिक एवं शिक्षा नीति के कारण महिलाओं में एक नई तरह की जागरुकता आई। सामाजिक एवं धार्मिक सुधार आंदोलनों ने नारी शिक्षा एवं महिला उत्थान के क्षेत्र में सक्रिय भूमिका निभाई। इनके प्रयास से नारी शिक्षा के लिए कई स्कूल एवं कॉलेज स्थापित हुए। कलकत्ता में बेथून स्कूल की स्थापना इस दिशा में प्रथम सक्रिय प्रयास था। इसके बाद देश के विभिन्न भागों में महिला विद्यालयों की स्थापना हुई। महिलाओं में शिक्षा के प्रचार-प्रसार में मिशनरियों ने भी सक्रिय भूमिका निभाई। ब्रिटिश सरकार ने अपने आरंभिक दिनों में नारी शिक्षा को बढ़ावा तो नहीं दिया पर उसे हतोत्साहित भी नहीं किया। अत: सरकार की नीति अप्रत्यक्ष रूप से नारी शिक्षा के प्रसार में सहायक रही। इन सबके कारण नारी अधिक सक्षम और जागरुक हुई। वे अब अपने अधिकारों के प्रति भी सचेत हुई।

राष्ट्रीय आन्दोलन में महिलाओं की भूमिका

भारत की सचेत नारी जीवन के हर क्षेत्र में सक्रिय भूमिका निभाने लगी। राष्ट्रीय आंदोलन में उन्होंने बढ़ चढ़ कर भाग लिया। ब्रिटिश राज द्वारा जब झांसी का क्षेत्र ब्रिटिश साम्राज्य में मिला लिया गया तो वहां की रानी लक्ष्मी बाई ने अंग्रेजों के खिलाफ 1857 के संघर्ष में मोर्चा खोल दिया। वहीं लखनऊ में बेगम हजरत महल भी अंग्रेजों से तब तक संघर्ष करती रहीं, जब तक उनकी पूरी शक्ति चूक नहीं गई। उन्होंने अन्य विद्रोहियों के साथ मिलकर ब्रिटिश सरकार के खिलाफ संघर्ष किया। 1885 में कांग्रेस की स्थापना के समय से ही इसमें कई महिला नेत्री सक्रिय रहीं। 1890 में कांग्रेस का अधिवेशन कलकत्ता में हुआ इसे भारत की पहली महिला स्नातक कांदबिनी गांगुली ने संबोधित किया। (वास्तविकता में सन् 1882 में कादंबिनी गांगुली के साथ चंद्रमुखी बासु ने भी स्नातक की परीक्षा पास की थी।) इसमें स्वर्ण कुमारी घोषाल नामक महिला प्रतिनिधि ने भी भाग लिया था। एनी बेसेंट एवं सरोजिनी नायडू जैसी महिलाओं ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का नेतृत्व भी किया। एनी बेसेंट के नेतृत्व में भारत में होमरूल आंदोलन भी चलाया गया। इस आंदोलन की मुख्य मांग थी- स्वशासन। एनी बेसेंट सरोजिनी नायडू एवं श्रीमती हीराबाई टाटा ने 1919 में संयुक्त प्रवर समिति के समक्ष भारतीय महिलाओं के लिए मताधिकार की मांग की जिसके परिणामस्वरूप 1919 में उन्हें मताधिकार प्राप्त हुआ।

गांधीजी द्वारा राष्ट्रीय आंदोलन का नेतृत्व संभालने के साथ ही राष्ट्रीय आंदोलन में महिलाओं की भागीदारी बढ़ी। इसका कारण यह था कि गांधीजी की सत्य, अहिंसा और सत्याग्रह की नीति महिलाओं के स्वभाव के अनुकूल थी। असहयोग आंदोलन के दौरान सरोजिनी नायडू के नेतृत्व में राष्ट्रीय स्त्री संघ की स्थापना की गई थी। बंगाल में उर्मिला (सी. आर. दास की विधवा बहन) और बसंती देवी के नेतृत्व में महिलाओं के एक समूह ने खादी वस्त्रों की बिक्री कर सरकार की अवज्ञा की थी। 1929 ई० में उर्मिला देवी की अध्यक्षता में नारी सत्याग्रह समिति का गठन किया गया। मद्रास के पूर्वी गोदावरी जिले में दुबरी सुबासम नामक महिला ने देव सेविका नामक स्त्री संघ की स्थापना की थी। गांधी के आंदोलन में इसने सक्रिय भूमिका निभाई।

लतिका घोष नामक महिला ने साइमन कमीशन के विरोध में महिलाओं की एक रैली का आयोजन किया। उसने सुभाष चंन्द्र बोस की

सलाह पर महिला राष्ट्रीय संघ की स्थापना की। सविनय अवज्ञा आंदोलन के दौरान महिलाओं ने बड़ी संख्या में भाग लिया। धरसना नामक स्थल पर जब अब्बास तैयबजी की गिरफ्तारी हो गई, तब आंदोलन का नेतृत्व सरोजिनी नायडू ने संभाला।

भारत के क्रांतिकारी आंदोलन में भी महिलाओं ने बड़ी भूमिका निभाई। मास्टर सूर्यसेन के नेतृत्व में कल्पना दास एवं प्रीति लता वाडेकर ने क्रांतिकारी गतिविधियों में भाग लिया था। सुनीति चौधरी, शांतिघोष और बीनादास ने भी क्रांतिकारी गतिविधियों में सक्रिय रूप से भाग लिया। लीलानाग नामक महिला ने दीपावली संघ की स्थापना की थी। इसमें युवतियों को शस्त्र चलाने और बम बनाने का प्रशिक्षण दिया जाता था।

1942 के आंदोलन में उषा मेहता ने गुप्त रेडियो का संचालन कर आंदोलनकारियों का मार्गदर्शन किया। इस आंदोलन के दौरान गांधी की गिरफ्तारी के बाद उनकी पत्नी कस्तूरबा ने आंदोलन में सक्रिय रूप से भाग लिया। इंदिरा गांधी ने इस आंदोलन के दौरान बानरी सेना का गठन किया था।

इस प्रकार राष्ट्रीय आंदोलन में महिलाओं ने सक्रिय भूमिका निभाई। वे घर की चहार दीवारी से बाहर निकलीं और अपनी अपूर्व राष्ट्रीय भावना का परिचय दिया। कई ने तो देश की आजादी के लिए हथियार भी उठा लिए। जब देश आजाद हुआ तो नए भारत के निर्माण में भी उन्होंने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। सुचेता कृपलानी पहली महिला मुख्यमंत्री बनीं। विजया लक्ष्मी पंडित ने संयुक्त राष्ट्रसंघ में भारत का नेतृत्व किया। इंदिरा गांधी देश की पहली महिला प्रधानमंत्री बनीं। उन्हें आयरन लेडी के नाम से भी जाना जाता है।

मॉडल उत्तर

प्रश्न : भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के उदय और विकास से महिलाओं के मुक्ति आन्दोलन में प्रेरणा किस प्रकार मिली? (2001) (150 शब्दों में)

उत्तर : 19वीं शताब्दी में पाश्चात्य शिक्षा और प्रजातांत्रिक विचारधाराओं के प्रभाव में आकर कई समाज सुधारको जैसे, राजा राम मोहन राय, ईश्वर चन्द्र विद्यासागर, एम. जी रानाडे, डी. के. कर्वे आदि ने महिलाओं के सामाजिक स्तर को ऊंचा उठाने के लिए आंदोलन चलाए। इनके द्वारा सती प्रथा, बहु विवाह, बाल विवाह आदि का विरोध तथा महिलाओं की पैतृक संपत्ति में हिस्सेदारी, विधवा पुनर्विवाह, स्त्री शिक्षा आदि का जोरदार समर्थन किया गया। मुस्लिम समाज में महिलाओं की बदतर जिंदगी के लिए सर सैयद अमहद खान तथा अलीगढ़ स्कूल ने आवाज उठाई। उन्होंने पर्दा-प्रथा, बहु-विवाह तथा तलाक की सरल रीति का विरोध किया और महिलाओं में शिक्षा के प्रसार का समर्थन किया। इन सभी आंदोलनों का मुख्य लक्ष्य महिलाओं का उत्थान था जिसने महिलाओं में जागृति उत्पन्न कर दी।

इसी तरह 20वीं शताब्दी में क्रांतिकारी आंदोलन से नारी मुक्ति आंदोलन को बल मिला। बंगाल विभाजन के विरोध में, स्वदेशी व होमरूल लीग आंदोलन में महिलाओं ने व्यापक रूप में अपनी उपस्थिति दर्ज कराई। इसके अतिरिक्त असहयोग आंदोलन, सविनय अवज्ञा आंदोलन में भी महिलाओं ने काफी संख्या में भागीदारी की। इस शताब्दी में नारी मुक्ति आंदोलन की प्रकृति में परिवर्तन आया, अब आंदोलनों का नेतृत्व बुद्धजीवियों की जगह महिलाएं स्वयं करने लगी थीं। इनमें 'अखिल भारतीय महिला सम्मेलन' महत्त्वपूर्ण था जिसका नेतृत्व स्वयं महिलाओं ने संभाला।

DISCOVERY

19. भारत के राजनीतिक दल

भारत में राजनीतिक दलों के उदय के कारण

ब्रिटिश उपनिवेशवादी चुनौती के प्रत्युतर में भारत में दलीय व्यवस्था का आरंभ हुआ। इसकी शुरूआत 19वीं सदी के उतरार्द्ध में हुई। साम्राज्यवादी शासन के विरुद्ध एक लंबे समय के संघर्ष के दौरान इसने भारतीय जनता की दृढ़ राष्ट्रीय एकता का केवल विदेशी शासन के विरुद्ध मुक्ति आंदोलन का नेतृत्व ही नहीं किया अपितु अंतत: भारतीय लोकतंत्र के एक नए ढांचे के निर्माण के लिए महत्त्वपूर्ण संघर्ष भी किया।

भारत में दलीय व्यवस्था की शुरूआत सन् 1885 में एक राजनीतिक मंच के रूप में कांग्रेस की स्थापना से मानी जाती है। इसके बाद अन्य दल एवं समूह अस्तित्व में आए। अंग्रेजों की बांटो और शासन करो की नीति के कारण मुस्लिम लीग, हिंदू महासभा एवं अकाली दल जैसे सांप्रदायिक दलों एवं समूहों के निर्माण को प्रोत्साहन मिला। राजनीतिक व्यवस्था के सांप्रदायीकरण के कारण उपनिवेशी शासन के विरुद्ध राष्ट्रीय एकता विखंडित और कमज़ोर हुई। जनता को जाति और धर्म के आधार पर बांटने के कारण एक निरपेक्ष दल व्यवस्था का विकास अवरूद्ध हो गया। इसलिए जब भारत स्वतंत्र हुआ तब भारतीय दल व्यवस्था अस्त-व्यस्त थी। एक लोकतांत्रिक संविधान स्वीकार करने के पश्चात् 1952 में सार्वभौम व्यस्क मताधिकार पर आधारित प्रथम आम चुनाव की लहर में एक नई और भिन्न प्रकार की दलीय व्यवस्था का उदय हुआ।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस

अखिल भारतीय दल के रूप में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना 1885 में मुम्बई में हुई। यह आरंभिक राष्ट्रवादियों का एक राजनीतिक मंच था, जिसकी स्थापना के पीछे कई ब्रिटिश अधिकारियों एवं बुद्धिजीवियों का भी हाथ था। ए० ओ० हयूम इसके पहले अध्यक्ष थे। कांग्रेस अपने आरंभिक चरण में ब्रिटिश सरकार के साथ सहयोग करती थी एवं संवैधानिक सीमाओं में रहकर कुछ सुधारों एवं छूटों की मांग करती थी। पर 1905 के बाद यह विधान सभाओं एवं स्थानीय निकायों में भारतीयों की अधिक भागीदारी के लिए लॉबी का एक मंच बन गया। इसके साथ ही इसने एक उत्साही राष्ट्रवादी चरित्र अर्जित कर लिया। विधिवादी सुधारकों और उग्रवादी क्रांतिकारियों के बीच नेतृत्व के झगड़ों से गुजरते हुए कांग्रेस तेजी से राष्ट्रीय आकांक्षा और संघर्ष के एक केन्द्र के रूप में उभर रही थी। 1915 में गांधीजी का स्वदेश आगमन हुआ। 1920 से वे भारत के राजनीतिक भू-मंडल पर तेजी से छा गए। समस्त भारत में राजनीतिक चेतना की लहर दौड़ गई। कांग्रेस ने ब्रिटिश शासन विरोधी जनता की लहर का नेतृत्व किया। इस प्रक्रिया में कांग्रेस किसान, मजदूर एवं बुद्धिजीवियों के आंदोलन के रूप में स्वतंत्रता के लिए बहुवर्गीय जन आंदोलन बन गया। ब्रिटिश उपनिवेशवाद के विरुद्ध राष्ट्रीय संघर्ष में अग्रणी ताकत के रूप में कांग्रेस अखिल भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन बन गया। इसमें सुधारवादी, उदारवादी, क्रांतिकारी के अलावा अनेक प्रभावी समूह वर्ग, प्रादेशिक और वैचारिक समूह शामिल थे। 1947 में स्वतंत्रता प्राप्ति के साथ कांग्रेस ने स्वयं ही अपने को एक संघीय राजनीतिक शक्ति के ढांचे में गठित कर लिया।

कांग्रेस अपनी क्षमता के कारण व्यापक निर्वाचन समर्थन को आकर्षित करके केंद्रीय सरकार के संघीय स्तर पर लोकसभा में सिवाय

1977, 1989 और 1999 को छोड़कर या तो बड़े दल के रूप में या फिर सरकार बनाती रही है। इसके फलस्वरूप वह भारतीय संसदीय प्रणाली की बहुदलीय स्थिति में एक प्रभावी दल के रूप में उभरा। क्षेत्रीय विस्तार की दृष्टि से इसे एकल अखिल भारतीय दल के रूप में मान्यता प्राप्त है।

कांग्रेस के सदस्य विभिन्न व्यवसाय एवं वर्ग समूहों के हैं। इसमें सभी आयु, वर्ग, धर्म, समुदाय और सामाजिक स्तर के सदस्य शामिल हैं। चीन की कम्युनिस्ट पार्टी के बाद संभवत: विश्व में सर्वाधिक सदस्यता संख्या इसी की है। इसकी स्थापना से लेकर आज तक की गतिविधियों को देखें तो ग्रेट ब्रिटेन के कंजरवेटिव एवं लेबर पार्टी या संयुक्त राज्य अमरीका के डेमोक्रेट पार्टी के बाद विश्व का सबसे पुराना राजनीतिक दल है।

मुस्लिम लीग

मुस्लिम लीग की स्थापना 1906 में ढ़ाका में हुई। सलीमुल्ला की प्रेरणा से गठित इस संगठन के पहले अध्यक्ष आगा खां थे। वास्तव में मुस्लिम लीग का गठन अंग्रेजों की बांटो और राज करो की नीति का परिणाम था। भारत में अंग्रेजों ने मुस्लिम शासकों को अपदस्त कर सत्ता हथिया ली थी। इस कारण मुसलमानों में अंग्रेजों के प्रति घृणा की भावना थी। 1857 के विद्रोह में बड़ी संख्या में भाग लेकर मुसलमानों ने अंग्रेजों के प्रति अपनी घृणा एवं नफरत का इजहार किया। इस घटना से सबक लेते हुए अंग्रेजों ने भारत में सांप्रदायिकता को बढ़ावा दिया। इसके माध्यम से उन्होंने हिंदू और मुसलमानों के बीच दूरी बढ़ाने की कोशिश की। 1885 में जब भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना हुई तो इसे हिंदुओं के संगठन के रूप में प्रचारित किया गया। मुसलमानों में एक कृत्रिम भय पैदा कर उन्हें हिंदुओं से अलग करने की कोशिश की गई। मुसलमानों में अल्पसंख्यकजन्य भय की मनोवैज्ञानिकता ने इसके लिए आधार तैयार किया।

लीग भी अब यह मानने लगी कि मुसलमानों का हित हिंदुओं से अलग है और अंग्रेजी सरकार ही उनके हितों का संरक्षण कर सकती है। 1906 में लार्ड मिंटो के इशारे पर मुसलमानों का एक शिष्टमंडल आगा खां के नेतृत्व में शिमला में वायसराय से मिला और मुसलमानों के लिए अलग निर्वाचन व्यवस्था की मांग की। इस मांग को स्वीकार कर लिया गया।

शीघ्र ही दूरदर्शी मुसलमानों ने यह अनुभव किया कि ब्रिटिश सरकार ने भारतीयों की एकता को नष्ट करने की कोशिश की है और बड़ी चालाकी से मुसलमानों को राष्ट्रीय आंदोलन से अलग रखा है। प्रगतिशील मुसलमान यह अनुभव करने लगे कि हिंदुओं और मुसलमानों के हित में कोई मौलिक अंतर नहीं है। 1913 के कराची अधिवेशन में लीग ने एक प्रस्ताव पारित किया, जिसके अनुसार लीग का उद्देश्य निश्चित हुआ- औपनिवेशिक स्वराज्य की प्राप्ति। 1916 में कांग्रेस एवं लीग का अधिवेशन साथ-साथ लखनऊ में हुआ। लीग ने कांग्रेस के साथ मिलकर स्वराज के लिए संघर्ष का आह्वान किया। इसमें जिन्ना जैसे प्रमुख राष्ट्रवादी नेता ने मुख्य भूमिका निभाई।

कांग्रेस और लीग में एक बड़ा दरार तब बनता दिखाई दिया जब जिन्ना ने नेहरू रिपोर्ट को अस्वीकार कर अपनी 14 सूत्री मांग प्रस्तुत की। प्रथम गोलमेज सम्मेलन का कांग्रेस ने बहिष्कार किया जबकि लीग के प्रतिनिधि के रूप में जिन्ना इसमें शामिल हुए।

1931 में मोहम्मद इकबाल ने मुसलमानों के लिए एक अलग राष्ट्र पाकिस्तान की मांग रखी। लीग ने इस मांग को हथिया लिया और मुसलमानों के लिए एक अलग राष्ट्र की मांग करने लगी।

1937 के चुनाव में हार के बाद लीग की राजनीति अधिक हिंसक और उग्र होती गई। लीग के प्रभाव वाले क्षेत्रों में सांप्रदायिक दंगे भी हुए। 1940 के लाहौर अधिवेशन में लीग ने खुलकर द्वि-राष्ट्र की मांग रखी। उसने बांटो और जाओ को नारा दिया। क्रिप्स और कॉबिनेट मिशन को अस्वीकार किए जाने का मुख्य कारण यही था कि इसमें पाकिस्तान की मांग को स्पष्ट रूप से स्वीकार नहीं किया गया था।

1946 के चुनाव में लीग को मुस्लिम बहुल प्रांतों में अभूतपूर्व सफलता मिली। इससे लीग का मनोबल बढ़ा। आरंभिक दौर में लीग जहां संभ्रांत और अमीर मुसलमानों का संगठन था वहीं इस दौर में आकर उसे एक बड़ा जन समर्थन भी प्राप्त हो गया। अब वह पाकिस्तान की मांग पर अड़ गई। मुस्लिम लीग के रवैये एवं बढ़ते सांप्रदायिक दंगे के कारण देश का विभाजन अनिवार्य हो गया।

लीग की सांप्रदायिक राजनीति का परिणाम था- 1947 में देश का विभाजन। यद्यपि हिंदू सांप्रदायिकता ने भी लीग को इसके लिए कहीं न कहीं प्रेरित किया।

भारतीय जनता पार्टी

भारतीय जनता पार्टी की स्थापना दिसंबर 1980 में हुई। यह भारतीय जनसंघ का ही एक नया और संशोधित रूप है। भारतीय जनसंघ की स्थापना श्यामा प्रसाद मुखर्जी ने 1951 ई० में की थी। भारतीय जनता पार्टी अपने अनुशासन, संगठन एवं पारम्परिक सामाजिक-सांस्कृतिक हिंदू संगठनों राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ एवं विश्व हिंदू परिषद् से संबंधित मामलों में जनसंघ जैसी ही लगती है। 1977 में जनसंघ के विघटित कर दिए जाने के कारण यह नवगठित जनता पार्टी का एक प्रमुख घटक बन गया। अटल बिहारी वाजपेयी और लाल कृष्ण आडवाणी जैसे जनसंघ के नेता जनता पार्टी के मंत्रीमंडल में मंत्री बनाए गए। 1980 के लोकसभा चुनाव में इस दल के पराजित होने के बाद पहले के जनसंघ के अधिकांश नेता जनता पार्टी से अलग हो गए और भारतीय जनता पार्टी नामक एक नए दल की स्थापना की।

भारतीय जनता पार्टी का मुख्य आधार समर्थन हिंदी प्रदेश में ग्रामीण और नगरीय क्षेत्र के छोटे और मध्यम स्तर के व्यापारी और दुकानदार, पारंपरिक व्यावसायिक समुदाय के वैश्य तथा जैन तथा पारंपरिक राजनीतिक दृष्टिकोण में विश्वास रखने वाली जनता है। मध्यम स्तर के व्यवसायी और नौकरी पेशा कार्मिकों के बीच भी इसके समर्थक हैं। विशेषतया 1977 से कुछ मामलों में इसका प्रभाव दक्षिण भारत के प्रदेशों केरल, कर्नाटक और आंध्रप्रदेश तक फैल गया।

1989 के चुनाव में इसे भारी सफलता मिली, जब इसने लोकसभा में 88 सीटों पर विजय प्राप्त की। 1997 एवं 1999 के चुनाव में यह अकेली सबसे बड़ी पार्टी के रूप में उभरी। अन्य दलों के सहयोग से इसने पहली बार 1997 में केन्द्र में अपनी सरकार बनायी। पर उसे सदन में बहुमत हासिल नहीं हो सकी। 1999 में भाजपा ने अन्य दलों के साथ मिलकर एनडीए का गठन किया एवं वाजपेयी के नेतृत्व में एक मिलीजुली सरकार बनी। इस सरकार ने अपना कार्यकाल पूरा किया। आज कई राज्यों में भाजपा की सरकारें हैं।

कम्युनिस्ट पार्टी

भारत में कांग्रेस के बाद सबसे पुराना दल कम्युनिस्ट पार्टी है। सितंबर 1924 में इसका गठन कानपुर में हुआ। दिसंबर 1925 में बंबई में औपचारिक तौर पर इसका मुख्यालय बनाया गया और यह एक दल की भांति राष्ट्रीय आंदोलन में शामिल हो गई। अपनी स्थापना के आरंभिक वर्षों में इसकी गतिविधियां बंबई, मद्रास, कानपुर और अहमदाबाद जैसे नगरीय औद्योगिक क्षेत्रों में श्रमिक संघ के मोर्चे तक सीमित थी। 1930 एवं 40 के दशक में इसकी गतिविधियां श्रमिक संगठनों से बढ़कर किसान संगठनों एवं नगरीय बुद्धिजीवियों तक पहुंच गई।

भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की नई चेतना और क्रांतिकारी नारों से ब्रिटिश सरकार को खतरे की घंटी सुनाई पड़ी और उसने कम्युनिस्ट पार्टी के अग्रणी राष्ट्रवादी नेताओं को सरकार के विरुद्ध षड्यंत्र करने के मामले में कैद कर लिया। कम्युनिस्ट नेताओं ने अब कांग्रेस के साथ मिलकर काम करने की योजना बनाई। कई कम्युनिस्ट नेताओं ने कांग्रेस में शामिल होकर अपनी गतिविधियां जारी रखीं। नेहरू और सुभाष चंद्र बोस जैसे समाजवादी रूझानवाले कांग्रेसी नेताओं के कारण यह गठबंधन अधिक सफल रहा। यह कांग्रेस के भीतर ही कांग्रेस समाजवादी पार्टी के गठन का मुख्य आधार बना। पर अलग विचारधारा एवं रणनीति के कारण कांग्रेस एवं कम्युनिस्टों में अक्सर मतभेद उभर आता था। अत: लंबे समय तक साथ रहकर वे कार्य नहीं कर सके। 1942 के कांग्रेस के भारत छोड़ो प्रस्ताव का कम्युनिस्टों ने विरोध किया। वे इसे फासीवाद के खिलाफ संघर्ष मानते थे। 1947 में जब देश को आजादी मिली तो उन्होंने इसे सच्ची आजादी के रूप में स्वीकार नहीं किया। 1948 के कलकत्ता अधिवेशन में कम्युनिस्टों ने सच्ची राष्ट्रीय आजादी प्राप्त करने के लिए सशस्त्र संघर्ष सहित सामंतवाद, पूंजीवाद और साम्राज्यवाद पर आक्रमण की नीति का समर्थन किया। पर पार्टी ने समाजवाद की स्थापना के लिए संसदीय प्रणाली को स्वीकार किया और 1952 के संसदीय चुनाव में हिस्सा भी लिया। पूरे नेहरू युग में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी ही मुख्य विपक्षी दल थी। 1957 के चुनाव में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी को केरल विधान सभा में स्पष्ट बहुमत प्राप्त

हुआ और देश में पहली कम्युनिस्ट सरकार बनी।

चीन-सोवियत मतभेद और संघर्ष से विश्व के प्राय: सभी भागों में साम्यवादी आंदोलन विभाजित हो गया। इसी के परिणामस्वरूप 1964 में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी में फूट पड़ गई और 1967 में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी से अलग होकर भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी) का गठन हुआ। यही पार्टी आज भारत की मुख्य कम्युनिस्ट पार्टी है।

फारवर्ड ब्लॉक

फारवर्ड ब्लॉक की स्थापना 1939 में सुभाषचंद्र बोस ने की। दरअसल कांग्रेस की राजनीति से सामंजस्य न बिठा पाने एवं गांधी के साथ उभरे मतभेद के कारण एक अलग दल की स्थापना अपरिहार्य सी हो गई थी। कांग्रेस के भीतर जिस समाजवादी विचारधारा का प्रभाव बढ़ रहा था, उसके वाहक सुभाषचंद्र बोस और नेहरू थे। फारवर्ड ब्लॉक पर इसका प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है।

सुभाषचंद्र बोस ने कांग्रेस के उद्देश्य, नीति, कार्यक्रम सभी को स्वीकार कर लिया। पर उन्हें कांग्रेस के हाई कमान पर विश्वास नहीं था। वह नीचे से फैसले लेने के समर्थक थे। उन्होंने समस्त साम्राज्य विरोधी, आतंकवादी तथा प्रगतिशील तत्वों को एक झन्डे तले एकत्रित करने का प्रयत्न किया एवं एक वामपंथी एकीकरण समिति भी गठित की।

बोस कांग्रेस की अंग्रेजों से सहयोग की नीति के विरोधी थे। वे अंग्रेजों को देश से बाहर निकालने के लिए हिंसक संघर्ष एवं अन्य देशों से सहयोग के भी समर्थक थे। 1947 में शक्ति के हस्तांतरण को उन्होंने झूठे शक्ति हस्तांतरण की संज्ञा दी। उनका कहना था कि भयभीत बुर्जुआ ने अंग्रेजी साम्राज्यवादियों के साथ साझेदारी स्थापित कर ली है ताकि जनता के संघर्ष को समाप्त किया जा सके।

बहिष्कृत हितकारिणी सभा

बहिष्कृत हितकारिणी सभा की स्थापना 1924 में डॉ० भीमराव अम्बेडकर ने की। इसका उद्देश्य अस्पृश्य लोगों की नैतिक एवं भौतिक उन्नति करना था। उन्होंने आंदोलन की नीति अपनाई एवं अछूतों के लिए मंदिर में प्रवेश तथा जन साधारण के कुंओं से पानी भरने के नागरिक अधिकारों को प्राप्त करने का प्रयत्न किया। महाराष्ट्र के ग्रामीण इलाके में इसका प्रभाव अधिक था।

जस्टिस पार्टी

जस्टिस पार्टी मुख्यत: एक राजनीतिक दल नहीं था। यह एक गैर-ब्राह्मण संगठन था। इसकी स्थापना 1917 में पी० त्याग राज एवं टी० एम० नैयर ने की थी। 1937 में रामास्वामी नायकर इसके सभापति चुने गए। नायकर ने अस्पृश्यता जैसे अन्याय के खिलाफ आंदोलन चलाया। उन्होंने हिंदू-धर्म की भर्त्सना की एवं मनु के विधान को अमानुषी बताया। नायकर धर्म को एक अंधविश्वास मानते थे। मूर्ति पूजा में भी उनकी आस्था नहीं थी। वे मानव के लिए एक ही ईश्वर की बात करते थे। जस्टिस पार्टी ने नायकर के इन्हीं विचारों का दक्षिण भारत में प्रचार किया।

DISCOVERY

20 1947-1964 की प्रगति

भारत का संविधान

आजादी मिलने के बाद, 26 जनवरी 1950 को भारत का संविधान लागू हुआ। इस संविधान का निर्माण भारत की प्रतिनिधि सभा द्वारा किया गया था। आज देश की शासन व्यवस्था संविधान के अनुसार ही संचालित होती है। भारतीय संविधान भारत को एक संपूर्ण प्रभुत्व संपन्न, समाजवादी, धर्मनिरपेक्ष, लोकतंत्रात्मक, गणराज्य घोषित करता है। भारत के शासन की संप्रभुता उसकी जनता में निहित है। इस प्रकार जनता ही अप्रत्यक्ष रूप से शासन का नियमन और संचालन करती है। इसके लिए देश में प्रतिनिधि प्रणाली को अपनाया गया है। चूंकि बड़े देश में शासन का संचालन प्रत्यक्ष रूप से संभव नहीं हो पाता, इसलिए जनता शासन संबंधी अपना अधिकार अपने द्वारा चुने गए प्रतिनिधियों में समाहित कर देती है। चुने हुए प्रतिनिधि जनता के नाम पर शासन करते हैं, और अपने कार्य के लिए जनता के प्रति उत्तरदायी होते हैं। जनता प्रत्येक पांच वर्ष पर गुप्त मतदान के द्वारा अपने प्रतिनिधि का चयन करती है। मतदान की यह प्रणाली कमोबेश सभी लोकतंत्रों में अपनायी गई है।

संविधान के अनुसार भारत में संसदीय प्रणाली की स्थापना की गई है। हमारे चुने हुए प्रतिनिधि संसद और राज्य विधान मंडलों के सदस्य होते हैं। सरकार का गठन विधान मंडल के सदस्यों द्वारा ही होता है। विधान मंडल के सदस्य शासन के लिए नीति निर्धारित भी करते हैं।

संविधान के अनुसार भारत एक धर्मनिरपेक्ष राज्य है। भारत में धर्मनिरपेक्षता को एक बृहद् अर्थ में स्वीकार किया गया है जिसका अभिप्राय है- सर्व धर्म समन्वय। इसके साथ ही शासन को धार्मिक कृत्यों से अलग किया गया है। संविधान किसी भी धर्म को राजकीय धर्म के रूप में स्वीकार नहीं करता।

भारत की शासन व्यवस्था का मुख्य आधार है- संघीय प्रणाली। इसमें संघ एवं राज्य दो अलग-अलग इकाइयां हैं। संविधान में इनके बीच शक्तियों का स्पष्ट बंटवारा किया गया तथा साथ ही इनके बीच समन्वय स्थापित करने का भी प्रयास किया गया है। भारत की संघीय प्रणाली की मुख्य विशेषताएं हैं- लिखित संविधान, शक्तियों का बंटवारा तथा संसद की ऊपरी सदन का गठन। उपरी सदन का गठन राज्यों द्वारा चुने गए प्रतिनिधियों द्वारा होता है।

भारत के संविधान में राजनीतिक स्वतंत्रता के साथ-साथ सामाजिक-आर्थिक स्वतंत्रता भी सुनिश्चित की गई है। इसके लिए व्यक्ति के मूलभूत अधिकारों की घोषणा की गई। संविधान में मौटे तौर पर 6 प्रकार की स्वतंत्रताओं की गारंटी दी गई है। ये मूल अधिकार हैं- समानता का, विचारों की अभिव्यक्ति का अधिकार, शोषण से रक्षा का अधिकार, अंत: करण की प्रेरणा तथा धर्म को निर्बाध रूप से मानने, उसके अनुरूप आचरण करने तथा उसका प्रचार करने की स्वतंत्रता, अपने भाषा, लिपि एवं संस्कृति को संरक्षित करने का अधिकार एवं संवैधानिक उपचारों का अधिकार।

DISCOVERY

भूमि सुधार

स्वंतत्रता के समय भारत में भू-धारण की तीन पद्धतियां थी- जमींदारी, रैयतवाड़ी एवं महालवाड़ी। जमींदारी व्यवस्था कार्नवालिस द्वारा स्थापित की गई थी और इसे स्थायी बंदोबस्त के रूप में भी जाना जाता था। स्थायी बंदोबस्त के अंतर्गत लगान को स्थायी रूप से निर्धारित कर दिया जाता था, जिसमें भविष्य में कोई परिवर्तन नहीं होता था। इस व्यवस्था के अंतर्गत जमींदार को भूमि का स्वामी मान लिया गया था। जमींदार किसानों से बेगार कराता एवं तरह-तरह के अन्य कर भी वसूल करता था। इस कारण यह व्यवस्था किसानों के लिए अधिक पीड़ादायी थी।

राष्ट्रीय आंदोलन के दिनों से ही किसान इस व्यवस्था में बदलाव की मांग कर रहे थे। किसान सभा ने जमींदारी उन्मूलन के लिए आंदोलन भी चलाया। कांग्रेस एवं राष्ट्रीय आंदोलन से जुड़े अन्य नेता भी जमींदारी व्यवस्था के समाप्त करने की मांग से सहमत थे। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारत सरकार ने आर्थिक सुधार की जो नीति अपनाई, उसमें भूमि सुधार संबंधी कार्यक्रम भी शामिल था। सरकार द्वारा भूमि सुधार के क्षेत्र में निम्नलिखित उपाय किए गए-

1. मध्यस्थों का उन्मूलन एवं जमींदारी प्रथा की समाप्ति
2. काश्तकारी सुधार
3. कृषि का पुनर्गठन।

जमींदारी उन्मूलन के संबंध में भारत सरकार ने राज्यों को यह निर्देश दिया कि वे इस संबंध में कानून पारित करें। जमींदारी उन्मूलन का पहला कानून 1948 में मद्रास राज्य द्वारा पारित किया गया। अन्य राज्यों ने भी कानून बनाकर इस व्यवस्था को समाप्त कर दिया। पर व्यावहारिक रूप में जमींदारी व्यवस्था अब भी बनी हुई है। इसका एक मुख्य कारण इन कानूनों को लागू करने की राजनीतिक इच्छा शक्ति का अभाव है, क्योंकि भूमि से जुड़ा हुआ अधिपति वर्ग राजनीतिक वर्ग के लिए एक प्रभावी वोट बैंक है।

काश्तकारी सुधार के अंतर्गत तीन प्रकार के उपाय किए गए- लगान का निर्धारण, काश्त अधिकार की सुरक्षा एवं काश्तकारों का भूमि पर मालिकाना अधिकार। स्वतंत्रता के बाद काश्तकारों की सुरक्षा के लिए बंबई, पंजाब और मध्य प्रदेश में कानून बनाए गए। पंजाब, हैदराबाद तथा राजस्थान में कानून बनाकर काश्तकारों द्वारा जमींदारों को दिए जाने वाले लगान की अधिकतम सीमा निर्धारित कर दी गई। कुछ राज्यों ने काश्तकारों को भूमि पर मालिकाना हक देने के लिए भी कानून बनाए। नगालैंड, मिजोरम और मेघालय को छोड़कर सभी राज्यों में काश्तकारी कानून लागू किए गए।

कृषि के पुनर्गठन के संबंध में दो प्रकार के उपाय किए गए-जोतों की सीमाबंदी एवं जोतों की चकबंदी। जोतों की उच्चतम सीमा जल की उपलब्धि वाले क्षेत्रों में 54 एकड़ तथा असिंचित क्षेत्रों में 130 एकड़ तक सीमित कर दिया गया। जोतों के उपविभाजन एवं उप-विखण्डन को रोकने के लिए चकबंदी व्यवस्था को लागू किया गया। भारत में सबसे पहले चकबंदी 1924 में बड़ौदा रियासत में लागू की गई थी।

कृषि पुनर्गठन के अंतर्गत कृषि फसलों के उपज बढ़ाने की ओर विशेष ध्यान दिया गया। 1966 में नार्मन बोरलाग तथा डॉ० एम.एस. स्वामीनाथन के नेतृत्व में हरित क्रांति का आरंभ हुआ। इससे खाद्यान खासकर गेहूं के उत्पादन में गुणात्मक वृद्धि हुई। इस कारण भारत में खाद्य संकट का हल हो सका। कृषि के विकास के लिए सहकारी साख समितियों की स्थापना कर कृषि के लिए ऋण एवं अन्य कृषि आदान उपलब्ध कराए गए।

भारत में नियोजन प्रणाली

आजादी के बाद भारत के सामने महत्त्वपूर्ण चुनौती थी- आर्थिक विकास की। देश के पहले प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू ने आर्थिक विकास के लिए नियोजन प्रणाली को अपनाया। 1950 में एक स्वतंत्र निकाय के रूप में योजना आयोग की स्थापना की गई। जवाहर लाल नेहरू इसके पदेन अध्यक्ष बनाए गए। योजना आयोग का मुख्य दायित्व देश के विकास के लिए योजना का निर्माण एवं आर्थिक संसाधनों के पुनर्वितरण की व्यवस्था करना है। इसका मुख्य उद्देश्य देश को आत्म निर्भर बनाना एवं एक महत्त्वपूर्ण आर्थिक

शक्ति के रूप में भारत को स्थापित करना है।

पंडित नेहरू आरंभ से ही रूस की आर्थिक नियोजन की प्रणाली से प्रभावित थे। 1938 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने एक राष्ट्रीय नियोजन समिति का गठन किया था, जिसके अध्यक्ष नेहरू बनाए गए थे। इस प्रकार आजादी के पूर्व ही भारत में आर्थिक नियोजन का सैद्धांतिक प्रयास आरंभ हो चुका था। इस दिशा में प्रथम प्रयास 1934 में सर एम विश्वेश्वरैया ने अपनी पुस्तक भारत के लिए नियोजित अर्थव्यवस्था नामक पुस्तक से प्रारंभ किया। अगस्त 1944 में भारत सरकार ने एक अलग नियोजन एवं विकास विभाग खोला। राष्ट्रपिता महात्मा गांधी की विचारधारा से प्रेरित होकर श्रीमन्नारायण ने 1944 में एक योजना प्रस्तुत की जिसे गांधीवादी योजना के नाम से जाना जाता है। 1944 में ही बम्बई के 8 प्रमुख उद्योगपतियों ने मिलकर प्लान फार इकोनोमिक डेवलपमेंट इन इंडिया नामक एक 15 वर्षीय योजना प्रस्तुत की, जिसका उद्देश्य भारत के आर्थिक विकास पर बल देना तथा 15 वर्षों के भीतर प्रति व्यक्ति आय को बढ़ाकर दुगुना करना था। जनवरी, 1950 में जयप्रकाश नारायण ने सर्वोदय योजना के नाम से एक योजना प्रकाशित की।

6 अगस्त, 1952 को आर्थिक आयोजना के लिए राज्यों एवं योजना आयोग के बीच सहयोग का वातावरण तैयार करने के उद्देश्य से राष्ट्रीय विकास परिषद् नामक एक गैर-संवैधानिक संस्था का गठन किया गया। इसके मुख्य कार्य निम्न थे-

1. योजना के संचालन का समय-समय पर मूल्यांकन करना
2. विकास को प्रभावित करने वाली नीतियों की समीक्षा करना
3. योजना में निर्धारित लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए सुझाव देना
4. योजना को अंतिम रूप प्रदान करना

भारत में पहली पंचवर्षीय योजना 1 अप्रैल 1951 से आरंभ हुई। इसमें कृषि के विकास को प्राथमिकता दी गई। इसी योजना में भाखड़ा नांगल, दामोदर घाटी तथा हीराकुंड जैसी बहुउद्देश्यीय नदी घाटी परियोजनाएं चालू की गई। साथ ही सामुदायिक विकास कार्यक्रम तथा राष्ट्रीय विकास योजना का आरंभ किया गया। प्रथम पंचवर्षीय योजना में ही सिंदरी उर्वरक कारखाना की बिहार में स्थापना की गई।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना में आधारभूत एवं भारी उद्योगों की स्थापना के साथ तीव्र औद्योगीकरण की नीति अपनाई गई। तृतीय पंचवर्षीय योजना का मुख्य लक्ष्य भारतीय अर्थव्यवस्था को आत्मनिर्भर बनाना तथा स्वत: स्फूर्त अवस्था में पहुंचाने का लक्ष्य रखा गया। तृतीय योजना के समय विदेशी विनिमय संकट तथा प्रतिकूल व्यापार शेष के कारण जून 1966 में रुपये का अवमूल्यन करना पड़ा जो योजना अवधि का पहला अवमूल्यन था। यह योजना चीन एवं पाकिस्तान के आक्रमण के कारण अपने लक्ष्यों को पाने में असफल रही। खाद्यान्न के क्षेत्र में आत्मनिर्भरता प्राप्त करने के लिए हरित क्रांति की शुरूआत इसी योजना काल में हुई।

भारत की विदेश नीति

स्वतंत्रता के पूर्व भारत की कोई स्पष्ट विदेश नीति नहीं थी, क्योंकि भारत ब्रिटिश सत्ता के अधीन था। किंतु विश्व मामलों में भारत की एक सुदीर्घ परंपरा रही है। इसका न केवल पड़ोसी देशों के साथ अपितु दूर-स्थित देशों के साथ भी सांस्कृतिक एवं व्यापारिक आदान प्रदान होता रहा है। भारत की विदेश नीति की रूपरेखा स्पष्ट करते हुए पंडित नेहरू ने 1946 में कहा था कि वैदेशिक संबंधों के क्षेत्र में भारत एक स्वतंत्र नीति का अनुसरण करेगा, और गुटों की खींचतान से दूर रहते हुए संसार के समस्त पराधीन देशों को आत्म निर्णय का अधिकार प्रदान करने तथा जातीय भेदभाव की नीति का दृढ़ता पूर्वक उन्मूलन कराने का प्रयत्न करेगा। नेहरू का उपरोक्त कथन आज भी भारतीय विदेश नीति का आधार स्तंभ है और भारत दुनिया के शांतिप्रिय राष्ट्रों के साथ मिलकर अंतरराष्ट्रीय सहयोग एवं सदभावना के प्रति प्रयत्नशील है।

भारत की विदेश नीति की स्पष्ट झलक पंचशील समझौते में देखने को मिलती है। यह विदेश नीति संबंधी पांच आचरणों पर बल देता है।

1. एक-दूसरे की प्रादेशिक अखंडता और सर्वोच्च सत्ता के लिए पारस्परिक सम्मान की भावना
2. अनाक्रमण की भावना

3. एक-दूसरे के आंतरिक मामले में हस्तक्षेप न करना
4. समानता एवं पारस्परिक लाभ
5. शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व की भावना का विकास।

पंचशील समझौते के अनुसार भारत ने अंग्रेजों से विरासत में प्राप्त उन विशेषाधिकारों का परित्याग कर दिया, जो अबतक उसे तिब्बत में प्राप्त थे।

अप्रैल, 1955 में इन्डोनेशिया के बान्डुंग शहर में एफ्रो-एशियाई देशों का एक सम्मेलन आयोजित किया गया। इसमें 29 देशों के 340 प्रतिनिधि एकत्रित हुए। इस सम्मेलन का आयोजन भारत, इंडोनेशिया तथा बर्मा ने सम्मिलित रूप से किया था। इस सम्मेलन में पंचशील के सिद्धान्तों पर जोर दिया गया तथा एशिया तथा अफ्रीका से संबंध रखने वाली आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक समस्याओं पर विचार विमर्श किया गया। इन देशों द्वारा विश्व शांति एवं अंतरराष्ट्रीय सहयोग के लिए किए जा सकने वाले कार्यों पर विचार विमर्श तथा नृ-जातीय भेद भाव एवं पृथकत्व समाप्त करने पर जोर दिया गया। इस सम्मेलन को तीसरी शक्ति के अभ्युदय के प्रतीक के रूप में देखा जाने लगा।

20 सितंबर, 1961 को भारत के प्रधानमंत्री पंडित जवाहर लाल नेहरू, मिस्र के राष्ट्रपति कर्नल नासिर तथा यूगोस्लाविया के राष्ट्रपति मार्शल टीटो के सहयोग से विश्व की तीसरी शक्ति के रूप में यूगोस्लाविया की राजधानी बेलग्रेड में गुट निरपेक्ष संघ का गठन किया गया। इसका मुख्य उद्देश्य गुट निरपेक्षता के क्षेत्र का विस्तार तथा इसके माध्यम से अंतरराष्ट्रीय तनाव को कम करना था। बेलग्रेड सम्मेलन में इसके प्रतिनिधियों ने यह प्रस्ताव पारित किया कि सदस्य देश शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व पर बल दें, समस्त राष्ट्र पूर्ण स्वतंत्रता के साथ अपनी सरकार का गठन करें, एक-दूसरे की अखंडता एवं सार्वभौमिकता का सम्मान करें तथा रंगभेद की नीति की आलोचना करें इसने परमाणु हथियारों से मुक्त विश्व व्यवस्था का भी समर्थन किया। गुट निरपेक्ष आंदोलन ने उपनिवेशवाद को समाप्त करने एवं तीसरी दुनिया के नव-स्वतंत्र राष्ट्रों में लोकतंत्र, मानव अधिकारों की सुरक्षा एवं चुनी हुई सरकार की स्थापना पर बल दिया। इस प्रकार द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद अंतरराष्ट्रीय राजनीति के स्वरूप में परिवर्तन लाने में गुट निरपेक्ष आंदोलन की विशेष भूमिका रही। इसने नवोदित राष्ट्रों की स्वाधीनता की रक्षा तथा युद्ध की संभावनाओं को रोकने में अपनी प्रभावी भूमिका का परिचय दिया।

भारत-चीन युद्ध 1962

1947 में देश की आजादी के बाद से ही भारत ने अपने पड़ोसी देशों के साथ शांतिपूर्ण सहयोग की नीति अपनाई। इसने एक-दूसरे के आंतरिक मामले में हस्तक्षेप न करने एवं पारस्परिकता तथा समानता पर आधारित संबंधों पर बल दिया। 1954 में भारतीय प्रधानमंत्री नेहरू ने चीन के प्रधानमंत्री चाऊ एन लाई के साथ पंचशील समझौते पर हस्ताक्षर किया। यह एक-दूसरे की प्रादेशिक अखंडता और सर्वोच्च सता के लिए पारस्परिक सम्मान की भावना पर आधारित थी।

इस मैत्री संबंध में छिद्र तब प्रकट हुआ जब जुलाई, 1958 में चीन ने ऐसे मानचित्र प्रकाशित किए, जिसमें लद्दाख से लेकर असम सीमा तक हिमालय क्षेत्र के 1,32,090 वर्ग-किमी भारतीय भू-भाग को चीनी सीमा के अंतर्गत दिखाया गया। 1959 में तिब्बत ने चीन के विरुद्ध खुला विद्रोह कर दिया। फलस्वरूप चीन ने तिब्बत को रौंद डाला एवं वहां पर आतंक का राज्य कायम कर दिया। परिणामस्वरूप तिब्बत के धार्मिक नेता दलाई लामा को बहुसंख्यक तिब्बतियों के साथ भारत में शरण लेनी पड़ी। चीन ने इस घटना के लिए भारत को दोषी ठहराया एवं 20 अक्टूबर, 1962 को भारत पर आक्रमण कर दिया। लगभग 30,000 चीनी सैनिक लद्दाख एवं अरूणाचल की सीमा में घुस आए। दिसंबर 1962 को भारतीय प्रधानमंत्री नेहरू ने चाऊ एन लाई को 20 अक्टूबर, 1962 के पूर्व की स्थिति में वापस लाने को एक स्पष्ट और सीधा संदेश भेजा ताकि शांतिपूर्ण एवं अपेक्षित वातावरण का निर्माण किया जा सके।

भारत-चीन विवाद को शांतिपूर्ण तरीके से सुलझाने के लिए कुछ एशियाई एवं अफ्रीकी देशों ने श्रीलंका की राजधानी कोलंबो में एक सम्मेलन आयोजित किया, जिसे कोलम्बो सम्मेलन के नाम से जाना जाता है। यद्यपि भारत ने इस सम्मेलन में पारित प्रस्तावों को स्वीकार कर लिया, किंतु चीन ने न केवल इसे मानने से इनकार कर दिया बल्कि उसने भारत के लद्दाख क्षेत्र में सात सैनिक चौकियां भी स्थापित कर ली। आज भी लद्दाख का 36,260 वर्ग किमी भू-भाग चीन के कब्जे में है।

भारत-पाकिस्तान युद्ध 1965

देश के विभाजन के समय भारतीय नेताओं को यह आशा थी कि विभाजन के बाद शांति एवं आपसी मेलजोल को बढ़ावा मिलेगा। किंतु पाकिस्तान के विभाजन के साथ ही कुछ ऐसी समस्याएं उत्पन्न हुई, जिसके कारण दोनों देशों के बीच संबंधों में कटुता आ गई, जैसे- हैदराबाद विवाद, जूनागढ़ विवाद, ऋण अदायगी का प्रश्न, नहरी पानी विवाद और कश्मीर समस्या।

1949 में युद्ध विराम रेखा निर्धारित हो जाने पर पाकिस्तान के हाथ कश्मीर का 32,000 वर्ग मील क्षेत्र चला गया। उधर संयुक्त राष्ट्र संघ ने जनमत संग्रह के प्रश्न पर यह शर्त लगा दी कि पाकिस्तान द्वारा कश्मीर के अधिकृत क्षेत्र से पूर्ण वापसी की स्थिति में ही जनमत संग्रह होगा। परंतु पाकिस्तान अधिकृत कश्मीर से अपनी सेनाएं हटाने को तैयार नहीं था। अत: जनमत संग्रह नहीं हो सका। 6 फरवरी, 1954 को कश्मीर की संविधान सभा ने एक प्रस्ताव पास कर जम्मू-कश्मीर राज्य के भारत में विलय की पुष्टि कर दी। भारत सरकार ने संविधान में संशोधन कर अनु० 370 के तहत कश्मीर को विशेष राज्य का दर्जा दे दिया। 26 जनवरी, 1957 को जम्मू-कश्मीर का संविधान लागू हुआ और इसी के साथ कश्मीर भारतीय संघ का एक अभिन्न हिस्सा बन गया, पर पाकिस्तान इस विलय को स्वीकार नहीं करता। इस कारण कश्मीर आज भी दोनों देशों के बीच विवाद का मुख्य विषय बना हुआ है।

अप्रैल, 1965 में पाकिस्तानी सेना की दो टुकड़ियाँ भारतीय क्षेत्र में आ घुसी एवं कच्छ के कई भागों पर अधिकार कर लिया। कच्छ के रन को लेकर भारत और पाकिस्तान के बीच संघर्ष आरंभ हो गया। इसी दौरान हजारों पाकिस्तानी छापामार सैनिक कश्मीर में घुस आए। इसी बीच पाकिस्तान की नियमित सेना ने अंतरराष्ट्रीय सीमा रेखा को पार करके भारतीय भू-भाग पर आक्रमण कर दिया और पूर्ण रूप से युद्ध आरंभ हो गया।

गुट निरपेक्षता की नीति

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद विश्व की राजनीति स्पष्टत: दो गुटों में बंट गई। एक गुट का नेतृत्व पूंजीवादी प्रभाववाला राष्ट्र अमरीका कर रहा था तो दूसरे गुट का नेतृत्व साम्यवादी विचारवाला राष्ट्र सोवियत संघ। दोनों गुटों के बीच अपने प्रभाव क्षेत्र के विस्तार को लेकर तनाव इतना बढ़ गया कि युद्ध जैसी स्थिति पैदा हो गई। टकराव की इस पृष्ठभूमि में ही गुटनिरपेक्ष आंदोलन का जन्म हुआ। गुटनिरपेक्षता इन दोनों प्रभावी गुटों से अलग एक तटस्थ नीति थी, जो एशिया और अफ्रीका के नव स्वाधीन राष्ट्रों में लोकतंत्र की स्थापना, परस्पर सहयोग एवं विश्व शांति के प्रति प्रतिबद्ध था। गुटनिरपेक्षता का मुख्य उद्देश्य राष्ट्रों के बीच तनाव को कम कर विश्व शांति की स्थापना करना था।

गुटनिरपेक्ष आंदोलन की पृष्ठभूमि 1955 के बान्डुंग सम्मेलन से ही बनने लगी थी। भारत के प्रधानमंत्री नेहरू, मिस्र के अब्दुल नासिर एवं यूगोस्लाविया के मार्शल टीटो के प्रयासों से 1961 में इस आंदोलन की नींव पड़ी। इसका पहला सम्मेलन सितंबर, 1961 में बेलग्रेड में हुआ। इस सम्मेलन में 25 अफ्रीकी एवं एशियाई देशों तथा एक यूरोपीय देश ने भाग लिया। इस सम्मेलन में 27 सूत्रीय घोषणा पत्र को स्वीकार किया गया। सम्मेलन में विश्व के सभी भागों में हर प्रकार की उपनिवेशवादी, साम्राज्यवादी, नव उपनिवेशवादी तथा नस्लवादी प्रवृत्तियों की कड़ी निन्दा की गई। इसमें अल्जीरिया, अंगोला, कांगो, ट्यूनिशिया आदि देशों में चल रहे स्वतंत्रता संघर्षों का पुरजोर समर्थन किया गया। सम्मेलन में विकासशील देशों के बीच व्यापार को बढ़ावा देने के लिए उचित प्रयासों पर बल दिया गया। सम्मेलन द्वारा संपूर्ण निरस्त्रीकरण की अपील भी की गई। इन राष्ट्रों ने सभी विकसित एवं विकासशील देशों के सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक विकास का आह्वान किया।

कुछ लोग मानते हैं कि गुटनिरपेक्षता विश्व मामलों में तटस्थता या अलगाव की नीति है, पर ऐसा मानना उचित प्रतीत नहीं होता। सच तो यह है कि गुट निरपेक्षता गुटीय भावना से ऊपर उठकर अंतरराष्ट्रीय संबंधों को बढ़ावा देने वाली नीति है। यह विदेश नीति का अधिक सक्रिय एवं प्रभावी दृष्टिकोण है। यह विश्व स्तर पर किसी भी तरह के सैनिक गुट के निर्माण एवं टकराव के विरुद्ध है।

भारत की गुटनिरपेक्ष नीति की कई विद्वानों ने आलोचना की है। उनका मानना है कि भारत ने सक्रिय रूप से तटस्थता की नीति का पालन नहीं किया। आरंभिक वर्षों (1947-50) में भारत का झुकाव पश्चिमी गुट की तरफ था। पश्चिमी शिक्षा प्रणाली का प्रभाव, ब्रिटिश बाजार की अर्थव्यवस्था को कायम रखने का निर्णय, देश की सेनाओं पर ब्रिटिश निरीक्षण तथा तकनीकी एवं आर्थिक सहायता

की जरूरतों इत्यादि ने भारत की पश्चिमी देशों पर निर्भरता को बढ़ा दिया था। लेकिन 1953 के बाद भारत का झुकाव सोवियत संघ की ओर बढ़ने लगा। 1954 की पाकिस्तान-अमरीका संधि के अंतर्गत अमरीका द्वारा पाकिस्तान को बड़े पैमाने पर हथियार उपलब्ध कराने तथा गोआ के प्रश्न पर पुर्तगाल के समर्थन के कारण भारत-अमरीका संबंधों में कटुता पैदा हो गई। सोवियत संघ द्वारा अब भारत की हर नीतिगत एवं विवादपूर्ण मामले में समर्थन किया जाने लगा। भारत के प्रधानमंत्री ने रूस की सद्भावना यात्रा भी की।

पर यहाँ ध्यातव्य है कि गुट निरपेक्षता सैन्य गुटों के निर्माण एवं तनाव के विरुद्ध था न कि राजनीतिक आर्थिक संबंधों के खिलाफ। यही कारण है कि सैन्य मुद्दों पर तटस्थ रहते हुए भी भारत ने सोवियत संघ एवं अमरीका के साथ आर्थिक एवं राजनीतिक संबंध कायम रखे।

कुछ आलोचकों का यह भी मानना है कि भारत की गुटनिरपेक्ष नीति राष्ट्रीय हितों की रक्षा नहीं कर सकी। अंतरराष्ट्रीय संघर्ष का विरोध करने वाले भारत को पाकिस्तान और चीन के साथ युद्ध करना पड़ा। लेकिन इसे गुटनिरपेक्ष नीति की विफलता के रूप में नहीं देखा जा सकता। चीन के साथ भारत का युद्ध चीन की अविश्वसनीयता का परिणाम था। जहां तक पाकिस्तान के साथ भारत के युद्ध का प्रश्न है, यह पाकिस्तान की ईर्ष्या एवं उसकी महत्त्वाकांक्षा का परिणाम था। चीन के साथ युद्ध में व्यापक अंतरराष्ट्रीय समर्थन एवं पाकिस्तान के साथ युद्ध में भारत की विजय यह सिद्ध करता है कि राष्ट्रीय हितों की रक्षा एवं अंतरराष्ट्रीय सहयोग के विषय पर गुट निरपेक्षता की नीति सफल रही थी।

भारत की गुटनिरपेक्ष नीति की सफलता इस बात में है कि इस नीति के अनुपालन के द्वारा ही भारत को तृतीय विश्व के नेतृत्व कर्त्ता का प्रभावपूर्ण दर्जा हासिल हुआ, जो आर्थिक एवं सैन्य रूप से कमजोर एक नव स्वतंत्र राष्ट्र के लिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण बात थी।

देशी रियासतों का एकीकरण

अंग्रेजों के अधीन भारत स्पष्टतया दो भागों में विभक्त था-ब्रिटिश भारत तथा भारतीय देशी राज्य। स्वतंत्रता प्राप्ति के पूर्व इन देशी राज्यों की संख्या लगभग 562 थी और इन पर ब्रिटिश अधिसत्ता स्थापित थी। ये रियासतें भारत में ब्रिटिश सत्ता का आधारभूत स्तम्भ थीं। ये रियासतें भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के मार्ग में बाधक थी। अंग्रेजों ने इन रियासतों को अवरोधक के रूप में प्रयोग किया।

3 जून, 1947 ई. में माउन्टबेटन घोषणा के बाद देशी राज्यों की समस्या और जटिल हो गई। इस घोषणा द्वारा देश के विभाजन की योजना बनायी गई और यह स्पष्ट हो गया कि देशी राज्य स्वतंत्र हो जाएंगे। यह बात उनकी इच्छा पर रहेगी कि वे भारत में सम्मिलित हों अथवा पाकिस्तान में अथवा स्वतंत्र रहें। इससे देश के लिए भारी समस्या उत्पन्न हुई क्योंकि बिना इन रियासतों के संघ में मिले भारत का राजनीतिक एकीकरण सम्भव नहीं था। कुछ राज्यों ने स्थिति को और भी गंभीर बना दिया। उदाहरण के लिए भारत-विभाजन की योजना घोषित होने के एक सप्ताह बाद हैदराबाद के निजाम ने यह फरमान जारी किया कि भारत में अंग्रेजी सत्ता हट जाने के बाद यह स्वतंत्र राज्य बना रहेगा।

27 जून, 1947 को देशी राज्यों की समस्या के समाधान हेतु भारत सरकार के अन्तर्गत एक राज्य विभाग खोला गया जिसके प्रधान सरदार वल्लभ भाई पटेल बनाये गए। 5 जुलाई, 1947 ई. को उन्होंने देशी नरेशों से एक अपील की। उन्होंने देशी नरेशों से आह्वान किया कि वे वैदेशिक नीति, यातायात एवं सुरक्षा से सम्बद्ध विषय भारत सरकार को सौंप दें। शेष विषय में वे स्वतंत्र रहेंगे। हैदराबाद, जूनागढ़ एवं कश्मीर को छोड़कर अन्य सभी देशी राज्य 'प्रवेशपत्र' पर हस्ताक्षर करके भारतीय संघ में सम्मिलित होने को तैयार हो गए। देशी राज्यों का विलय निम्नलिखित चार प्रकार से किया गया:

1. **छोटे छोटे राज्यों का विलय :** छोटे-छोटे राज्यों के शासन को स्वावलम्बी इकाई नहीं माना गया। उन्हें उनके निकटवर्ती प्रान्तों में सम्मिलित कर दिया गया। उदाहरणार्थ बड़ौदा को बम्बई में मिला दिया गया।
2. **केन्द्र शासित प्रदेश :** कुछ देशी राज्यों को अथवा उनके संघों को चीफ कमिश्नर के प्रांतों की भांति केन्द्रीय सरकार के अधीन रखा गया। त्रिपुरा, मणिपुर, हिमाचल प्रदेश आदि राज्यों का विलय इसी प्रकार हुआ।
3. **स्वावलंबी संघ :** जो देशी राज्य एक- दूसरे के समीप थे और जिन्हें मिलाकर प्रशासन का स्वावलम्बी संघ बनाया जा सकता था उन्हें वैसे ही बना दिया गया। सौराष्ट्र संघ, मध्य भारत संघ, कोचीन, त्रावणकोर संघ, पटियाला और पूर्वी पंजाब की रियासतों का

संघ आदि ऐसे ही थे। प्रत्येक ऐसे संघ के लिए एक राजप्रमुख और एक उपराज प्रमुख होते थे जिनकी स्थिति राज्यों के गवर्नर जैसी थी।

4. **यथास्थिति वाले राज्य :** बड़े-बड़े देशी राज्यों को ज्यों का त्यों छोड़ दिया गया और वहाँ के शासक नरेश राजप्रमुख के रूप में स्वीकार कर लिये गए। इस तरह के तीन राज्य थे- मैसूर, हैदराबाद एवं कश्मीर। मैसूर तो शीघ्र ही भारतीय संघ में शामिल हो गया, लेकिन जूनागढ़, कश्मीर और हैदराबाद की समस्या कुछ दिनों तक बनी रही।

हैदराबाद

हैदराबाद का निजाम भी स्वयं को पूरी तरह स्वतंत्र समझता था। निजाम की सबसे बड़ी महत्त्वाकांक्षा अधिक से अधिक धन इकट्ठा करने की थी। उन्होंने सारी सत्ता अपने हाथों में केन्द्रित कर रखी थी। प्रजातंत्र उनके लिए एक दूषित प्रणाली थी और वे राजत्व के दैवी सिद्धांत के समर्थक थे। 29 नवम्बर, 1947 ई. में निजाम ने भारत के साथ स्टेंडस्टिल एग्रीमेंट पर हस्ताक्षर किए। इसके द्वारा 15 अगस्त, 1947 ई. के पहले की स्थिति को बनाये रखने का फैसला हुआ, परन्तु निजाम भारतीय संघ में विलय के प्रस्ताव को अन्त तक मानने से इन्कार करते रहे। अन्त में 26 जनवरी, 1950 ई. में हैदराबाद का विलय भारतीय संघ में हुआ।

कश्मीर

कश्मीर की समस्या भी जटिल थी। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद कुछ कबाइलियों ने कश्मीर पर हमला कर दिया था। कश्मीर का शासक उसे रोकने में असमर्थ था। बाहरी आक्रमण से राज्य की रक्षा करने के लिए वहाँ के महाराजा ने 26 अक्टूबर, 1947 ई. को भारतीय संघ में सम्मिलित होना स्वीकार किया। भारतीय सेनाओं ने कश्मीर की सुरक्षा की पर्याप्त व्यवस्था की और आक्रमणकारियों को पीछे भगाया। परंतु तब तक इन कबाइलियों का कश्मीर की एक- तिहाई भूमि पर कब्जा हो चुका था। वास्तव में पाकिस्तानी सेना ने ही इन कबाइलियों का वेश धारण कर कश्मीर पर आक्रमण किया था। संयुक्त राष्ट्र के हस्तक्षेप पर नियंत्रण रेखा की स्थापना के साथ युद्ध बंद हुआ। कश्मीर के भारत में विलय के बाद भी यह समस्या आज तक पूर्णरूपेण हल नहीं हो पाई है।

जूनागढ़

जूनागढ़ का मुस्लिम नवाब रियासत को पाकिस्तान में सम्मिलित करना चाहता था, किंतु हिंदू जनसंख्या भारत में सम्मिलित होने के पक्ष में थी। अंतत: नवाब के दमनकारी रवैये के कारण यहाँ जनमत संग्रह कराया गया, जिसमें जनता ने भारी बहुमत से भारत में सम्मिलित होने के पक्ष में निर्णय दिया। जूनागढ़ रियासत का विलय भारतीय संघ में कर लिया गया।

DISCOVERY

21 व्यक्तित्व एवं विचार

महात्मा गांधी

क्या है गांधीवाद? क्या यह एक दर्शन है? इन प्रश्नों का उत्तर सहज नहीं है, गांधी स्वयं अपने विचारों को "गांधीवाद" की संज्ञा नहीं देना चाहते थे। उन्होंने कभी भी मौलिकता का दावा नहीं किया। "दर्शन" शब्द से भी उनके विचारों का समुचित निरूपण हो सकना सम्भव नहीं है। किसी शास्त्रीय अर्थ में उनके विचारों को दर्शन नहीं कहा जा सकता। वे अत्यन्त स्वतंत्र प्रवृत्ति के व्यक्ति थे। उन्होंने कभी भी अपने विचारों को तर्क-संगत ढंग से संकलित नहीं किया। उनके विचारों को आसानी से सम्पादित करना भी सहज कार्य नहीं है। उनकी कुछ मौलिक धारणाएं अवश्य थीं और वे जीवन-पर्यन्त उनका अनुगमन करते रहे, किन्तु वे अपने विचारों को विभिन्न संदर्भों के अनुरूप संशोधित भी करते चले गए। उनके कई विचारों में पारस्परिक विरोधाभास भी है। वे उत्तेजित होकर कभी कोई बात नहीं कहते थे। किन्तु जिस व्यक्ति का कर्मक्षेत्र इतना विशाल और विशद् हो उसके विचारों में "निरन्तर विकास" के सिद्धान्त के अनुरूप परिवर्तनशीलता का होना आवश्यक था। इन्हीं कारणों से जब भी हम उनके "वाद" या "दर्शन" की बात करते हैं, कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है।

एक महत्त्वपूर्ण तथ्य और भी है। गांधी के विचारों को उनके जीवन से अलग करके नहीं देखा जा सकता। उनके जितने भी विचार लिखित रूप में उपलब्ध हैं उनके अध्ययन मात्र से गांधी के विचारों का पूर्ण ज्ञान हो पाना सम्भव नहीं है। उनकी समस्त आस्थाओं का स्त्रोत उनका व्यक्तिगत रूप से जिया हुआ सत्य है। उनकी सारी दार्शनिक अनुभूतियाँ उनके कर्मयोग की देन हैं। उन्होंने जो कुछ भी कहा, उसको स्वयं करके दिखाया। कदाचित् वे दुनिया के पहले व्यक्ति थे जिसकी कथनी और करनी में कभी कोई अन्तर नहीं रहा। इसलिए जब भी हम उनके विचारों का अध्ययन करते हैं, हमें उनके द्वारा संचालित राजनीतिक अथवा सामाजिक गतिविधियों को भी ध्यान में रखना पड़ता है; तभी "गांधी-दर्शन" या "गांधीवाद" की समग्रता का आभास होता है।

महात्मा गांधी और धर्म

जब भी गांधी के विषय में कोई चर्चा होती है, मुख्य रूप से उनके दो विशिष्ट पहलू सामने आते हैं। ये दो पहलू हैं उनकी धार्मिक आस्था और उनकी राजनीतिक गतिविधियां। वे या तो एक धार्मिक सन्त के रूप में समझे जाते हैं या एक सक्रिय राजनीतिज्ञ के रूप में। इसमें सन्देह नहीं कि उन्होंने दोनों ही भूमिकाएं सफलतापूर्वक निभायीं। उनकी कौन सी भूमिका अधिक महत्त्व रखती है? यह प्रश्न बड़ा जटिल है। वे लगभग 50 वर्षों तक राजनीति के क्षेत्र में डटे रहे और बहुत लम्बे समय तक भारतीय राजनीति के केन्द्रबिन्दु बने रहे। उनके इसी पक्ष की चर्चा अधिक हुई है और इसी पक्ष के आधार पर प्राय: उनका मूल्यांकन भी हुआ है। बहुत बड़ी संख्या में लोग उनके समर्थक रहे हैं और उनका विरोध करने वालों की भी कमी नहीं रही है। यदि हम इस विषय पर गहराई से अध्ययन करें तो एक बात स्पष्ट हो जाती है : उनकी राजनीतिक अवधारणाओं का मूल्यांकन प्राय: गलत संदर्भ में हुआ है। राजनीति के कुछ परंपरागत सिद्धान्तों के आधार पर यह मान लिया गया है कि गांधीवादी राजनीति चाहे जितनी महान् हो, अव्यावहारिक ही है। इसलिए उनके राजनीतिक विचारों का जीवन में कोई विशेष महत्त्व नहीं है। इसी तरह के विचार तब भी प्रकट किए जाते हैं जब उनकी धार्मिक आस्थाओं की बात आती है। प्राय: यह कहा जाता है कि वे महज एक परंपरावादी थे जिनके पास न तो शंकर

अथवा काण्ट की दार्शनिक अंतर्दृष्टि थी न ही कोई मौलिक अवधारणा। यह भी कहा जाता है कि गांधी धर्म और राजनीति को दो अलग-अलग पहलुओं के रूप में नहीं समझ सके और दोनों पहलुओं को एक ही नजर से देखने के फलस्वरूप वे न तो पूर्णरूप से धार्मिक संत ही रह पाये न पूर्णरूप से राजनीतिज्ञ। ऐसी धारणा वाले लोग अक्सर यह भूल जाते हैं कि गांधी मूलत: एक धार्मिक संत थे, किन्तु उनकी धार्मिकता जिस संदर्भ में प्रस्फुटित हुई थी उस संदर्भ की कल्पना राजनीति के बिना की ही नहीं जा सकती। उनकी मूलभूत आस्थाएं धार्मिक थीं किन्तु राजनीति में उनका प्रवेश एक अनिवार्य आवश्यकता थी। अगर वे केवल धार्मिक सन्त या केवल राजनीतिज्ञ हो जाते तो उनका दर्शन एकांगी होकर रह जाता। वे धर्म से बाहर राजनीति की बात नहीं कर सकते थे और राजनीति के बिना उनका धर्म केवल कपोल-कल्पना मात्र रह जाता। दोनों भूमिकाओं को समानान्तर रूप से निभाना उनके लिए आवश्यक था, यही उन्होंने किया भी। जैसा कि स्पष्ट ही है, उनकी समस्त राजनीतिक विचारधारा का आधार ही उनकी धार्मिक आस्था है। ये कौन सी आस्थाएं थीं, इनका क्या स्त्रोत था, और कैसे इनका प्रस्फुटन हुआ–इन प्रश्नों का उत्तर देना आवश्यक है।

इससे पहले कि ये आस्थाएं क्या थीं और इनका प्रस्फुटन कैसे हुआ, इन प्रश्नों के उत्तर खोजे जाएं, यह आवश्यक है कि इन आस्थाओं के मूल स्त्रोतों की चर्चा कर ली जाए। गांधी एक परंपरावादी वैष्णव परिवार में पैदा हुए थे और इस परंपरा का प्रभाव उनके ऊपर जीवनपर्यन्त रहा। उनके जीवन में कुछ ऐसी बातें भी देखने को मिलती हैं जिनका सम्भवत: कोई तार्किक आधार न हो, किन्तु उनके मूल धार्मिक सिद्धान्त दार्शनिक भूमि पर अवस्थित हैं और उनका शुद्ध दार्शनिक आधार भी है। इन मौलिक आस्थाओं को जान लेना आवश्यक है। गांधी-दर्शन का मूल स्त्रोत वैदिक दर्शन है जिसके दो महान् प्रणेता थे–शंकर और रामानुज। दोनों अद्वैतवादी हैं किन्तु दोनों में पारस्परिक मतभेद है। जहां शंकर ब्रह्म-ज्ञान की अनुभूति को अनिर्वचनीय मानते हैं वहां रामानुज उसको सहज रूप से प्राप्य और ग्राह्य मानते हैं। गांधी जी में शंकर का प्रभाव यदा-कदा दृष्टिगोचर होता है किन्तु उनकी भावना रामानुज के अधिक निकट प्रतीत होती है। सृष्टिकर्त्ता अगम्य अवश्य है, किन्तु उसका आभास उसकी सृष्टि में मिल सकता है। वह केवल सृजनहार ही नहीं तारनहार भी हैं और हमारी प्रार्थना उसके कानों तक पहुंच सकती है। उसकी इच्छा के बिना एक पत्ता भी नहीं हिल सकता किन्तु पत्ते का हिलना उसी के अस्तित्व का प्रमाण है। ईश्वर है इसलिए हम हैं। वह सबका पिता है इसलिए उसके पुत्रों को उससे मांगने का अधिकार है। अगर हम सच्चे हृदय से मांगते हैं तो वह अवश्य देगा। उसी की कृपा से हमारे जीवन के सारे कार्यकलाप संचालित होते हैं। ''ईशावास्यमिदं सर्वं''–ईश्वर सब जगह और सबमें विद्यमान है–यजुर्वेद का यह वाक्य गांधी के धार्मिक विचारों का मूल आधार है। इस सत्य की अनुभूति का स्त्रोत तर्क नहीं, आस्था है। यही सत्य अंतिम सत्य है, यही सत्य सार्वभौमिक है और इसके बाहर निकलकर हम यथार्थ की पहचान नहीं कर सकते। इसी मौलिक वैदिक भावना से गांधी के सत्य-सम्बन्धी विचार प्रस्फुटित हुए हैं।

जब गांधी से पूछा गया कि आखिर ईश्वर है क्या, तो उन्होंने एक सहज तथा बोधगम्य उत्तर दिया : ''सत्य ही ईश्वर है''। ईश्वर सत्य के अतिरिक्त और कुछ हो ही नहीं सकता क्योंकि जो ईश्वर है वही सर्वशक्तिमान तथा सर्वत्र विद्यमान है और जो शक्ति ऐसी होगी वह सत्य पर ही अवस्थित हो सकती है। सत्य ही एक ऐसा तत्त्व है जो बदलता नहीं, हमेशा एक ही रहता है, अपरिवर्तनशील है, यही गुण ईश्वर का भी है। इसलिए सत्य ही ईश्वर है, सत्य सर्वशक्तिमान है क्योंकि केवल सत्य ही ''विद्यमान'' है। गांधी का यह सिद्धान्त गीता के द्वितीय अध्याय के सोलहवें श्लोक–''नासतो विद्यते भावो नाभाओ विद्यते सत:''–पर आधारित है। असत्य तो विद्यमान ही नहीं है। अविद्यमान की विद्यमान पर विजय कैसे हो सकती है ? इसी बलवती भावना के प्रभाव में गांधी हमेशा निर्भीक और निडर बने रहे। इसी भावना से उनके ''सत्याग्रह'' के सिद्धान्त का जन्म हुआ है।

सत्याग्रह क्या है ? अहिंसा के माध्यम से असत्य पर आधारित बुराई का विरोध करना ही सत्याग्रह है। गांधी का मानना था कि हर व्यक्ति के अन्दर सत्य का अंश विद्यमान है और उसको इस सत्य की अनुभूति करायी जा सकती है। जब भी कोई व्यक्ति (अथवा सरकार) बुरा कार्य करता है तो उसके पीछे उसका भ्रम होता है। अपने अन्दर मौजूद सत्य के होते हुए भी वह असत्य के प्रभाव में आ जाता है और बुरा कार्य करने लगता है। अगर हम उसे इस तथ्य का अहसास करा सकें तो उसे सत्य की अनुभूति होने लगेगी और वह असत्य के मार्ग से हट जाएगा, सत्य का आग्रह तभी किया जा सकता है जब उसके लिए सम्भावनायें विद्यमान हों। गांधीजी का अटल विश्वास था कि ये सम्भावनायें हमेशा विद्यमान रहती हैं क्योंकि हर व्यक्ति के अन्दर आत्मा होती है जो एक ईश्वरीय अंश है। इसी अंश को उजागर करने की आवश्यकता है। असत्य को असत्य से, बुराई को बुराई से नहीं जीता जा सकता असत्य को सत्य से और बुराई को भलाई से ही जीता जा सकता है। इस अवधारणा के पीछे गांधी पर बाइबिल का प्रभाव भी स्पष्ट दीख पड़ता है।

इसके अतिरिक्त रूसो और टॉल्सटॉय ने भी उनकी इस मान्यता को बल दिया। गांधीजी आजीवन इस सत्य को आजमाते रहे और स्वयं उन्होंने ही कहा है कि उनकी धारणा कभी भी गलत सिद्ध नहीं हुई, उनके "सत्य के प्रयोग" ही उनकी आत्मकथा है।

असत्य के विरोध में सत्य का आग्रह कैसे सम्भव होगा ? गांधी के अनुसार हृदय-परिवर्तन से ही ऐसा सम्भव हो सकता है। सत्याग्रही को चाहिए कि वह विरोधी का हृदय-परिवर्तन करे। अगर बुराई करनेवाला व्यक्ति आपके डर या भय के कारण बुरा काम छोड़ दे तो इसे सफलता नहीं माना जा सकता। सत्याग्रही को तो विरोधी को अंदर से यह महसूस करवाना है कि उसका मार्ग असत्य और बुराई का मार्ग है ज्योंहि उसे इस तथ्य का पता लगेगा वह स्वतः ही बुराई छोड़कर भलाई की ओर अग्रसर हो जाएगा। यह सम्भव है क्योंकि यह एक सहज मानवीय क्रिया है। हर व्यक्ति के अन्दर सत्यानुभूति की संभावनायें विद्यमान रहती हैं इन्हीं को उजागर करना सत्याग्रही का कार्य है, बुराई और अन्याय के विरुद्ध आवाज उठाना ही सत्याग्रह है। इसके लिए सत्याग्रही के पास समुचित आत्म-बल होना चाहिए, आत्म-बल के अतिरिक्त निःस्वार्थ भावना का होना भी आवश्यक है। सत्याग्रही को स्वयं को कष्ट में डालकर, यातनाएं सहकर, तथा सुख का परित्याग करके बुराई का प्रतिरोध करना होगा तभी वह अपने विरोधी को यह महसूस करा सकेगा कि उसके अंदर विरोध करने की शक्ति मौजूद है और वह बुराई के आगे झुकने वाला नहीं है। अंग्रेजों के विरुद्ध गांधी ने इसी शक्ति के प्रयोग की बात कही थी और वे जीवनपर्यन्त इसी अस्त्र के सहारे ब्रिटिश-राज के खिलाफ जूझते रहे।

गांधी जी ने सत्याग्रह का मात्र सिद्धान्त ही नहीं दिया, वरन् उसकी सफलता के साधनों की भी चर्चा की। सत्याग्रही को अहिंसक बने रहना चाहिए। पूर्णतया निष्क्रिय विरोध से काम नहीं चल सकता। जो अहिंसक हैं केवल वही सही अर्थ में सत्याग्रही भी हो सकता है।

अहिंसा क्या है? किसी व्यक्ति या प्राणी की हत्या न करना मात्र ही अहिंसा नहीं है। अहिंसा तो एक व्यापक नैतिक दृष्टि है, एक ऐसा नज़रिया जो प्राणी-मात्र के एकत्व को मानकर चलता है। अहिंसा आत्मा की आवाज है, मस्तिष्क से उत्पन्न होनेवाला विचार नहीं। कई परिस्थितियां ऐसी हो सकती हैं, जिनमें मनुष्य व्यक्तिगत आत्म-रक्षा के लिए मरने-मारने पर उतारू हो जाए। ऐसा व्यवहार अहिंसक व्यवहार नहीं कहा जाएगा। लेकिन अगर दूसरे की रक्षा के लिए अपना बलिदान करना पड़े तो इसमें सच्चा सत्याग्रही चूकेगा नहीं। ऐसा वही व्यक्ति कर सकता है जिसमें नैतिक बल हो। यही नैतिक-बल उसके अहिंसक होने का प्रमाण है।

गांधी की अहिंसा की यह व्याख्या भारतीय दर्शन के मूल सिद्धान्तों पर आधारित है। हमारे उपनिषदों, पुराणों, योग-ग्रन्थों में इसका वर्णन किया गया है। जैन और बौद्ध धर्म की तो बुनियाद ही अहिंसा के सिद्धान्त पर टिकी है। गांधी जी ने इसी अवधारणा को अधिक व्यापक रूप दिया। "हिंसा न करना" के सीमित दायरे से आगे बढ़ाकर, उन्होंने इस सिद्धान्त को सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन का आधार बनाया। टॉल्सटॉय, प्रिंस क्रोपाटकिन, रस्किन, रूसो आदि पाश्चात्य विचारकों के सिद्धान्तों के सम्पर्क में आकर गांधी ने एक साधारण नैतिक सिद्धान्त को एक महत्त्वपूर्ण दार्शनिक रूप प्रदान किया। सिद्धान्त पुराना है, उसके व्यक्तिगत, राजनीतिक और सामाजिक पहलू गांधी दर्शन में एक नवीनता लिये हुए है। यह गांधी की महान् उपलब्धि थी कि उन्होंने आधुनिक मौलिकतावादी युग में ऐसे सार्वभौमिक नैतिक सिद्धान्त की स्थापना की।

अपने सम्पूर्ण साहित्य में गांधी ने इस व्यापक नैतिक सिद्धान्त की विशद् व्याख्या की है। उनके अनुसार अहिंसा नकारात्मक भी हो सकती है और सकारात्मक भी। अगर हम विरोधी से भयभीत होकर अहिंसक बने रहें तो यह सिर्फ नकारात्मक अहिंसा है जिसको अहिंसा न कह कर, कायरता कहा जाना चाहिए। सकारात्मक अहिंसा का जन्म तो आत्मिक मन से होता है, भय से नहीं। हम तभी सच्चे अर्थ में अहिंसक हैं, यदि हिंसा कर सकने की स्थिति में भी हम ऐसा न करें, क्योंकि हिंसा से जो कार्य हम करना चाहते हैं, वह नहीं कर पायेंगे। हमको पाप से लड़ना है, पापी से नहीं। पापी–चाहे वह कितना ही बड़ा पापी क्यों न हो–मनुष्य ही है। उसके अंदर भी ईश्वर का वह अंश मौजूद है जिसे हम सत्य कहते हैं। हमको तो पापी के अंदर विद्यमान इस तत्त्व को उजागर करना है, उसका हृदय-परिवर्तन करना है, तभी हम सच्चे अर्थ में अहिंसक कहलाएंगे, यही कारण है कि गांधी के जीवन-काल में ही कई लोग उनसे सहमत नहीं थे। उनका कहना था कि अंग्रेज़ हमारे दुश्मन हैं और हमें उनको बल-प्रयोग से भारत से भगाना होगा। परन्तु गांधी इस विचार से सहमत नहीं थे। वे चाहते थे कि अंग्रेज स्वयं ही इस बात को महसूस करें कि वे भारत का शोषण करके एक कुत्सित कार्य कर रहे हैं। भारत की स्वतंत्रता, गांधी के अहिंसावाद का परिणाम थी या उनसे असहमत होने वाले "गरम-दल" वाले लोगों के प्रयत्न का परिणाम? यह प्रश्न हमेशा रहेगा और विभिन्न इतिहासकार इसका उत्तर विभिन्न रूप से देंगे। इतना अवश्य है कि

अगर वे चाहते तो भारत की स्वतंत्रता की मांग को वर्षों तक टाल सकते थे। गांधीजी की नैतिक भूमिका के बगैर 1947 में स्वतंत्रता मिल पाना कदाचित् सम्भव नहीं था।

गांधी के, अहिंसा के सिद्धान्त के बारे में एक बहुत बड़ी गलतफहमी भी है। कुछ लोग सोचते हैं कि आज की दुनिया में, जहां अत्यन्त भयानक हथियारों के सहारे युद्ध होते हैं तथा कूटनीति के बल पर राज्य बनते अथवा ध्वस्त होते हैं, गांधी के अहिंसा का सिद्धान्त केवल एक किताबी विचार बनकर रह जाता है। ये लोग यह भूल जाते हैं कि युद्धों के मूल में हथियार नहीं, हथियार चलाने वाले मनुष्य की प्रवृत्तियां होती हैं, और कूटनीति (जिस अर्थ में इसका प्राय: प्रयोग होता है) बेईमानी का दूसरा नाम है। गांधी की लड़ाई मनुष्य की की उन मूल प्रवृत्तियों के खिलाफ थी जो साधारण व्यक्तियों के ऊपर युद्ध थोपा करती हैं। वे लड़ते रहे उस राजनीतिक बेईमानी के खिलाफ, जिसे कूटनीति या "डिप्लोमैसी" कहा जाता है। गांधी मनुष्य के नैतिक विकास के सिद्धान्त पर विश्वास करते थे। वे जानते थे कि मानव जाति तभी जिन्दा रह सकती है जब वह निरन्तर नैतिक विकास की ओर अग्रसर हो। ऐसा तभी हो सकता है जब सत्याग्रह जैसे अस्त्र से अहिंसा की ढाल के सहारे राजनीति चलायी जाए। इसीलिए उन्होंने कहा था–"अहिंसा सामाजिक वस्तु है, केवल व्यक्तिगत वस्तु नहीं"। इस अस्त्र पर उनका इतना विश्वास था कि वे कहा करते थे–"मैं अनेक बार कह चुका हूँ कि एक भी सच्चा सत्याग्रही हो तो वह पर्याप्त है"। आधुनिक युग में गांधी-दर्शन की प्रासंगिकता को इसी संदर्भ में समझना चाहिए।

अहिंसा का भाव प्राचीन भारतीय आदर्श–"अहिंसा परमो धर्म:" पर आधारित है। इस अर्थ में इसे गांधी का मौलिक अविष्कार नहीं माना जा सकता। गांधी की मौलिकता तो इस बात में है कि उन्होंने इस सिद्धान्त को व्यक्तिगत धरातल से उठाकर सामाजिक तथा राजनीतिक धरातल पर अवस्थित किया। अहिंसा व्यक्ति-मात्र का धर्म नहीं है, इसकी आवश्यकता तो समस्त मानव-जीवन के लिए है।

यह भी स्मरण रखना चाहिए कि गांधी के अहिंसा का सिद्धान्त उनकी सत्य की आस्था पर टिका है। बिना सत्य की अनुभूति के अहिंसा का सिद्धान्त व्यावहारिक नहीं हो सकता। इसी प्रकार बिना अहिंसा के मार्ग का अनुसरण किए सत्य की खोज सम्भव नहीं है, इसीलिए गांधी ने अपने आश्रम में निवास करने वाले लोगों के लिए सत्य और अहिंसा का मार्ग अनिवार्य कर दिया था, जो व्यक्ति इस मार्ग से हट जाए, उसको आश्रम में रहने की आज्ञा नहीं थी।

गांधी ने अहिंसा को व्यक्ति के हृदय से जोड़कर देखा। किसी को आघात न पहुंचे यह तो आवश्यक है ही, साथ ही यह भी आवश्यक है कि इस सिद्धान्त का परिपालन करने वाले की आत्मा पर भी कोई आघात न लगे। सच्ची अहिंसा-मनसा, वाचा, कर्मणा पालन पर आधारित है। हमको केवल कर्म से ही नहीं मन और वचन से भी अहिंसक होना चाहिए। तभी हम प्राणिमात्र में व्याप्त एकत्व के सिद्धान्त को समझ सकते हैं। अगर हम किसी भी स्थिति में दूसरे के दु:ख का कारण बन जाते हैं तो हम अहिंसक नहीं हैं। आत्म-त्याग का यह भाव गांधी के अहिंसा के सिद्धान्त का एक महत्त्वपूर्ण पहलू है। सच्चा अहिंसावादी वही है जो दूसरे के भले के लिए अपने स्वार्थों का बलिदान करने को सदा तत्पर रहे, जब तक व्यक्तिगत अहंकार पूर्ण रूप से समाप्त न हो जाए पूर्ण रूप से अहिंसा सम्भव नहीं। क्या मनुष्य के लिए इस आदर्श की सम्पूर्ण उपलब्धि सम्भव है? गांधी ने स्वयं कहा है कि मनुष्य की ऐसी नियति ही नहीं है कि वह इस आदर्श को पूर्ण रूप से प्राप्त कर सके। किसी हद तक जंगली जानवरों को मारकर अपनी रक्षा करना आवश्यक है उसी प्रकार यदि हमारे ऊपर युद्ध थोपा गया, तो हमें सक्रिय रूप से उसका सामना करना ही पड़ेगा। इस प्रकार अहिंसा के आदर्श का पूरी तरह पालन मानव-जीवन में सम्भव नहीं है। इतना अवश्य है कि हम जहां तक हो सके इसे अपने व्यक्तिगत जीवन में उतारें, और हम सब मिलकर इसको एक सामाजिक आवश्यकता समझकर ग्रहण करें। जीवन में थोड़ी बहुत हिंसा अपरिहार्य हो सकती है, किन्तु मानव स्वभावत: शांति-प्रेमी होता है और कलह के विरुद्ध शांति का चयन उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति है। गांधी मेकियावेली तथा हॉब्स जैसे विचारकों की इस धारणा से सहमत नहीं थे कि मनुष्य स्वभावत: स्वार्थी है। उनका बाइबिल की इस उक्ति पर कि मनुष्य की रचना ईश्वर ने अपने अनुरूप ही की है, अटल विश्वास था क्योंकि मनुष्य के अंदर एक ईश्वरीय तत्त्व–आत्मा–विद्यमान है। इसलिए मनुष्य स्वभावत: बुराई को त्यागकर, भलाई के मार्ग पर चलना चाहता है। जब वह ऐसा नहीं कर पाता उसके लिए उसका अज्ञान अथवा उसका सामाजिक वातावरण जिम्मेदार होता है। अगर उसकी आत्मा को आच्छादित करनेवाले अज्ञानरूपी अंधकार को हटा दिया जाए और उसकी विषम परिस्थितियों का निराकरण कर दिया जाए तो वह भलाई के मार्ग पर ही अग्रसर होगा। गांधी जी के दक्षिण अफ्रीका के अनुभव और बाद में भारत में अंग्रेज़ों के खिलाफ चलाये गए संघर्ष के अनुभव इस बात को पूर्णतया सिद्ध करते हैं कि अहिंसा का अमोघ अस्त्र, हिंसा पर सर्वदा विजय प्राप्त करता है। दक्षिणी अफ्रीका में जनरल स्मट्स जैसे लोग समझ ही न पाये कि गांधी जैसे सत्याग्रहियों से

कैसे निपटा जाए क्योंकि वे ईंट का जवाब पत्थर से नहीं, प्रेम से देते थे। इसी प्रकार अंग्रेज़ भी यह नहीं समझ पाये कि गांधी के पास वह कौन सा जादू था जो हर दमनकारी प्रवृत्ति का इतनी सफलता से मुकाबला कर लेता था। गांधी का यह जादू अहिंसा का जादू था।

गांधी और राजनीति

महात्मा गांधी के राजनीतिक जीवन का प्रारम्भ 1893 से माना जाना चाहिए, जब वे एक भारतीय के केस की पैरवी करने के लिए दक्षिण अफ्रीका पहुंचे। वहां उन्होंने रंगभेद का जो अन्याय देखा उसके विरुद्ध उन्होंने आवाज उठायी, कई यातनाएं सहने के बावजूद भी वे संघर्षरत रहे और उन्होंने एक महान् सफलता तब हासिल की जब उन्होंने एक बिल को, जिसके द्वारा दक्षिण अफ्रीका के काले लोगों को निर्वाचित प्रक्रिया से वंचित किया जा रहा था, लार्ड रिपन द्वारा रद्द करवा दिया। वहीं उन्होंने "नटाल इण्डियन कांग्रेस" की स्थापना की। इसी संस्था के माध्यम से उन्होंने कई अन्यायपूर्ण कानूनों की खिलाफत की। वे 1914 तक दक्षिण अफ्रीका में रहे और 1915 में भारत वापस आ गए।

1917 में वे बिहार गए और चम्पारन सत्याग्रह की शुरूआत की। चम्पारन जिले के लोगों को नील की खेती करने के लिए मज़बूर किया जाता था और उनको अपनी पैदावार सस्ते दामों पर बेचनी पड़ती थी। गांधी ने, मजिस्ट्रेट की आज्ञा के विरुद्ध, इस अन्याय की कड़ी आलोचना की। कई प्रयत्नों के बाद गांधी को सफलता मिली और नील उत्पादन-सम्बन्धी कानून रद्द करवा दिया। यह गांधी की भारत में पहली विजय थी।

चम्पारन से वे अहमदाबाद चले गए, जहां के मिल-मजदूरों को उनकी सहायता की आवश्यकता थी। मिल-मजदूर अपने वेतन में वृद्धि चाहते थे। भरसक प्रयत्न के बावजूद भी गांधी यह कार्य नहीं करा सके। सात दिन की हड़ताल हुई। गांधी जी ने अनशन का भी सहारा लिया। अंत में गांधी को लगा कि शायद मजदूर ही उनकी पूरी सहायता नहीं कर रहे हैं और यहां का आन्दोलन इस प्रकार असफल रहा।

अहमदाबाद के बाद गांधी खेड़ा (गुजरात) पहुंचे। वहां अकाल की भयंकर स्थिति थी। गांधी ने सरकार से कर माफ करने की अपील की। सरकार ने जब उनकी बात नहीं सुनी तो उन्होंने किसानों से सत्याग्रह करवा दिया और अंत में किसानों की विजय हुई।

जब प्रथम विश्वयुद्ध की शुरूआत हुई, गांधी ने कई नेताओं की राय के विरुद्ध, अंग्रेज़ी-सरकार की मदद करने की घोषणा की और कहा कि इस वक्त सरकार बुरी स्थिति में है, इसलिए हमें उसकी सहायता करनी चाहिए। सरकार ने इस महान् आदर्श का जवाब रौलट एक्ट के रूप में दिया। यह एक्ट भारत विरोधी था। इसकी खिलाफत गांधी के सत्याग्रह के माध्यम से की। 1914 से 1919 तक यह संघर्ष चलता रहा, दिल्ली आदि स्थानों पर आन्दोलन किए गए, सरकार के हिंसा के माध्यम से इस आंदोलन को दबाने का प्रयास किया और गांधी को कारावास की सजा दे दी गयी।

गांधी की गिरफ्तारी से सारा देश संतप्त हो उठा। दूसरी ओर रौलट एक्ट के खिलाफ आंदोलन जारी ही था। पंजाब में इन दो विषयों पर सबसे अधिक रोष था। लोग, गांधी के रोकने पर भी हिंसा पर उतर आये और कई अंग्रेज़ों को मौत के घाट उतार दिया गया। इसी वक्त 1919 की बैशाखी के दिन जलियांवाला बाग में एक आम सभा हुई। जनरल डायर ने इस सभा को गैर-कानूनी घोषित कर दिया और कई सिपाहियों को लेकर जिसमें हिन्दुस्तानी भी थे, उसने गोली चलाने का हुक्म दे दिया, लोगों को भागने तक का मौका नहीं दिया गया। हजारों लोग इस काण्ड में मार डाले गए।

इस काण्ड से देश में व्यापक रोष फैल गया। 1920 में गांधीजी के नेतृत्व में असहयोग आंदोलन की शुरूआत हो गयी। स्वदेशी आन्दोलन भी जोर पकड़ता गया। लोगों ने कानून तोड़ना शुरू कर दिया, ऑनरेरी डिग्रियां लौटा दी गई। काफी हद तक यह आन्दोलन शांतिपूर्ण रहा किन्तु अंग्रेज़ों ने अपने दमनकारी नीति को चालू रखा, कई लोगों को पीटा गया, कई लोग जेल भेज दिये गए। 1922 में कुछ लोगों ने अत्यन्त रुष्ट होकर चौरीचौरा में एक पुलिस चौकी पर आग लगा दी। गांधीजी इस काम से असहमत थे। उन्होंने हिंसा की आलोचना की और आंदोलन वापस ले लिया।

इसके बाद कुछ ही समय के बाद गांधी जी ने सविनय अवज्ञा आंदोलन की शुरूआत कर दी। 1929 में साइमन कमीशन भारत भेजा

DISCOVERY

गया किन्तु कांग्रेस ने इसका बहिष्कार किया। इसी वक्त लाला लाजपत राय पर लाठियों का प्रहार हुआ और कुछ ही समय बाद उनका देहांत हो गया, इससे गांधीजी को बड़ा धक्का लगा।

सन् 1929 में पं. नेहरू की अध्यक्षता में ''पूर्ण स्वराज्य'' का प्रस्ताव पारित हो गया, इसी वक्त नमक कानून को तोड़ने का काम शुरू हुआ। गांधी और पटेल ने लम्बी -लम्बी यात्रायें कीं। लोगों ने उनका स्वागत किया और सारे देश में स्वाधीनता की ललक व्याप्त हो गयी। मुस्लिम लीग ने इस आंदोलन में भाग नहीं लिया किन्तु खान अब्दुल गफ्फार खां गांधी के साथ रहे। यह आन्दोलन 193[illegible] तक बड़े जोर-शोर से चला। अन्त में लार्ड इरविन के अनुरोध पर गांधी जी ने गोलमेज सम्मेलन में भाग लेना स्वीकार कर लिया और सविनय अवज्ञा आन्दोलन समाप्त कर देने की घोषणा की।

गोलमेज सम्मेलन से भी कुछ न हासिल हो सका। साम्प्रदायिकता का वातावरण तथा आम्बेडकर का हरिजनों को स्वतन्त्र मानने की जिद, इस असफलता के मुख्य कारण थे। 1932 में एक बार फिर सविनय अवज्ञा आन्दोलन शुरू हुआ किन्तु अधिक सफलता न मिलने के कारण 1934 में गांधी ने पूरी तौर पर इस आंदोलन को समाप्त कर दिया। इस असफलता के पीछे हरिजन समस्या की मुख्य भूमिका रही। साम्प्रदायिक पंचाट के विरुद्ध, जिसमें हरिजनों को पृथक् निर्वाचन का अधिकार दिया गया था, गांधी जी ने आंदोलन किया। कुछ शांति स्थापित हो सकी जब पूना समझौता हुआ।

कुछ ही वर्षों बाद द्वितीय महायुद्ध की शुरूआत हो गयी। गांधी व्यक्तिगत रूप से इस बार भी यही चाहते थे कि अंग्रेजों की सहायता की जाए। किन्तु कांग्रेस को यह मंजूर नहीं था। युद्ध के दौरान कई प्रकार से भारत को तिरस्कृत किया गया। 1940 में गांधी ने व्यक्तिगत सत्याग्रह शुरू कर दिया, कई लोगों ने गांधी का साथ दिया। किन्तु बाद में कुछ राजनीतिक कारणों से इस सत्याग्रह को भी बन्द कर दिया गया।

सन् 1942 में भारत की समस्याओं का अध्ययन करने क्रिप्स मिशन आया। क्रिप्स मिशन की सभी बातें भारत को अमान्य थीं इसलिए उसके तुरन्त बाद ''भारत छोड़ो'' आन्दोलन की शुरूआत कर दी गयी। यह आन्दोलन ''करो या मरो'' के सिद्धान्त पर चलाया गया। 1942 में अंग्रेजों के खिलाफ तोड़-फोड़ की कार्यवाहियां हुईं और अंग्रेज समझने लगे कि अब शायद आन्दोलन को दबाना मुश्किल होगा।

यह आन्दोलन स्वरूप बदल कर 1946 तक चलता रहा। अंत में 15 अगस्त, 1947 को भारत को एक स्वतन्त्र देश घोषित कर दिया गया।

गांधी के स्वतन्त्रता आन्दोलन की भूमिका का यह एक अत्यन्त संक्षिप्त इतिहास है। इसकी चर्चा इसलिए कर दी गयी है कि गांधी के राजनीतिक विचारों को समझने में कुछ सहायता मिले।

इस आन्दोलन में गांधी जी ने जिस भूमिका का निर्वाह किया उसकी मुख्य विशेषता थी उनकी अहिंसा की मौलिक-धारणा। वे यह प्रयत्न करते रहे कि इस आंदोलन को पूर्णतया अहिंसा के आधार पर चलाया जाए। उन्हें सहायता भी मिली। दो व्यवधान ऐसे थे जिनकी वजह से वे पूर्णतया सफल नहीं हो सके : एक व्यवधान था हिन्दू-मुस्लिम एकता का न होना और दूसरा व्यवधान था कतिपय लोगों का हिन्दू समाज को विघटित करने का प्रयास। इन दोनों व्यवधानों के भयंकर परिणाम हो सकते थे। गांधीजी ने इस बात को गहराई से महसूस किया। यही कारण है कि वे कई बार अपने ही द्वारा चलाये आन्दोलनों को वापस ले लेते थे, वे भारत के लोगों की एकता खंडित कर कोई काम नहीं करना चाहते थे, दूसरी ओर वे उन सिद्धान्तों को भी नहीं छोड़ना चाहते थे जिन पर उनका विरोध कायम था। वे अहिंसा के मार्ग को त्यागने के लिए तैयार नहीं थे।

ऊपर चर्चित घटनाओं के आधार पर अब हम गांधी के राजनीतिक सिद्धान्तों का सही आकलन कर सकते हैं।

सर्वप्रथम यह समझ लेना चाहिए कि गांधी के अनुसार राजनीति कोई स्वतंत्र व्यापार नहीं है। राजनीति जीवन का एक अंग है और जीवन की मान्यताएं और मूल्य राजनीतिक क्षेत्र में भी लागू होते हैं। मनुष्य का अंतिम लक्ष्य है : धर्माचरण और राजनीति भी इसी के अनुरूप होनी चाहिए। राज्य के समस्त कार्यकलाप चाहे वे सामाजिक हों अथवा आर्थिक, धर्म और नैतिकता के अनुरूप ही होने चाहिए। उन्होंने कई बार कहा कि अगर पाखंड और मारधाड़ से ही स्वतन्त्रता मिलती हो तो ऐसी स्वतन्त्रता मुझे नहीं चाहिए। उन्होंने

कहा "हम अंग्रेज़ों के खिलाफ नहीं, उनकी नीतियों के खिलाफ हैं"। इस प्रकार गांधी के अनुसार राजनीति धर्म की अनुगामिनी है। जिस राजनीति को आजकल "पावर पॉलिटिक्स" कहा जाता है, वह गांधी के विचार में अनैतिक व्यवहार है, उसको बेईमानी के अलावा और कुछ नहीं कहा जा सकता।

गांधी को कई लोगों ने अराजकतावादी चिन्तक कहा है। यह बात किसी हद तक सच है। गांधी ने अवश्य कहा था कि आदर्शवादी राज्य वह राज्य है जहां दण्ड व्यवस्था की आवश्यकता ही न पड़े। उनकी राजनीतिक कल्पना "राम-राज्य" की थी। राम-राज्य में राम अधिनायक या "डिक्टेटर" नहीं थे, वे समस्त राज्य के प्रतीक थे, वे शासन-मात्र नहीं करते थे, स्वयं भी शासित थे। उनके द्वारा राज्य का परित्याग इसी भावना का उदाहरण है। मानव के नैतिक विकास में जब रामराज्य की स्थिति आती है तो दण्ड विधान को संचालित करने वाली राजसत्ता की आवश्यकता स्वत: ही समाप्त हो जाती है। यदि इस विचार को अराजकतावादी विचार कहा जाए तो गांधी को उन अन्य अराजकतावादियों की श्रेणी से अलग करना पड़ेगा जो अराजकतावादी हैं और नैतिक मूल्यों की परवाह नहीं करते। ऐसे व्यक्तियों के चिन्तन में, नैतिकता अथवा अहिंसा का कोई स्थान नहीं है। ऐसे चिन्तक व्यक्ति को पूर्ण आजादी प्रदान करते हैं और व्यवस्थित सामाजिक आचरण की परवाह नहीं करते। गांधी राजनीतिक शक्ति के दुरुपयोग के विरोधी थे। उन्होंने राज्य को हमेशा के लिए समाप्त कर देने की बात नहीं की।

गांधी जी की राजनीतिक धारणाओं का मूल आधार था "सर्वोदय"। यह कहना गलत होगा कि सर्वोदय की समस्त मान्यताएं गांधी ने रस्किन की पुस्तक "अन्टू द लास्ट" से ग्रहण की। वे इस पुस्तक से बहुत प्रभावित हुए किन्तु इस दिशा में उनका चिन्तन पहले से ही जारी था। उनके विचारों को इससे बल अवश्य मिला।

"सर्वोदय" क्या है ? सर्वोदय का अर्थ है सब की समान उन्नति। एक व्यक्ति का भी उतना ही महत्त्व है जितना अन्य व्यक्तियों का सामूहिक रूप से है। सर्वोदय का सिद्धान्त गांधी ने बेन्थम तथा मिल के उपयोगितावाद के विरोध में प्रतिस्थापित किया। इनका "ग्रेटेस्ट गुड आफ दि ग्रेटेस्ट नम्बर" का सिद्धान्त गांधीजी को अत्यन्त अरुचिकर लगा। वे तो "सर्वे भवन्तु सुखिन:" के पक्षपाती थे। जिस राज्य में एक भी व्यक्ति भूखा है वह आदर्श राज्य नहीं है, चाहे उसमें रहने वाले ज्यादातर लोग कितने ही सुखी क्यों न हों। उपयोगितावाद को उन्होंने भौतिकवाद का पर्याय माना। उन्होंने कहा कि किसी भी समाज की प्रगति उसकी धन-सम्पत्ति से नहीं मापी जा सकती, उसकी प्रगति तो उसके नैतिक-चरित्र से आंकी जानी चाहिए। जिस प्रकार इंग्लैंड में रस्किन तथा कार्लाइल ने उपयोगितावादियों का विरोध किया उसकी प्रकार गांधी ने मार्क्स से प्रभावित उन लोगों के विचारों का खण्डन किया जो भारतीय समाज को एक औद्योगिक समाज में बदलना चाहते थे। इसी बिन्दु पर गांधी तथा नेहरू में पारस्परिक मतभेद हो गया था। स्वतन्त्रता के बाद किसकी बात ज्यादा प्रासंगिक लगती है, इसका निर्णय हर व्यक्ति को स्वयं करना चाहिए।

गांधी का सर्वोदय का सिद्धान्त, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के सिद्धान्त पर आधारित है। इसके विपरीत "राज्य" की परिकल्पना दण्ड के सिद्धान्त पर की गयी है। राज्य की सत्ता व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का अपहरण करती है। इस संदर्भ में गांधी को अराजकतावादी चिन्तक कहा जा सकता है। एक साक्षात्कार के समय गांधी ने अपने विचारों को इस प्रकार प्रकट किया : "राज्य की शक्ति में वृद्धि को मैं सबसे अधिक भय की दृष्टि से देखता हूं क्योंकि यद्यपि वह शोषण को कम करके भलाई करते हुए दिखायी पड़ती है, तथापि व्यक्तित्व का विनाश करके जो कि समस्त प्रगतियों का मूल है, मानव-जाति को सबसे अधिक नुकसान पहुंचाती है, राज्य हिंसा का संघटित और संगठित रूप है। व्यक्ति की एक आत्मा होती है परन्तु राज्य एक आत्महीन यन्त्र है, इसे हिंसा से कभी अलग नहीं किया जा सकता जिसके कारण इसका जन्म हुआ है।"

इस अराजकतावादी विचार के माध्यम से फिर भारत की स्वतन्त्रता का क्या अर्थ हो सकता है? गांधी स्वराज्य क्यों चाहते थे? गांधी के मतानुसार "स्वराज्य" किसी राज्य की संस्थापना नहीं है बल्कि एक ऐसे समाज की संरचना है, जो व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के आधार पर स्थापित हो। उनका यह सिद्धान्त पश्चिम के अराजकतावादियों के सिद्धान्त से भिन्न है। पश्चिम के अराजकतावादी राज्य को इसलिए समाप्त करना चाहते हैं क्योंकि इससे आर्थिक विषमता आती है और पूंजीवाद की स्थापना होती है। गांधी का राज्य-विरोध नैतिकता के सिद्धान्त पर आधारित है, वे राज्य को विनाशकारी इसलिए मानते हैं क्योंकि इसके द्वारा व्यक्ति की आत्मा का हनन होता है, उसकी आध्यात्मिक शक्तियां विनष्ट हो जाती हैं और वह स्वच्छन्द वातावरण में अपना व्यक्तिगत विकास नहीं कर सकता। उनके तर्क का एक दूसरा पहलू भी है। वे राज्य को न केवल हिंसा पर आधारित संगठन मानते हैं बल्कि इसकी राजनीतिक आवश्यकता को

भी नकारते हैं। वे एक ऐसे समाज की कल्पना करते हैं जिसमें हर व्यक्ति स्वशासित है और उसको किसी बाह्य शक्ति के अस्तित्व की आवश्यकता ही नहीं है। उनका कहना था कि यदि हम ऐसे आदर्शवादी समाज की स्थापना नहीं कर पाये हैं, तो राज्य इसमें भी हमारी सहायता नहीं कर सकेगा। इस समय अगर किसी ऐसी बाह्य सत्ता की आवश्यकता मान भी ली जाए तो हमें प्रयत्न यही करना है कि अन्ततोगत्वा एक राज्यहीन समाज की स्थापना हो जाए, इसका साधन भी उन्होंने सुझाया है। वे विकेन्द्रीकरण को इस प्रक्रिया का मुख्य साधन मानते हैं। इस व्यवस्था की व्याख्या करते हुए श्री जे. पी. सूद ने लिखा है : ''अब हम पूर्ण अहिंसा पर आधारित एक आदर्श राज्यहीन समाज की रूपरेखा पर दृष्टिपात कर सकते हैं। इसमें ग्रामों में बसे हुए समूह होंगे जिनमें गौरवपूर्ण तथा शांतिमय जीवन का आधार स्वेच्छापूर्ण सहयोग होगा। प्रत्येक ग्राम एक गणराज्य अथवा एक पंचायत होगा जिसके पास अपनी प्राय: समस्त मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति करने, यहां तक कि अपनी रक्षा करने तक की पूर्ण सामर्थ्य होगी। इस अहिंसात्मक समाज में जीवन का ढाँचा पिरामिड जैसा नहीं होगा जैसा कि आधुनिक राज्य होता है। यह एक ऐसा वृत्त होगा जिसका केन्द्र व्यक्ति होगा जो कि ग्राम के लिए अपने आप को बलिदान करने के लिए तैयार रहेगा और ग्राम-ग्राम-वृत्त के लिए मिटने को तैयार रहेगा और इस प्रकार 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के आदर्श की प्राप्ति हो जाएगी, सबसे बाहर की परिधि, आंतरिक वृत्त को कुचलने के लिए अपने शक्ति का प्रयोग नहीं करेगी, बल्कि अपने अंतर्गत सबको शक्ति प्रदान करेगी। इस सामाजिक व्यवस्था की मुख्य विशेषता होगी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता। इसलिए इसको लोकतन्त्र का आदर्श रूप कहा जा सकता है''।

कभी-कभी यह मान लिया जाता है कि चूंकि गांधीजी अराजकतावाद के समर्थक थे, इसलिए उनका विश्वास लोकतन्त्र की व्यवस्था में भी नहीं था। यह सच है कि वे किसी भी राज्य-व्यवस्था–चाहे वह लोकतन्त्र ही क्यों न हो–के विरोधी थे, किन्तु वे यह भी जानते थे कि देश में अभी वह स्थिति नहीं है जिसमें पूर्णरूपेण राज्यहीनता का सिद्धान्त लागू किया जा सके। इसलिए उन्होंने थोरो के इस सिद्धान्त को अपनी सहमति दी कि सबसे अच्छी सरकार वह है जो सबसे कम शासन करती है। ऐसी सरकार केवल लोकतान्त्रिक सरकार ही सकती है। शायद गांधीजी एक ऐसे लोकतन्त्र की कल्पना कर रहे थे जिसमें हिंसा कम-से-कम हो। ऐसी सरकार जनमत से निर्वाचित सरकार ही हो सकती है जो संसदीय लोकतन्त्र के सिद्धान्तों पर चले।

गांधी जी व्यक्तिवादी थे, और व्यक्ति की स्वतन्त्रता को हर दृष्टि से अनिवार्य मानते थे। किन्तु व्यक्ति का आचरण कैसा हो, इस पर भी उन्होंने अपने विचार प्रकट किए हैं। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का यह अर्थ नहीं है कि हर व्यक्ति अपनी स्वार्थपूर्ण भावना की पूर्ति के लिए जैसा चाहे वैसा व्यवहार करे। हर व्यक्ति के लिए स्वशासित होना अनिवार्य है। बिना इसके हम जंगल के जानवरों की स्थिति में आ जाएंगे। उन्होंने हमेशा अनुशासन के महत्त्व पर जोर दिया। अनुशासन की भावना कैसे उत्पन्न की जाए ? इस विषय में भी उनके अपने अलग विचार हैं। वे व्यक्ति के अधिकारों को उनके कर्तव्यों से जोड़ कर देखते हैं। नेहरू जब भी गांधी की बात करते थे उनकी इस आस्था का उद्धरण अवश्य देते थे। गांधी के अनुसार कर्तव्य परायणता धर्म की आधारशिला है। बिना कर्तव्यों के पालन के व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता। जिस प्रकार साध्य और साधन दोनों की पवित्रता अनिवार्य है उसी प्रकार अधिकार और कर्तव्यों का भी सम्बन्ध पवित्रता के ही सिद्धान्त पर आधारित है। किसी भी अधिकार की पवित्रता तभी सिद्ध होती है जब इसका प्रयोग करनेवाला व्यक्ति अपने कर्तव्यों का समुचित पालन करे।

अगर हम गांधी के राजनीतिक विचारों का समुचित अवलोकन करें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि वे भारत के प्राचीन ग्रन्थों में वर्णित ''रामराज्य'' के सिद्धान्त के अनुयायी थे। उनके सिद्धान्तों की तुलना पश्चिम के अराजकतावादियों से करना तर्क-संगत नहीं है। दोनों पक्षों के विचारों में समानता हो सकती है और है भी, किन्तु दोनों में अन्तर भी बहुत है। गांधी की मूल धारणा आध्यात्मिक है जबकि पश्चिम के चिन्तकों की मूल भावना भौतिकवादी है। इसलिए वे अपने आदर्श को किसी तर्क के सूत्र में बांधना नहीं चाहते थे। उन्होंने स्वयं कहा है ''जब समाज स्वेच्छा से अहिंसा के नियम के अनुसार निर्मित किया जाता है, उसकी संरचना आज के समाज से भिन्न तत्वों पर होगी, किन्तु मैं यह अग्रिम रूप से नहीं कह सकता कि पूर्णत: अहिंसा पर आधारित शासन कैसा होगा''। स्पष्ट है कि गांधी के राजनीतिक आदर्श किसी शास्त्रीय पद्धति के आधार पर नहीं बने हैं। उन्होंने कभी यह दावा नहीं किया कि उनकी राजनीतिक मान्यताएं पूर्णतया हर परिस्थिति में व्यावहारिक हैं। उनका कहना तो सिर्फ इतना ही था कि हमारी दृष्टि, चाहे वह राजनीति के क्षेत्र में ही क्यों न हो, सत्य के आधार पर स्थित होनी चाहिए। आध्यात्मिक मूल्यों का मोल-भाव नहीं हो सकता। जो सत्य है वही सही है, सत्य की स्थापना अव्यावहारिक प्रतीत हो सकती है क्योंकि हम यथार्थ के बहुत आदी हो चुके हैं। हर स्थिति में हमको ऐसा लगता है कि

यथार्थ ही शायद सत्य और व्यावहारिक है, सही बात यह नहीं है। गांधी का कहना था कि हम अपनी यथार्थ की गलत अवधारणाओं से सनातन मूल्यों को चुनौती नहीं दे सकते। राजनीति मानव जीवन के बाहर की वस्तु नहीं है। इसका संचालन मानव मूल्यों की परिधि के बाहर नहीं किया जा सकता चाहे हम जिस ''वाद'' या सिद्धान्त की बात करें। हमें स्मरण रखना होगा कि हम शाश्वत सत्यों की अवहेलना नहीं कर सकते। हिंसा अमानवीय है इसलिए राज्य जिसकी सत्ता हिंसा पर टिकी है, अमानवीय है। इसकी सत्ता की अनिवार्यता वहीं तक स्वीकार की जा सकती है जहां तक यह आध्यात्मिक सत्यों के प्रतिकूल न हो।

संक्षेप में यह कहना चाहिए कि गांधी का मुख्य ध्येय था राजनीति का आध्यात्मीकरण। कभी-कभी वे इस प्रकार की बातें कर दिया करते थे कि उनके अनुयायी भी इस संदेह में पड़ जाते थे कि क्या गांधी की बात जो इतनी अव्यावहारिक है, मानने योग्य है? वे किसी भी यथार्थ के दबाव में आध्यात्मिक मूल्यों को ताक में नहीं रख सकते थे। यही कारण है कि समय-समय पर तिलक, सुभाष चन्द्र बोस, अम्बेडकर, यहां तक कि नेहरू से भी उनका मत-वैभिन्य हो जाता था। ऐसे अवसर पर वे अत्यन्त स्थितप्रज्ञ भाव से स्वीकार कर लेते थे कि उनका मत इनसे भिन्न है। यहां तक कहते थे कि वे सच हैं या अन्य लोग – इसका फैसला भविष्य पर छोड़ दिया जाए और तात्कालिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए मतभेद को जनता के सम्मुख रख दिया जाए। किन्तु उन्होंने यह कभी नहीं कहा कि उनकी राजनीतिक सूझबूझ और लोगों से अधिक परिपक्व है। वे तो अपने को एक साधारण व्यक्ति मानते थे। उनका कहना सिर्फ इतना था कि जो कदम आध्यात्मिक मूल्यों के विपरीत दिशा में जाएगा उसका समर्थन वे नहीं कर सकेंगे। अपनी आस्थाओं के खिलाफ उन्होंने कभी समझौता नहीं किया, चाहे वे धार्मिक सिद्धान्त हों, सामाजिक सिद्धान्त हों अथवा राजनीतिक सिद्धान्त हों। उनके समस्त राजनीतिक जीवन की कहानी उनके ''सत्य के प्रयोगों'' पर आधारित है।

गांधी के आर्थिक विचार

गांधी वैज्ञानिक अर्थ में अर्थशास्त्री नहीं थे। उन्होंने समय-समय पर प्रतिपादित आर्थिक सिद्धान्तों का विधिवत् अध्ययन भी नहीं किया था। इसके बावजूद गांधी ने अर्थव्यवस्था के संबंध में जो विचार व्यक्त किए हैं, वे अत्यन्त मूल्यवान हैं। उन्होंने अर्थशास्त्र पर कोई पुस्तक नहीं लिखी किन्तु यदि उनके इधर-उधर बिखरे आर्थिक विचारों का संकलन किया जाए तो एक ऐसी आर्थिक-व्यवस्था की संरचना होती है जो स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भी वर्तमान में प्रासंगिक प्रतीत होती है। नेहरू आदि नेताओं के अथक प्रयत्न से इन वर्षों में भारत का जो आर्थिक मानचित्र उभर कर आया है वह कई दृष्टियों से संतोषजनक तो कहा जा सकता है, किन्तु साथ ही इस आर्थिक-व्यवस्था की कमियां और कमजोरियां भी उभर कर सामने आयी हैं। कहीं ऐसा तो नहीं कि इन कमियों तथा कमजोरियों का कारण गांधी के आर्थिक विचारों की उपेक्षा हो?

गांधी खोखले भौतिकवाद के विरोधी थे। उनके सामाजिक तथा राजनीतिक विचारों की तरह उनके आर्थिक विचार भी सत्य और अहिंसा के सिद्धान्तों पर आधारित थे। वे धन इकट्ठा करने के लिए धनोपार्जन करने के कट्टर विरोधी थे। मनुष्य, धन के लिए नहीं बल्कि धन, मनुष्य के लिए है। धन का उपयोग यदि कुछ व्यक्तियों तक ही सीमित हो जाए तो देश में नैतिकता असम्भव हो जाएगी। इसलिए जो भी धन देश में उपलब्ध है उसका समान वितरण होना चाहिए। किन्तु वे यह भी मानते थे कि एक का धन जबरन छीन कर दूसरे को नहीं दिया जा सका। ऐसी व्यवस्था में तो जंगल राज्य स्थापित हो जाएगा। व्यक्तिगत रूप में धनी और निर्धन में कोई अन्तर नहीं है। जिनके पास सम्पत्ति या धन है उनसे यह अपील की जा सकती है कि वे अपनी सम्पत्ति या धन को स्वेच्छा से उनको भी दें जिनके पास इसका अभाव है। क्या ऐसा करना आधुनिक युग में सम्भव है ? कार्य कठिन अवश्य प्रतीत होता है, पर कुछ ही वर्ष पहले सन्त विनोबा भावे ने अकेले ही इस कार्य को करके दिखाया था। अगर उनको पूर्ण सफलता नहीं मिली तो उसके पीछे अन्य कारण हैं, ''भूमिदान'' की सैद्धान्तिक कमियां। अगर उनके कार्य में सरकार तथा अन्य संस्थाओं तथा व्यक्तियों ने सहयोग किया होता तो गांधी का एक स्वप्न अवश्य पूरा हो गया होता।

गांधी के आर्थिक विचारों का आधार विकेन्द्रीकरण का सिद्धान्त है। जिस प्रकार राजनीतिक सत्ता तभी कारगर हो सकती है जब सत्ता सच्चे अर्थ में लोगों के हाथों में हो (वोट देने का अधिकार मात्र नहीं)। उसी प्रकार आर्थिक समृद्धि के लिए भी यह आवश्यक है कि हम गांवों से उत्पादन प्रक्रिया शुरू करें, तभी गांव समृद्ध हो पाएगा।

देश में उपलब्ध तथा उपार्जित धन का समुचित बंटवारा किस तरह से हो ? इस विषय में गांधी ने एक पुराने सिद्धान्त का नवीन रू

प से प्रतिपादन किया। इस सिद्धान्त को संरक्षकता सिद्धान्त या "ट्रस्टीशिप डॉक्टरिन" कहा जाता है। यह सिद्धान्त पाश्चात्य अर्थशास्त्र में भी आया है, किन्तु इसकी व्याख्या गांधीजी ने उपनिषदों तथा भगवद्गीता के आधार पर की है। इस सिद्धान्त के अनुसार जो कुछ भी संसार में उपलब्ध है प्रकृतिप्रदत्त अथवा मानव प्रयत्न से प्राप्त–वह किसी व्यक्ति अथवा कुछ व्यक्तियों की निजी सम्पत्ति नहीं है। उन्होंने माना कि "सबै भूमि गोपाल की" और "गोपाल" की उन्होंने अपनी व्याख्या भी की। आधुनिक "गोपाल" का अर्थ है जनता-जनार्दन। उपलब्ध सम्पत्ति में सबका अधिकार है। अगर किसी के पास कुछ है जिसे वह अपना माने तो वह सरासर झूठ है। वह तो उसके सम्पत्ति का केवल संरक्षक या "ट्रस्टी" मात्र है, स्वामी नहीं। इस सिद्धान्त के अनुसार "लॉ आफ इनहेरिटिनस" बेईमानी है। बाप की सम्पत्ति बेटे की नहीं, सारे देश की है।

गांधी का ट्रस्टीशिप का यह सिद्धान्त मार्क्सवाद के निकट प्रतीत होता है। किन्तु गांधी और मार्क्स से दो मुख्य भिन्नतायें हैं- एक तो यह कि मार्क्स "वर्ग-संघर्ष" के हामी थे, गांधी वर्ग-संघर्ष की इजाज़त नहीं देते। संघर्ष के स्थान पर वे प्रेम के सिद्धान्त का समर्थन करते हैं। ट्रस्टी को स्वयं ही यह मानकर चलना होगा कि अपनी सम्पत्ति का वह स्वामी नहीं, संरक्षक-मात्र है और जब आवश्यकता हो इसका वितरण वह समाज के हित के लिए स्वेच्छा से कर दे। मार्क्स और गांधी में दूसरा अंतर यह है कि मार्क्स व्यक्तिगत सम्पत्ति के अधिकार को पूर्णतया नकार देता है और "लाभ" के सिद्धान्त को असमानता का मूल कारण मानता है। गांधी व्यक्तिगत सम्पत्ति के खिलाफ नहीं हैं–वे तो सिर्फ यह मानते हैं कि व्यक्तिगत सम्पत्ति का अर्थ शोषण करनेवाला स्वामित्व नहीं है। जब गांधी नेहरू के विचारों के सम्पर्क में आये, तब उन्होंने पाश्चात्य समाजवाद की आलोचना की और इसके स्थान पर नैतिकता के नियमों पर आधारित ट्रस्टीशिप सिद्धान्त की स्थापना की। कहने की आवश्यकता नहीं कि गांधी का यह ट्रस्टीशिप सिद्धान्त उनके व्यापक दर्शन का एक हिस्सा मात्र है।

गांधी जी ने अपनी आर्थिक-व्यवस्था के संचालन के लिए कुछ साधनों की सिफारिश की। ये मुख्य साधन हैं–चरखा, स्वदेशी तथा खादी। गीता के वचन "स्वधर्मे निधनं श्रेय: पर धर्मो भयावह:" को गांधीजी ने एक व्यापक अर्थ में समझा। हम तभी आगे बढ़ सकते हैं जब हम अपनी सांस्कृतिक आस्थाओं के अनुरूप कार्य करें। हमारी मौलिक संस्कृति ग्रामीण-संस्कृति है। इसलिए हमारे लिए चरखे का जो महत्त्व है वह बड़ी मशीनों का नहीं हो सकता। अगर भारत का हर व्यक्ति कुछ समय निकाल कर सूत कातने का काम करे तो गांवों की कई समस्याएं अपने आप हल हो जाएंगी। चरखा गीता के कर्मयोग का प्रतीक है। दूसरी ओर गांधी जानते थे कि भारत में बहुत लोग हैं जो नंगे-भूखे रहते हैं, उनके पास अपना तन ढंकने को साधारण वस्त्र भी नहीं है इसलिए उन्होंने खादी की महत्ता को स्वीकार किया। अपने ही देश में निर्मित खादी लोगों को कपड़ा देगी और विदेशी वस्त्रों का बहिष्कार करने से देश की सम्पत्ति देश के अन्दर ही रहेगी इसी तर्क के आधार पर गांधी ने चरखा, खादी और स्वदेशी की भावना को इतना महत्त्व दिया। यूरोप की औद्योगिक क्रांति के हामी लोग प्राय: यह भूल जाते हैं कि गांधी का संदेश भारत के आर्थिक व सामाजिक संदर्भों में समझा जाना चाहिए, अर्थशास्त्रियों द्वारा की गयी औद्योगीकरण की वकालत के संदर्भ में नहीं।

यह बात प्राय: बार-बार दुहराई जाती है कि गांधी अपने आर्थिक विचारों में कट्टर प्रतिक्रियावादी थे और मशीन के उपयोग तथा औद्योगीकरण के विरोधी थे। यह बात सही नहीं है। गांधी को सही संदर्भ में समझने की आवश्यकता है। गांधी ने इस विषय पर जो कुछ भी कहा वह यह मान कर कहा कि भारत की 80 प्रतिशत जनता गांवों में रहती है और कोई भी सरकारी कार्यक्रम तब तक सफल नहीं हो सकता जब तक गांवों की गरीबी का उन्मूलन न किया जाए। उन्होंने कुटीर उद्योगों की बात इसी संदर्भ में कही थी। उनकी यह बात भारत में आज भी उतनी ही प्रासंगिक है। इसको जरा गहराई से समझने की आवश्यकता है। अगर भारत के 80 प्रतिशत लोगों (जो गांवों में रहते हैं) में से प्रत्येक के पास दो वक्त की रोटी उपलब्ध हो, सिर ढंकने के लिए एक मकान हो और तन ढंकने के लिए साधारण खादी-वस्त्र हो तो क्या ऐसा भारत वही होगा जिसे हम आज देख रहे हैं ? कदाचित् नहीं। क्या कारण है कि इतने बड़े पैमाने पर औद्योगीकरण के बावजूद गांवों की स्थिति लगभग वही है जो स्वतन्त्रता प्राप्ति के समय थी? बड़े-बड़े शहरों की स्थिति तो अवश्य बदली है, वे दुनिया के बड़े-बड़े शहरों का मुकाबला कर रहे हैं, लेकिन गांव में परिवर्तन धीमा है। इसका सीधा कारण यह है कि बड़े-बड़े उद्योग-धन्धे बड़े-बड़े शहरों में ही स्थित हैं। वे गांवों में हो भी नहीं सकते। ऐसी स्थिति में समाजवाद के ढकोसले के बावजूद पूंजीवाद का जन्म और वृद्धि अवश्यम्भावी है। शहरों में वे समस्याएं पनप चुकी हैं जिनको सब लोग जाते हैं। इन्ही समस्याओं की वजह से देश अनैतिकता के गर्त में गिरता चला जा रहा है, दूसरी ओर गांव वीरान होते जा रहे हैं। उनके पास

जीविकोपार्जन का कोई साधन नहीं है, वहां के लोग इतने गरीब हैं कि वे कोई भी धंधा शुरू करने की स्थिति में नहीं हैं। जो धन बड़े-बड़े शहरों में खर्च किया जा रहा है उसको अगर गांवों में कुटीर-उद्योग धंधों की स्थापना के लिए खर्च किया जाए तो भारत से दरिद्रता का निवारण इतना कठिन कार्य नहीं है जितना कि समझा जाता है। गांधी ने यही बात बार-बार कही थी। वे अगर बड़े-बड़े उद्योग धन्धों के विरुद्ध थे तो इसलिए कि वे कुटीर उद्योगों के माध्यम से भारत की 80 प्रतिशत जनता का हित चाहते थे। वे शहरों की उन्नति के खिलाफ नहीं थे, औद्योगीकरण के भी खिलाफ नहीं थे, न ही वे वैज्ञानिक तकनीकों की या बड़ी मशीनों की निन्दा करते थे, वे तो सिर्फ वस्तु-स्थिति को ध्यान में रखकर भारत के आर्थिक-विकास की बात करते थे।

इस विषय में लोगों में एक और भ्रांति है। कुछ लोग समझते हैं कि इस विषय में नेहरू गांधीजी के कट्टर विरोधी थे। नेहरू बड़े पैमाने पर औद्योगीकरण के हामी थे जबकि गांधीजी केवल कुटीर उद्योगों के ही हिमायती थे। यह बात किसी सीमा तक सच है लेकिन इसको प्राय: गलत ढंग से समझा जाता है। गांधी और नेहरू दोनों की चिन्ता एक ही थी। वे देश में आर्थिक सम्पन्नता चाहते थे। जहां नेहरू का दृष्टिकोण विदेशी उदाहरणों से प्रभावित था, गांधी की विचारधारा भारत में मौजूदा यथार्थ पर आधारित थी। नेहरू चाहते थे कि बड़े-बड़े उद्योगों से जो लाभ होगा वह भारत के गरीबों तक भी पहुंच सकेगा इसीलिए वे बार-बार समाजवाद की बात करते थे। किन्तु गांधी का विचार था कि उत्पादन निम्न स्तर से ऊपर की ओर अग्रसर होना चाहिए। उत्पादन बढ़ाने मात्र से ही समस्या हल नहीं होगी जब तक गांवों की गरीब जनता अपने पैरों पर खड़ी नहीं होगी तब तक वह उद्योगपतियों के शोषण का शिकार बनती रहेगी। यही गांधी के औद्योगिक विकेन्द्रीकरण का तथ्य है। एक पत्र में नेहरू ने गांधीजी को लिखा था : "आपने औद्योगीकरण की कड़ी आलोचना की है इससे जो लाभ हो सकते हैं उनकी बात आपने नहीं की है।" इसके उत्तर में गांधी ने कहा था : "मैंने औद्योगीकरण की आलोचना भारत के संदर्भ में की है, इसको अपने आप में बुरी चीज नहीं कहा है।" गांधीजी की समस्त अवधारणाएं, चाहे वे राजनीतिक हों, सामाजिक हों या आर्थिक, भारत की वर्तमान परिस्थितियों के अनुरूप थीं। वे अर्थशास्त्रियों के किताबी ज्ञान को भारत पर थोपना नहीं चाहते थे। अर्थशास्त्र एक तकनीकी विषय है। गांधी अपनी सीधी बात को सरल भाषा में व्यक्त कर देते थे। इसीलिए वे कभी-कभी अर्थशास्त्रियों के उपहास का पात्र भी बन जाते हैं।

गांधी के सामाजिक विचार

भारत का शायद ही कोई अन्य विचारक हो, जिसने गांधी की तरह भारत के यथार्थ को आत्मसात् करके अपने दर्शन की सृष्टि की हो। वे शंकर, काण्ट या बर्ग सॉ की तरह तर्क करने वाले व्यक्ति नहीं थे, न ही वे साधारण राजनीति से प्रेरित समाज सुधारकों की तरह लोगों को बहकाने में विश्वास रखते थे। वे एक ऐसे सन्त थे जिनकी सतत् चिन्ता का विषय भारत था। वे भारत को यूरोप बनाने का सपना नहीं देखते थे, वे भारत को अपनी अस्मिता का ज्ञान करवाना चाहते थे। उनकी समस्त चिन्ताएं सामाजिक चिन्ताएं थीं और उनकी सारी आस्थाएं नैतिकता के आधार पर अवस्थित थीं। वे राजनीति में न जाते तो भी संत होते किन्तु उन्होंने महसूस किया कि राजनीतिक क्षेत्र में प्रभावी हुए बिना वे अपना दायित्व अच्छी तरह नहीं निभा सकेंगे। जब भी हम उनके विचारों का मूल्यांकन करें हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि वे जो कुछ भी कहते थे वह सब कुछ भारतीय शाश्वत मूल्यों के आधार पर कहते थे। वे शंकर या रामानुज नहीं थे, किन्तु उनकी समस्त विचारधारा वेदान्त-सम्मत थी। वे अद्वैतवादी या द्वैतवादी नहीं थे–ये नाम उनके साथ जोड़े अवश्य जाते हैं, लेकिन इन नामों की गांधी-दर्शन को समझने में कोई विशेष आवश्यकता नहीं है। वे भारत को महान् देश मानते थे, किन्तु वे इस देश की कमियों और कमजोरियों को नज़रअन्दाज़ नहीं करते थे। वे जानते थे कि इन कमजोरियों और कमियों को दूर किए बिना भारत अपनी वास्तविक अस्मिता प्राप्त नहीं कर सकता।

उनके सामाजिक-दर्शन का प्रारम्भ उनकी धार्मिक-भावना से होता है। वे कहते थे कि ईश्वर ही एक ऐसी सत्ता है जिसके बिना एक पत्ता भी नहीं हिल सकता। लेकिन यह सत्ता निष्प्राण नहीं है, इससे सान्निध्य स्थापित किया जा सकता है। इसीलिए प्रार्थना का अत्यन्त महत्त्व है। समाज सुधार सम्बन्धी जो भी बातें गांधी जी ने कही हैं उनका आधार यही आस्था है। उन्होंने एक बार कहा था: "मुझे कोई भी ऐसा अवसर याद नहीं है जब मुसीबत के समय प्रार्थना के जरिए मैं उस मुसीबत से उबर न गया हूं।" ऐसा लग सकता है कि ऐसी प्रगाढ़ आस्था वाला व्यक्ति समाज सुधारक कैसे हो सकता है, किन्तु हमें याद रखना चाहिए कि कबीर, नानक, विवेकानन्द जैसे मनीषियों की सामाजिक अवधारणाएं भी धर्म के ही आधार पर प्रस्फुटित हुई थीं। गांधी भी कदाचित् इसी श्रेणी में आते हैं। अन्तर सिर्फ यह है कि गांधी का यथार्थवादी दृष्टिकोण कई मायने में औरों से भिन्न था।

उनके समस्त सामाजिक विचारों का आधार है समानता। रूसो ने भी कहा था कि सब व्यक्ति समान हैं क्योंकि वे समान ही पैदा हुए हैं। गांधीजी की समानता की अवधारणा कुछ भिन्न थी। वे कहते थे कि सब व्यक्ति समान हैं क्योंकि सभी ईश्वर की संतान हैं। जैसे एक बाप के लिए अपने बच्चों में अंतर करना सम्भव नहीं है उसी प्रकार ईश्वर ने भी सबको समानता का दर्जा देकर भेजा है। जहाँ कहीं भी असमानता है वह मनुष्य की बनायी हुई है। एक व्यक्ति अगर दूसरे की जाति, धर्म, रंग, व्यवसाय, क्षेत्र आदि के आधार पर नीचा समझता है तो वह ईश्वर द्वारा निर्मित नियम का उल्लंघन करता है। ऐसा अमीर भी कर सकता है, बलशाली भी कर सकता है, पूंजीपति भी कर सकता है और इन सबसे अधिक शक्तिशाली राज्य भी कर सकता है। आदर्श समाज की स्थापना तभी हो सकती है जब ऊंच-नीच का अप्राकृतिक भाव समाप्त कर दिया जाए। किन्तु यह भाव तभी समाप्त होगा जब समाज की संरचना धर्म द्वारा अनुमोदित नैतिकता के द्वारा की जाएगी। कानून बना देने मात्र से असमानता का भाव समाप्त नहीं हो सकता। जो राजनीति नैतिकता से निरपेक्ष होगी तथा जिसकी नींव शक्ति-संगठन पर ही होगी वह समानता का भाव पैदा नहीं कर सकती। धर्म और राजनीति दो अलग-अलग वस्तुएं नहीं हैं, धर्म के बिना राजनीति बेईमानी है और धर्म को प्रचलित पंथों में बांधकर देखना अधर्म है क्योंकि सबका ईश्वर एक है, सब का धर्म भी एक ही होना चाहिए, जब इस भावना का उदय होता है तभी समानता आ सकती है।

सच्चे अर्थ में सब धर्म एक हैं–"सर्व धर्म समभाव"–इस विचार के आधार पर गांधी ने साम्प्रदायिकता पर पूरी शक्ति से प्रहार किया। वर्षों पूर्व कबीर भी यही काम कर चुके थे लेकिन कबीर ने अपने व्यंग्यात्मक प्रहार पर ज्यादा जोर दिया। समस्या का समाधान कबीर ने भी दिया किन्तु इसका सम्पूर्ण समाधान कबीर के रहस्यवाद में खोजना पड़ता है। गांधी की विचारधारा रहस्यवादी न होकर यथार्थवादी है। वे धर्म के शाश्वत मूल्यों के आधार पर एकता की बात करते हैं। 1947 में जब भारत का बंटवारा हुआ था गांधी ही सबसे दुखी व्यक्ति थे। शायद पहली बार उनको ऐसा लगा कि उनका एक सत्य का प्रयोग असफल हो गया। वे हिन्दू-मुस्लिम एकता चाहते थे–इसलिए नहीं कि उनको मुसलमानों अथवा हिन्दुओं के वोटों की आवश्यकता थी। वे हिन्दु-मुस्लिम एकता चाहते थे, एक शाश्वत सत्य की स्थापना के लिए। वह शाश्वत सत्य यह था कि मनुष्य तो मनुष्य है, उसे चाहे मुसलमान कहो या हिन्दू। वे कदाचित् यह नहीं समझ पाये होंगे कि एक दिन वह भी आयेगा जब हिन्दू मंदिर बनाने के लिए और मुसलमान मस्जिद बनाने के लिए आपस में खून की होली खेलेंगे। साम्प्रदायिक एकता का गीत ही उनके आश्रम की प्रार्थना थी। इसी आदर्श की रक्षा के लिए उन्होंने अपने प्राणों की आहुति दे दी।

असमानता का एक दूसरा पक्ष भी था जिसे गांधीजी ने हिन्दू-समाज का कोढ़ कहा था–अस्पृश्यता। जब एक ही धर्म के लोग आपस में ऊंच-नीच का भाव रखते हों तो सामाजिक एकता का प्रश्न ही कहां उठता है। गांधीजी जीवनपर्यन्त अस्पृश्यता के खिलाफ लड़ते रहे, इस लड़ाई के पीछे गांधीजी की वह तर्कसंगत भावना थी, जो इतिहास के सही अध्ययन से उत्पन्न होती है। इस बात को सही संदर्भ में समझने की आवश्यकता है। गांधीजी भारत के वर्णाश्रम धर्म के हिमायती थे, किन्तु अस्पृश्यता के कट्टर विरोधी। साधारणतया इसमें लोगों को विरोधाभास दीख पड़ता है, किन्तु वास्तविकता ऐसी नहीं है। गांधीजी जानते थे कि वर्ण-व्यवस्था का मूल कारण काम के बंटवारे के लिए था, किसी काम को छोटा या किसी काम को बड़ा समझने के लिए नहीं। वर्ण-व्यवस्था इसलिए तर्कसंगत है क्योंकि इसके अनुसार मनुष्य को अपनी अभिरुचि और योग्यता के अनुसार काम मिलता है। अगर जुलाहे का बेटा जुलाहे का ही काम करे तो वह अपने बाप द्वारा उपलब्ध योग्यता को आगे बढ़ा सकता है और इससे कपड़ा उद्योग उन्नति करता चला जाएगा। किन्तु अगर जुलाहे के बेटे में डॉक्टर या इंजीनियर बनने की अभिरुचि है तो उसको समाज नहीं रोक सकता। इस बात की उसको पूरी आजादी है। अभिरुचि तथा योग्यता के अनुसार कार्य का बंटवारा–गांधी का यही सिद्धान्त था। इसी भावना से वर्ण व्यवस्था कायम की गयी थी। कालान्तर में कुछ पेशे निम्न श्रेणी के और कुछ पेशे उच्च श्रेणी के समझे जाने लगे। यहीं से वर्ण व्यवस्था में विकृति आना प्रारम्भ हो गया। ज्योंहि इस व्यवस्था में विकृति आयी अस्पृश्यता की भयानक बीमारी भी भारतीय समाज में घर कर गयी तथा कुछ लोगों को इतना नीच समझा जाने लगा कि उनको छूना तक वर्जित कर दिया गया।

गांधी का विचार था कि जब तक अस्पृश्यता को आमूल नष्ट नहीं कर दिया जाएगा हिन्दू-समाज उन्नति नहीं कर सकेगा। गांधी को महात्मा फूले जैसे लोगों से भी इस विषय में प्रेरणा मिली। अछूतोद्धार के लिए गांधी ने कई क्रान्तिकारी कदम उठाये। वे जो कुछ भी कहते थे उसको खुद करके दिखाते थे। इसलिए अपने आश्रम में उन्होंने अछूतोद्धार का काम सबसे पहले किया। सदियों से चली आयी परम्परा के अनुसार मैला उठाना भारत में सबसे निकृष्ट कार्य समझा जाता रहा है। गांधीजी ने हरिजन बस्तियों में जाकर स्वयं

यह कार्य किया और अपने आश्रमवासियों को भी यही हिदायत दी कि वे भी ऐसा ही कार्य करें ताकि निम्न वर्ग के लोगों के अन्दर निहित छोटेपन की भावना का ह्रास हो और वे भी अपने को उच्च वर्ग के लोगों में शामिल कर सकने में समर्थ हों। सवर्णों को उन्होंने बार-बार याद दिलाया कि जो अपने ही जैसे मनुष्यों में किसी को छोटा समझें वह जघन्य अपराध तथा पाप का भागी है। एक मेहतर की भी वही अहमियत है जो एक डॉक्टर या इंजीनियर की।

गांधी ने अछूतोद्धार के लिए सरकार से कानून बनाने की प्रार्थना की। इस कार्य में अम्बेडकर जैसे लोगों का भी उनको सहयोग मिला। उन्हीं के प्रयत्न से हरिजनों के मंदिर प्रवेश पर लगायी रोक धीरे-धीरे हटायी गयी। कुछ स्वार्थी तत्त्वों ने पाखण्ड-वश इसका विरोध भी किया। वर्तमान स्थिति में भी यह संघर्ष बराबर चालू है, किन्तु गांधी के सतत् प्रयास से इस आंदोलन को शक्ति मिली। उन्होंने कहा कि अछूत सबसे कमजोर हैं, इसलिए परम पिता परमात्मा की दृष्टि में वह सबसे अधिक प्रिय है। इसलिए उन्होंने अछूतों को "हरिजन" की संज्ञा दे दी, गांधी का यह कितना महत्त्वपूर्ण कार्य था उसको आज भी भलीभांति समझा जा सकता है। उनकी रामराज्य की कल्पना तथा सर्वोदय का आदर्श "सर्व धर्म सम भाव" और "सर्वजन हिताय" पर ही आधारित है। इन सिद्धान्तों की प्रासंगिकता पर किसी को भी संदेह नहीं होना चाहिए।

गांधी के समानता के सिद्धान्त का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पहलू स्त्री तथा पुरुष की पारस्परिक समानता भी है। वे एक ऐसे सामाजिक वातावरण में पले थे जहां नारी को पुरुष से नीचे का स्थान दिया जाता है। वे भली-भांति जानते थे कि इस भेदभाव का कोई भी प्रमाण भारतीय धार्मिक अथवा दार्शनिक ग्रन्थों में नहीं मिलता। पर्दा-प्रथा जैसी कुरीतियां तथा सती-प्रथा जैसे जघन्य कार्य मध्ययुग की देन हैं और इन कुरीतियों से भारतीय समाज अवनति के गर्त में धंसता चला जा रहा है। अगर किसी देश की आधी जनता को निष्क्रिय और निष्प्राण कर दिया जाए तो देश का कितना नुकसान हो सकता है, यह बात गांधी भली-भांति जानते थे। उनके पहले कई अन्य सुधारक इस दिशा में कार्य कर चुके थे। गांधीजी ने इन लोगों को समर्थन किया और अपने आश्रम में पुरुषों तथा स्त्रियों को बराबर का स्थान दिया। यह काम उन्होंने अपनी धर्मपत्नी कस्तूरबा को सौंप दिया था।

गांधी प्राय: कहा करते थे कि पुरुषों को भली-भांति जान लेना चाहिए कि स्त्रियां वही काम कर सकती हैं जो वे कर सकते हैं। वे तो यहां तक कहते थे कि स्त्री मातृ-स्वरूपा होने की वजह से मानव मूल्यों को अधिक अच्छी तरह से संजोकर रख सकती है। वह प्रेम और स्नेह की प्रतिमूर्ति है और इस क्षमता के आधार पर वह नैतिकता की संदेश-वाहिनी है। इसलिए स्त्री को पुरुषों से नीचे समझना अन्याय ही नहीं प्रकृति के नियमों का उल्लंघन है और ईश्वर की दृष्टि में पाप है।

गांधी विवाह को एक पवित्र-बंधन मानते थे, काम-पिपासा शांत करने का साधन नहीं। वे विधवा-विवाह के भी पक्षपाती थे। उन्होंने कहा है कि अपनी इच्छा से विधवा बना रहना गलत नहीं है किन्तु किसी स्त्री को विधवा बने रहने के लिए बाध्य करना महान् पाप है। वे बाल-विवाह को भी अनुचित मानते थे।

गांधी के अनुसार स्त्री के सारे अधिकार वही होने चाहिए जो पुरुषों को मिले हैं। जिस प्रकार वे सामाजिक समानता की अधिकारिणी हैं उसी प्रकार वे राजनीतिक समानता की भी अधिकारिणी हैं। उनको राजनीति में आने का पूरा अधिकार है, किन्तु यह भी उनका कर्तव्य है कि वे अपने घर की समुचित देखभाल करें। उनके मातृ-पक्ष के वे बहुत बड़े हामी थे। उनका मानना था कि बिना उनकी सक्रिय भूमिका के भारतीय परिवारों में सुख-शांति नहीं आ सकती।

गांधी के समानता के जिन आदर्शों का हमने वर्णन किया है वे एक आदर्श समाज में ही सम्भव हैं। अगर किसी देश की सामाजिक-परिस्थितियां अनुकूल न हों तो न तो साम्प्रदायिक समानता सम्भव है, न ही अछूतोद्धार अथवा स्त्री-पुरुष समानता ही सम्भव है। ये सब बातें तभी सम्भव हैं जब स्वतन्त्रता का वातावरण हो। बिना स्वतन्त्रता के समानता का कोई अर्थ ही नहीं है, इसलिए वे कहते थे कि स्वतन्त्रता सबका अधिकार है। गांधी का यह संघर्ष दक्षिण अफ्रीका में निवास के दिनों से प्रारम्भ हुआ और 1947 तक लगातार जारी रहा। उन्होंने कब, क्या और कैसे किया, यह तो इतिहास का एक अत्यन्त सबल तथा महत्त्वपूर्ण पक्ष है, किन्तु इस संघर्ष के पीछे किन विचारों की प्रेरणा थी यह जान लेना आवश्यक है।

क्या स्वतन्त्रता का अर्थ स्वच्छन्दता है? गांधी का सीधा उत्तर था–"नहीं"–स्वतन्त्रता तो मानव का प्रकृति-दत्त अधिकार है जो नैतिकता के सिद्धान्तों पर आधारित है। प्रथम आवश्यकता कर्तव्यों का निर्वाह है और कर्तव्यों का निर्वाह तभी हो सकता है जब मनुष्य को

अपने दैवी अथवा आत्मिक शक्तियों की अभिव्यक्ति और अवसर मिले। स्वतन्त्रता का हनन तब होता है जब मनुष्य पर बनावटी बंधन थोप दिये जाते हैं। इस दिशा में गांधी की मूल चिन्ता आध्यात्मिक थी और रूसो की सम्भवत: राजनैतिक।

यद्यपि गांधी आध्यात्मिक स्वतन्त्रता के हिमायती थे किन्तु वे यह भी जानते थे कि बिना राजनीतिक स्वतन्त्रता के आध्यात्मिक स्वतन्त्रता सम्भव नहीं है। इसी कारण बुनियादी तौर पर एक संत होते हुए भी वे भारत के राजनीतिक आन्दोलन में प्रत्यक्ष रूप से कूद पड़े और जीवनपर्यन्त संघर्षरत रहे।

रानाडे का विचार था कि राजनीतिक स्वतन्त्रता के बिना सामाजिक सुधार न तो सम्भव है न वाञ्छनीय। तिलक का मत था कि अगर देश के पास स्वशासन की व्यवस्था नहीं है तो सामाजिक एकता की बात करना व्यर्थ है. गांधी का विचार दोनों से ही कुछ भिन्न था। वे मानते थे कि राजनीतिक स्वतन्त्रता और सामाजिक समानता दोनों एक ही भावना के दो पक्ष हैं। दोनों बातें एक दूसरे से भिन्न हो सकती हैं किन्तु वे एक दूसरे की पूरक हैं। दोनों को एक साथ चलना चाहिए। हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख और ईसाई सभी धर्मावलम्बी अपने को एक मानकर चलें और राजनीतिक स्वतन्त्रता के लिए अहिंसक आंदोलन करें किन्तु राजनीतिक स्वतन्त्रता मात्र ही हमारा लक्ष्य नहीं होना चाहिए। हमें एक राष्ट्र बनना है और इसकी प्रक्रिया स्वतन्त्रता के बाद नहीं, पहले से प्रारम्भ हो जानी चाहिए। इसीलिए गांधी जब अंग्रेज़ों के खिलाफ़ सत्याग्रह करते थे तो उसी दौरान समाज-सुधार के कार्यों में भी जुटे रहते थे। वे मानव-जीवन को समग्रता की भावना से देखते थे, अलग-अलग हिस्सों (टुकड़ों) में नहीं। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भी पं. नेहरू बार-बार कहते थे कि राजनीतिक स्वतन्त्रता तो मिल गयी है किन्तु वह काफी नहीं है, हमें अपने देश को एक महान् देश बनाना होगा, यह भावना नेहरू को गांधी से विरासत में मिली थी और वे इस बात को स्वीकार भी करते थे।

गांधी और शिक्षा

गांधी ने जिस सामाजिक पुनरुत्थान की बात की है उसका प्रस्फुटन शून्य में नहीं हो सकता। बड़ी बातें जान लेने मात्र से "सर्वोदय" की कल्पना साकार नहीं हो सकती। जिन सामाजिक, राजनीतिक अथवा आर्थिक सिद्धान्तों की प्रतिष्ठा हम करना चाहते हैं, वे एक आदर्श राज्य में ही सम्भव हैं क्योंकि उनकी जड़ें नैतिकता के सिद्धान्त पर टिकी हैं। जब हमारे सारे आदर्श हमारी जीवन-पद्धति का प्रतिरूप बनें और हम उन्हें सहज रूप से अपनी आंतरिक प्रेरणा के माध्यम से स्वीकार कर लें तो हमको अपनी शिक्षा-पद्धति की ओर ध्यान नहीं देना होगा। किसी देश के नागरिकों का व्यवहार उनकी मान्यताओं और आस्थाओं के अनुरूप होता है, इसलिए हमें शिक्षा की ओर ध्यान देना होगा।

शिक्षा क्या है? गांधी के अनुसार शिक्षा आत्म साक्षात्कार या अपने को पहचानने की कला है। अगर शिक्षा दोषपूर्ण होगी या सिर्फ आर्थिक स्वार्थों को समझने वाली होगी तो देश में आदर्श व्यवस्था की स्थापना नहीं हो सकती। गांधीजी के शिक्षा-दर्शन की यही मूल धारणा है।

गांधी ने शिक्षा-विषयक समस्याओं की समालोचना उस वक्त की जब भारत में एक विदेशी शिक्षा-व्यवस्था का बोलबाला था, जो जबरन भारत पर थोप दी गयी थी। अंग्रेज़ों को केवल ऐसे शिक्षितों की आवश्यकता थी जो उनको भारत पर शासन करने में सहायता प्रदान करें। वे नहीं चाहते थे कि भारत के लोग सही अर्थ में शिक्षित हो जाएं और उन्हीं के खिलाफ आवाज उठाने लगें। इसलिए उन्होंने अपनी शिक्षा-पद्धति को ज्ञानपरक नहीं विदेशी भाषापरक बना दिया। वे जानते थे कि भारत के विद्यार्थियों का अधिक समय विदेशी भाषा रटने में ही खर्च हो जाएगा और फिर भी वह इतना ही सीख पायेगा जितने से उनके द्वारा संचालित दफ्तरों का रोजमर्रा का कार्य हो जाए और शिक्षा का वास्तविक महत्त्व ताक पर रखा रह जाए। इस प्रकार अंग्रेजों ने काले अंग्रेज़ों की उत्पत्ति की जो आज भी देश के लिए समस्या बने हुए हैं। अब धीरे-धीरे परिवर्तन आ रहा है किन्तु अभी भी जाने-अनजाने नौकरी पाने की योग्यता अंग्रेजी बोल पाने की योग्यता से मापी जाती है। गांधी इस व्यवस्था से अत्यन्त बिक्षुब्ध थे। इसीलिए उन्होंने एक कॉन्फ्रेन्स का आह्वान किया और एक नयी शिक्षा पद्धति की सिफारिश की। इस पद्धति को "वर्धा स्कीम ऑफ एजुकेशन" का नाम दिया गया, इस स्कीम का मुख्य आधार था "बुनियादी शिक्षा"।

बुनियादी शिक्षा के दो मुख्य ध्येय थे–पहला तो यह कि शिक्षा को सही अर्थ में शिक्षित होने का माध्यम बनाया जाए और दूसरा

यह कि शिक्षा को आत्मनिर्भरता के सिद्धान्त से जोड़ा जाए। वे किसी "वाद" का प्रतिपादन नहीं करना चाहते थे फिर भी उनकी कुछ मान्यताएं अवश्य हैं जिनसे असहमति होना भी स्वाभाविक है। उन्होंने कहा–"मैं इस बात का दावा नहीं करता कि मैंने किसी नये सिद्धान्त को जन्म दिया है, मैंने तो केवल शाश्वत को अपने ढंग से जीवन में तथा उससे सम्बन्धित समस्याओं को हल करने में अपनाया है।

गांधी ने अपनी शिक्षा नीति के बारे में जो कहा है वह सत्य है, किन्तु अधिक गहराई पर जाने से प्रतीत होता है कि उनके विचारों का सैद्धान्तिक पक्ष ढूँढा जा सकता है। जैसा कि अपनी पुस्तक "एजुकेशनल फिलॉसफी ऑफ महात्मा गांधी" में एम. एस. पटेल ने लिखा है : 'गांधी जी के शिक्षा-दर्शन का आधार प्रकृतिवादी है, उद्देश्य आदर्शवादी तथा विधि प्रयोजनवादी है।" यह इस अर्थ में प्रकृतिवादी है कि रूसो की तरह गांधी ने शिक्षार्थी को प्रकृति के माध्यम से सीखने की राय दी है। यह आदर्शवादी, इस अर्थ में है कि यह गांधी के सत्य, अहिंसा तथा सर्वोदय के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करती है और प्रयोजनवादी इस अर्थ में है कि गांधी शिक्षा को आत्मनिर्भरता का साधन भी मानते हैं।

गांधी की बुनियादी शिक्षा की कुछ मुख्य बातें इस प्रकार हैं–

(1) 7 से 14 वर्ष तक की उम्र तक शिक्षा अनिवार्य होनी चाहिए और नि:शुल्क भी। अनिवार्य इसलिए क्योंकि बिना बुनियाद बनाये मकान खड़ा नहीं किया जा सकता और नि:शुल्क इसलिए क्योंकि भारत के 80 प्रतिशत परिवार शिक्षा का खर्च नहीं उठा सकते,

(2) शिक्षा मातृभाषा द्वारा हो, विदेशी भाषा के माध्यम से नहीं, ऐसा इसलिए आवश्यक है कि शिक्षा का मूल उद्देश्य रटना नहीं बल्कि समझना है और गहराई से समझना अपनी मातृभाषा में ही सम्भव है। इसमें भाषा सम्बन्धी व्यवधान नहीं होना चाहिए,

(3) शिक्षा में हस्तकला को महत्त्व दिया जाना चाहिए। इस विचार से गांधी जी की उस सूझबूझ का पता चलता है जिसका सम्बन्ध सीधे आर्थिक व्यवस्था से है। अगर विद्यार्थी प्रारम्भ में ही किसी सहज कला की ओर अग्रसर हो जाए तो उसको पेट भरने की समस्या का समाधान मिल जाएगा और भारत की परम्परागत हस्तकलाओं को भी प्रश्रय मिलेगा,

(4) शिक्षा जीवन के यथार्थ से जुड़ी हो और दूसरों पर निर्भर रहने की आदत से छुटकारा दे। यह सिद्धान्त गांधी के स्वावलम्बन के सिद्धान्त के अनुरूप है,

(5) शिक्षा का बुनियादी उद्देश्य है अच्छे नागरिक पैदा करना। अच्छे नागरिकों से ही अच्छा देश बनता है और अच्छे नागरिक बनाने में अच्छी शिक्षा की प्रमुख भूमिका है,

(6) शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार सबको समान रूप से है। स्त्रियों को भी शिक्षा की उतनी ही आवश्यकता है जितनी पुरुषों को।

जब गांधी ने उच्च शिक्षा की बात की तब भी उनके बुनियादी सिद्धान्त वही रहे। इतना उन्होंने और जोड़ दिया कि उच्च शिक्षा का उद्देश्य देश की आवश्यकताओं के अनुरूप होना चाहिए।

गांधी ने बराबर यही कहा कि शिक्षा मातृभाषा में ही दी जानी चाहिए। संस्कृत भाषा के सम्बन्ध में भी उनके विचार स्पष्ट हैं। वे कहते हैं कि भारत की अस्मिता भारतीयता के बाहर नहीं आंकी जा सकती और भारतीयता की समस्त मान्यताएं संस्कृत भाषा से ही जुड़ी है। सर्वविदित है कि गांधी ने स्वयं संस्कृत के ज्ञाता न होते हुए भी अपना सारा जीवन दर्शन गीता के कर्मवाद पर आधरित किया। "कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन"--कर्म करो, फल ईश्वर के हाथ है, वही देगा–इसी भाव-भूमि पर गांधी की समस्त अवधारणाएं केन्द्रित हैं। इस प्रकार गांधीजी ने शिक्षा सिद्धान्त को एक व्यापक अर्थ दिया। वे कहते थे कि शिक्षा का उद्देश्य केवल मानसिक नहीं है, चारित्रिक, नैतिक, सामाजिक, आर्थिक, तथा शारीरिक उन्नति भी शिक्षा के उद्देश्य हैं। सम्भवत: गांधीजी की इस विशद व्याख्या से आजकल के शिक्षाशास्त्री पूर्णरूप से सहमत न हों किन्तु जो भी बातें गांधी ने सुझायी हैं उनका महत्त्व भारत के संदर्भ में आंका जाना चाहिए। वे कोरे सिद्धान्तों की बात नहीं करते, करोड़ों भारतीयों की सामाजिक तथा मानसिक पहलुओं को ध्यान में रख कर उनकी बातों का महत्त्व समझा जाना चाहिए।

DISCOVERY

जवाहर लाल नेहरू

भारतीय जनता की कई पीढ़ियों की चेतना को ढालने में, महात्मा गांधी के बाद, सर्वाधिक प्रमुख योगदान जवाहरलाल नेहरू का ही रहा है। शोषण से मुक्त एक नए भारत के निर्माण के लिए और साम्राज्यवाद के उत्पीड़न से मुक्त एक नए विश्व के सृजन के लिए उन्होंने भारत के लोगों की आकांक्षाओं को वाणी दी। स्वाधीन भारत के प्रथम प्रधानमंत्री के रूप में, आधुनिक भारत के स्वतंत्र विकास की दिशा भी उन्होंने ही निर्धारित की।

नेहरू के चिन्तन पर प्रभाव

उदारवाद की पाश्चात्य अवधारणा से नेहरू सबसे अधिक प्रभावित थे। उन्होंने उदारवाद से अभिव्यक्ति और प्रेस की स्वतंत्रता, व्यक्ति की स्वतंत्रता एवं गरिमा, स्वतंत्र निर्वाचन और संसदीय सरकार की अवधारणा को आत्मसात् किया। गांधी के व्यक्तित्व ने भी नेहरू को प्रभावित किया तथा उन्होंने सदैव गांधी के प्रिय अनुयायी के रूप में राष्ट्रीय आंदोलन के समय कार्य किया।

यद्यपि राजनीतिक मुद्दों तथा भारतीय समाज के पुनर्निर्माण के संबंध में दोनों के विचारों में मतभेद था। प्रगतिशील तथा साम्यवादी विचारों के उद्भव के युगपुरुष कार्ल मार्क्स तथा लेनिन के अध्ययन ने भी उन्हें काफी प्रभावित किया, परन्तु वे सोवियत संघ द्वारा अपनाये गए अत्यधिक सैनिकीकरण से असहमत थे।

नेहरू और समाजवाद

नेहरू 'लोकतांत्रिक समाजवाद' की परिकल्पना से प्रभावित थे जिसमें समता की स्थापना के लिए उन्होंने रूसी क्रांति के स्थान पर विकास की आवश्यकता पर बल दिया। उनका मानना था कि व्यक्ति की गरिमा या समानता को सुनिश्चित करने हेतु पूंजीवादी पद्धति पर आधारित समाज को समाप्त करना होगा। वे कहते हैं कि, ''बढ़ती हुई संपत्ति तथा उत्पादन से उपेक्षित किए गए समाजवाद का अर्थ होगा–गरीबी को समान रूप से बांटना अर्थात् गरीबी फैलाना।'' उनका मानना था कि संपत्ति का उत्पादन करना चाहिए और बाद में उसे समाज में समान रूप से विभाजित कर देना चाहिए, जिससे समाज के समतावादी ढांचे का प्रारूप तैयार किया जा सके। उनका कहना था कि सभी लोगों को एक समान नहीं बनाया जा सकता परन्तु सभी को कम से कम समान अवसर तो दिया जा सकता है।

नेहरू वैयक्तिक स्वतंत्रता को अवरोधित किए बिना समाज के लक्ष्य को प्राप्त करने के पक्षधर थे। जिसके लिए उन्होंने नियोजन का मार्ग अपनाया। उनके द्वारा सामुदायिक विकास कार्यक्रम तथा राष्ट्रीय विस्तार सेवाओं का शुभारम्भ करके ग्रामीण क्षेत्र में समाजवादी समाज के विस्तार का बीड़ा उठाया गया जिससे सहकारिता के सिद्धांत पर ग्रामीण अर्थव्यवस्था का विकास हो सके। नेहरू ने एक वर्गहीन समाज की कल्पना की थी। अपनी कल्पना को साकार करने हेतु उन्होंने तीव्र औद्योगीकरण, रोजगार के अवसरों का सृजन, आर्थिक सत्ता का विकेन्द्रीकरण, धन एवं आय की विषमताओं में कमी आदि उद्देश्यों का समावेश द्वितीय पंचवर्षीय योजना में किया। इस प्रकार नेहरू ने एक ऐसे व्यावहारिक प्रयोगवादी समाजवाद की संकल्पना प्रस्तुत किया जो भारत को समयानुकूल परिस्थितियों में उसकी जरूरतों को पूर्ण कर सके।

नेहरू और लोकतंत्र

नेहरू के अनुसार, लोकतंत्र अनुशासन, सहिष्णुता और एक-दूसरे की इज्जत की भावना पर आधारित है। आजादी दूसरों की आजादी की ओर सम्मान की दृष्टि से देखती है। उनका मत था कि लोकतंत्र पूर्णरूपेण राजनीतिक मामला नहीं है। लोकतंत्र का अर्थ है सहिष्णुता - न केवल अपने मत वाले लोगों के बारे में सहिष्णुता बल्कि अपने विरोधियों के प्रति भी सहिष्णुता। इस प्रकार नेहरू की लोकतंत्र की अवधारणा, लोकतंत्र की पश्चिमी अवधारणा से पूर्णत: भिन्न है। उनका विचार था कि वर्तमान में उपनिवेशवाद अथवा साम्राज्यवाद संपूर्णत: अनुचित, अपमानजनक तथा लज्जास्पद पंथ हैं।

उनका मानना था कि लोकतांत्रिक शासन प्रणाली केवल चुनाव की बात नहीं है। लोकतंत्र का सही अर्थ होना चाहिए सामाजिक-आर्थिक विषमता का उन्मूलन-जहां अनुशासनबद्धता स्वयं प्रेरित होती हो। क्योंकि बिना अनुशासन के लोकतंत्र निष्प्राण है। वे लोकतांत्रिक शासन प्रणाली की प्रशंसा करते थे परन्तु इस बात से असहमत थे कि बहुसंख्यक लोग सदैव सही होते हैं।

उनके विचार से संसदीय लोकतंत्र में अनेक गुण अपेक्षित हैं। अर्थात् उसे सबसे पहले सक्षम होना चाहिए, कार्य के प्रति निश्चित रूप से श्रद्धा होनी चाहिए, आस्था होनी चाहिए, विशाल मात्रा में सहयोग की भावना होनी चाहिए, आत्म-अनुशासन होना चाहिए तथा इस बात का ज्ञान होना चाहिए कि सम्मान के साथ हार-जीत कैसे अपनाते हैं।

नेहरू और धर्मनिरपेक्षता

नेहरू धर्म में व्याप्त पुरानी रूढ़ियों, भ्रामक कल्पनाओं तथा अंध विश्वासों से दुखित थे। उनके लिए मुख्य समस्याएं थी व्यक्ति और सामाजिक जीवन की समस्याएं। ये समस्याएं हैं–संतुलित शांत जीवन, व्यक्ति के अन्तर्वाह्य जीवन में एक उचित संतुलन, समूह और व्यक्ति के संबंधों में सामंजस्य और कुछ अधिक अच्छे तथा उच्च बनने की इच्छा। इसी परिप्रेक्ष्य में नेहरू की धर्मनिरपेक्षता निहित है जो व्यक्ति और समूह का एक मानवीय दृष्टिकोण प्रस्तुत करती है। संविधान में भारत को एक धर्मनिरपेक्ष राज्य के रूप में प्रस्तुत करने में नेहरू का महत्त्वपूर्ण योगदान है। नेहरू का मत है कि धर्मनिरपेक्ष होने का मतलब यह नहीं कि वह अधार्मिक अथवा नास्तिक है। धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र का अर्थ सभी धर्मों को समान रूप से सम्मानित किया जाना तथा प्रत्येक मनुष्य को चाहे वह किसी भी धर्म का अनुसरण करता हो–समान अवसर देना है। नेहरू धार्मिक मामलों में राज्य की तटस्थता के पक्षधर थे। उन्होंने लिखा है, 'मुझे विश्वास है कि भावी भारत की सरकारें इस अर्थ में धर्मनिरपेक्ष होंगी कि वे अपने को किसी विशेष धार्मिक विश्वास के साथ नहीं जोड़ेंगी।'' नेहरू एक समान नागरिक संहिता के हिमायती थे। उनका मानना था कि धर्मनिरपेक्षता के आदर्श में विभिन्न समुदायों के लिए विभिन्न कानून का होना एक अभिशाप है। संभवत: नेहरू इस धर्मनिरपेक्षता के माध्यम से देश में एक सुदृढ़ परिवर्तन की कल्पना कर रहे थे।

नेहरू और मिश्रित अर्थव्यवस्था

नेहरू की संकल्पना में राष्ट्र की अर्थव्यवस्था ऐसी होनी चाहिए जिसमें सार्वजनिक एवं निजी क्षेत्र, एक-दूसरे के साथ मिलकर राष्ट्र के चहुंमुखी विकास में सहायक सिद्ध हों। अर्थशास्त्रियों ने इसी अर्थव्यवस्था को मिश्रित अर्थव्यवस्था कहा है। नेहरू का विचार था कि जिन राष्ट्रों के पास वित्तीय एवं तकनीकी साधन अत्यधिक सीमित हैं, उनके लिए अर्थव्यवस्था का पूर्णत: राष्ट्रीयकरण किया जाना उपयोगी नहीं हो सकता और खासकर भारत जैसे विकासशील देश के लिए।

नेहरू आधारभूत एवं भारी उद्योगों तथा प्रतिरक्षा पर राज्य के पूर्ण नियंत्रण के पक्षधर थे और शेष उद्योगों जिनके कारखाने व्यक्तिगत स्वामित्व में हैं, उसी भांति रहने देने के पक्ष में थे। परन्तु उन्होंने नवीन कारखानों की स्थापना का अधिकार राज्य के पास सुरक्षित रखने को कहा। इस प्रकार उन्होंने भारत की तत्कालीन परिस्थितियों में उत्पादन के साधनों को व्यक्तिगत स्वामित्व में छोड़ना उचित समझा और राष्ट्रीय साधनों को नवीन योजनाओं में लगाना श्रेयस्कर माना। उनके विचार से निजी क्षेत्र को सार्वजनिक क्षेत्र के सहयोग से कार्य करना चाहिए तथा सरकारी नियंत्रण में रहना चाहिए। इस प्रकार नेहरू का समाजवाद अर्थव्यवस्था पर राज्य के पूर्ण नियंत्रण की वकालत नहीं करता है। वह सार्वजनिक क्षेत्र का क्रमश: विस्तार किए जाने के पक्षधर थे जिसमें उनका उद्देश्य जनमानस का कल्याण एवं एक समतावादी समाज की स्थापना करना था।

नेहरू और राष्ट्रवाद एवं अंतरराष्ट्रीयतावाद

यद्यपि नेहरू ने राष्ट्रवाद का कोई सिद्धांत प्रतिपादित नहीं किया फिर भी वे एक सच्चे राष्ट्रवादी थे। उनकी राष्ट्रीयता, जाति, धर्म, वर्ग, भाषा, संकीर्णता तथा साम्प्रदायिकता से परे है, जिसमें अंतरराष्ट्रीय व्यवस्था के साथ सामंजस्य बैठाने के सभी आदर्श विद्यमान हैं।

वे एक राष्ट्रवादी दृष्टिकोण के साथ प्राचीन धर्मों का सम्मान करते थे। परंतु उन्होंने, अपने ही दायरे में रहने वाले कूपमंडूक वृत्ति के राष्ट्रवाद को अपनाने से इंकार कर दिया। उनका विचार था कि हमें कुछ अंशों में एक प्रकार का सहिष्णु, क्रियात्मक, राष्ट्रीय दृष्टिकोण अपनाना चाहिए, जिसका अपने आप पर तथा अपने लोगों की अलौकिक बुद्धिमत्ता पर पूरा-पूरा भरोसा हो और जो एक अंतरराष्ट्रीय व्यवस्था की स्थापना में अपना पूरा-पूरा सहयोग दे रहा हो।

नेहरू की राष्ट्रीय संवेदना उन सभी मानव जातियों के लिए समर्पित थी जो पीड़ित तथा शोषित थे। नेहरू राष्ट्रवाद के भावनात्मक पहलुओं को स्वयं स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि, ''पुरातन उपलब्धियों एवं परम्पराओं का स्मर्णात्मक समूह राष्ट्रवाद है। प्रत्येक समय

की अपेक्षा राष्ट्रवाद वर्तमान में अधिक शक्तिशाली है। जब कभी भी कोई संघर्ष उत्पन्न होता है, राष्ट्रवाद की स्वाभाविक उत्पत्ति होती है।

नेहरू इस तथ्य से पूर्णत: सहमत थे कि अंतरराष्ट्रीयतावाद एक भावना है जिसके अनुसार व्यक्ति केवल अपने राज्य का ही सदस्य नहीं वरन् समस्त विश्व का नागरिक है। नेहरू का राष्ट्रवादी विचार पूर्णत: अंतरराष्ट्रीयतावाद के वृत्त में था। वे अन्य राष्ट्रों को नीचा दिखाने में विश्वास नहीं रखते थे बल्कि उनका विश्वास सभी के साथ शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व और पारस्परिक सहयोग रखने में था।

नेहरू का विश्वास था कि भारत का स्वाधीनता संग्राम विश्व के अन्य भागों के स्वतंत्रता संघर्ष पर अपना प्रभाव छोड़ेगा। उन्होंने विश्व के किसी भी कोने में उठने वाले शोषित और दलित जनमानस के संघर्ष को अपना समर्थन दिया। इसका ज्वलंत उदाहरण उनके द्वारा इण्डोनेशिया के स्वतंत्रता संग्राम को दिया गया समर्थन है।

नेहरू का मानना था कि हमें अपने अंतरराष्ट्रीय संबंधों का विस्तार करना चाहिए तथा नये-नये मित्र बनाने चाहिए। साथ ही यह हमेशा ध्यान रखना चाहिए कि हम अपने पुराने मित्रों को न भूलें। नेहरू विश्व के प्रत्येक राष्ट्र के विश्व घटनाक्रम में सक्रिय भागीदारी के पक्षधर थे और अलगाववाद के कट्टर विरोधी।

भारत के वर्तमान विश्व संबंधों की रूपरेखा वास्तव में नेहरू द्वारा ही बनायी गयी है। एशिया तथा अफ्रीका की मित्रता, रूस तथा भारत मैत्री संबंध, संयुक्त राष्ट्र संघ एवं राष्ट्रकुल में भारत की सदस्यता, ये सभी नेहरू के अंतरराष्ट्रीयतावाद के ही परिणाम हैं। उनकी अंतरराष्ट्रीय नीति का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण योगदान है गुटनिरपेक्षता।

गांधी बनाम् नेहरू

राजनीतिक मुद्दों तथा भारतीय समाज की पुनर्रचना के संबंध में गांधी और नेहरू के विचारों में मूल अन्तर विचारधारा पर आधारित है।

धर्म : गांधी धर्मपरायण व्यक्ति थे जबकि नेहरू अज्ञेयवादी। नेहरू के लिए कट्टरवादी धर्म भोंडा तथा पलायनवाद का एक रूप था। जिसकी परिणति प्राय: लोगों की मासूमियत के शोषण के रूप में होती है। परन्तु उन्होंने इस बात को स्वीकार किया कि धर्म हमें वो मूल्य देते हैं जिसके द्वारा व्यक्ति की गहराई से महसूस की गयी आवश्यकताओं को संतोष प्रदान किया जाता है। अत: वे एक मतान्ध नास्तिक और भौतिकवादी नहीं थे।

गांधी के लिए धर्म सिर्फ कर्मकांडों का अनुपालन ही नहीं था। गांधी के लिए व्यक्ति का अंतिम लक्ष्य मोक्ष (अंतिम मुक्ति) है जिसे सेवा और मानवता के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है न कि इस संसार से भागकर। इसलिए जो नास्तिक और अज्ञेयवादी मानवता की सेवा में हैं, वे धार्मिक लोग हैं। यही कारण था कि गांधीजी ने अपनी सूक्ति 'ईश्वर ही सत्य है' को 'सत्य ही ईश्वर है', में बदल लिया। ईश्वर जिसका मतलब यह है कि सिर्फ सत्य को उच्चतम नीतिपरक महत्त्व है। अत: धर्म नीति के समान बन जाता है।

इस तरह धर्म को नैतिक मूल्यों के बराबर लाने की शैली नेहरू की भी थी। राजनीति का आध्यात्मीकरण करने का जो प्रयास गांधीजी ने चाहा, उन्हें बहुत अच्छा लगा। उन्हें लगा कि इस स्तर पर पहुंचने के लिए एक योग्य माध्यम होना चाहिए। गांधी के लिए यह सिर्फ सुंदर नीतिगत सिद्धांत ही नहीं था बल्कि इसमें उन्हें व्यावहारिक राजनीति की झलक भी दिखाई दी। यह झलक उनके लिए थी जिनके माध्यम अच्छे नहीं हैं तथा नयी समस्याएं पैदा करते हैं। अत: नेहरू का तथाकथित अज्ञेयवाद ने गांधी के लिए धार्मिक मूल्यों का रूप ले लिया। इसमें उन सभी तत्वों को शामिल किया गया जो मानवता के लिये आवश्यक थे।

अहिंसा

यह तर्क दिया जाता है कि गांधी के लिए अहिंसा सत्य की खोज या सामाजिक मतभेदों को सुलझाने की एक विधि थी। नेहरू ने अहिंसा को हर समय, हर परिस्थिति में अपनाना स्वीकार नहीं किया। उनका मानना था कि यह एक ऐसी नीति है जिसके बारे में सिर्फ इसके परिणामों के आधार पर ही निर्णय किया जा सकता है। निश्चित रूप से यह साम्राज्य के खिलाफ लड़ाई के लिए सही थी क्योंकि तत्कालीन परिस्थितियाँ भी उसके लायक थी। परिणामस्वरूप द्वितीय विश्वयुद्ध तथा जापानी आक्रमण के भय ने इन दोनों के मतभेदों को खोलकर सामने लाया। नेहरू यह विश्वास नहीं करते थे कि बाहरी आक्रमण के खिलाफ अहिंसा को एक हथियार

के रूप में प्रयुक्त किया जा सकता है। लेकिन गांधी की अहिंसा की परिकल्पना का अर्थ आक्रमणकारियों के आगे समर्पण करना नहीं था। इसे तभी अपनाया जा सकता था जब लोग इसमें अपना पूर्ण विश्वास व्यक्त करें तथा आक्रमणकारियों के खिलाफ अहिंसक प्रतिरोध करने में अपने आपको पीड़ा पहुंचाने को तैयार रहें। उन्होंने यह कभी नहीं सोचा कि आक्रमणकारियों के खिलाफ अहिंसक विधि अपनाने के लिए लोगों को जबरदस्ती तैयार किया जा सकता है। उन्होंने उन नागरिकों की सैन्य क्षमता को भी देखा जो अहिंसक विरोध को तैयार नहीं थे। इसलिए युद्ध के दौरान नेहरू ने ऐसा कोई कदम नहीं उठाया जो गांधी के विचारों के प्रतिकूल था। संभवत: नेहरू के दबाव के कारण ही गांधी मित्र राष्ट्रों की सेनाओं को भारत की भूमि पर रहने देने को तैयार हो गए। यह अहिंसा के पुजारियों के लिए 'कड़वी गोली' के समान था।

आर्थिक विकास

एक समाजवादी होने के नाते नेहरू का गांधी के न्यास के सिद्धांत में विश्वास नहीं था। नेहरू को जमींदारी और पूंजीवाद के खात्मे के लिए राज्य की शक्ति का प्रयोग करने में खेद नहीं था। उन्होंने यह विश्वास नहीं किया कि सभी जमींदार और पूंजीपति खुद-ब-खुद अपनी अधिशेष संपत्ति के न्यासी बन जाएंगे। यद्यपि गांधी ने संघर्ष समाप्ति के लिए बल प्रयोग के प्रति भी विश्वास व्यक्त किया है। उन्होंने जयप्रकाश नारायण तथा नेहरू के प्रभाव में आकर शोषणरहित समाज के निर्माण में राज्य की भूमिका पर भी विचार किया।

गांधी और नेहरू दोनों ने गरीबी समाप्त करने को ध्यान में रखकर कार्य किए। लेकिन गांधी ने गरीबी की समाप्ति कृषि तथा गांवों में कुटीर उद्योगों के विकास द्वारा करना चाहा जबकि नेहरू देश के औद्योगीकरण के माध्यम से इसे दूर करना चाहते थे।

भारी उद्योग तथा आधारभूत उद्योगों का विकास

प्रधानमंत्री बनने के बाद नेहरू ने देश में रक्षा और औद्योगीकरण के लिए कृषि के महत्त्व को स्वीकार किया। नेहरू चाहते थे कि योजनाबद्ध तरीके से भारी उद्योगों और ग्रामीण उद्योग तथा कुटीर उद्योगों के संतुलित विकास का प्रयास किया जाए। उनका मानना था कि भारत में देश की संपूर्ण संगठित उद्योगों की अपेक्षा ग्रामीण एवं कुटीर उद्योगों में अधिक लोग काम करते हैं। कोई भी लोकतंत्रात्मक प्रणाली वाला देश इन लोगों की उपेक्षा नहीं कर सकता। अत: औद्योगीकरण के प्रश्न पर दोनों के बीच खाई कम हो गयी क्योंकि दोनों ही प्रकार के उद्योगों की आवश्यकता महसूस की गयी।

रवीन्द्र नाथ टैगोर

टैगोर युग-द्रष्टा एवं युग-पुरुष थे। वे भारत के ही नहीं, प्रत्युत् विश्व के प्रतिभाशाली व्यक्ति थे। रवीन्द्र नाथ टैगोर ने विश्व में भारत के मस्तक को ऊँचा स्थान दिलाया। उनका व्यक्तित्व विराट था-वे एक साथ ही कवि, नाटककार, कथाकार, उपन्यासकार, दार्शनिक, शिक्षाविद् और महान मानवतावादी थे।

महात्मा गाँधी ने रवीन्द्र नाथ टैगोर को 'महान संस्कृति रक्षक' कहा था। टैगार सार्वभौमिक, विचारशील तथा पूर्ण व्यक्ति थे। उनकी विचारधारा ने विश्व को अनुप्राणित किया और अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में उनका योगदान अविस्मरणीय है। आदर के साथ उन्हें 'गुरुदेव' के नाम से पुकारा जाता था। वे जन्मना और कर्मणा महान विभूति थे। स्वस्थ-निर्मल काया, उच्च ललाट, ऋषियों की भाँति अविरल और सुदीर्घ दाढ़ियाँ उनके व्यक्तित्व में निखार लाती थीं। वे आध्यात्मिक अनुभव के गहरे ज्ञान से मंडित थे और उनके व्यक्तित्व निर्माण पर वंशानुगत एवं तत्कालीन दशाओं के प्रभाव पड़े थे। टैगोर उच्च एवं कुलीन पारिवारिक परिवेश में पले-बढ़े थे। उनके पिता श्री देवेन्द्र नाथ अपनी धर्मनिष्ठा एवं विद्वता के लिये महर्षि रूप में प्रसिद्ध थे। रवीन्द्र नाथ के बौद्धिक चिन्तन पर उनका गहरा प्रभाव पड़ा। इसके अतिरिक्त प्राचीन पूर्वजों के गौरव एवं कलात्मकता, साथ ही आर्थिक सुरक्षा भी उन्हें प्राप्त थी।

प्राचीन व्यवस्था के उत्तरायण एवं नवीन व्यवस्था के आगमन की संध्या बेला में इस महापुरुष का अवतार हुआ था। उस समय बंगाल में नयी चेतना परिवर्तन के हिलोरें ले रही थी। राजाराम मोहन राय का धार्मिक सुधार आन्दोलन जनसामान्य को प्रोत्साहित कर रहा था। इस धार्मिक पुनर्जागरण का प्रभाव रवीन्द्र नाथ टैगार पर पड़े बिना नहीं रहा। उधर बंकिम चन्द्र चटर्जी के नेतृत्व में साहित्यिक आन्दोलन चल रहा था और सुरेन्द्र नाथ बनर्जी भारतीय राजनीति में योगदान दे रहे थे। फलत: रवीन्द्र नाथ टैगोर धार्मिक, राजनीतिक

एवं साहित्यिक गतिविधियों से एक साथ प्रभावित हुए।

रवीन्द्र नाथ टैगोर ने उपनिषदों का विशद् अध्ययन किया। बुद्ध के शान्ति, दया, सत्य सिद्धान्तों का भी उन्होंने मनन किया। वैष्णव दर्शन का भी टैगोर पर प्रभाव पड़ा। तात्पर्य यह है कि वे पूर्वजों की विचाधारा से पर्याप्त प्रभावित हुए।

7 मई, 1861 को कलकत्ता में पवित्र गंगा तट पर बसे उनके पैतृक घर जोरास्की में, रवीन्द्र नाथ टैगोर का जन्म हुआ था। उनके पूर्वज 17 वीं शताब्दी के अन्त में खुलना (बंगलादेश) से आकर यहाँ बस गए थे। यहाँ के निवासियों ने इस ब्राह्मण परिवार को ठाकुर कहना शुरू कर दिया और टैगोर नाम यूरोपियनों द्वारा 'ठाकुर' का अपभ्रंश करके दिया गया। इनके दादा द्वारिका नाथ एक बड़े व्यापारी थे। 8 वर्ष की अवस्था में ही उन्होंने कविता लिखना प्रारम्भ कर दिया। 11 वर्ष की अवस्था में वे पिता देवेन्द्रनाथ के साथ हिमालय की यात्रा पर गए। रास्ते में शान्ति निकेतन में उनका पड़ाव पड़ा। इस स्थान की प्राकृतिक सुषमा ने उन्हें बहुत प्रभावित किया। पिता ने उन्हें संस्कृत, खगोलशास्त्र एवं अंग्रेजी तथा उपनिषदों एवं रामायण की शिक्षा दी।

रवीन्द्र नाथ टैगोर की प्रारम्भिक शिक्षा घर पर हुई किन्तु विद्यालयीय शिक्षा में उनका मन न लगा। घर पर ही संस्कृत, व्याकरण, बांग्ला, अंग्रेजी, गणित, इतिहास, भूगोल, शरीर विज्ञान एवं संगीत की शिक्षा उन्हें सुयोग्य शिक्षकों द्वारा दी गयी।

अपने बड़े भाई सत्येन्द्र नाथ ठाकुर, जो कि भारतीय सिविल सेवा के प्रथम भारतीय सदस्य थे, के साथ वे 20 सितम्बर, 1878 को इंग्लैण्ड गए। इसके पूर्व उनका काव्य संग्रह 'कवि कोहिनी' प्रकाशित हो चुका था। इंग्लैण्ड में भी उनका मन न लगा और 1880 में वे भारत लौट आये। दिसम्बर, 1883 में उनका पाणिग्रहण संस्कार भवतारिणी देवी से हुआ और इसके बाद बड़ी कुशलता से वे जमींदारी के प्रबन्ध में लग गए।

टैगोर ने 1859 में बंगाल प्रादेशिक सम्मेलन के अधिवेशन में उपस्थित होकर बंगाल को राजनीतिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से विभक्त करने की साम्राज्यवादी कुटिल नीति की तीव्र भर्त्सना की। 1905 के बंगभंग के अनन्तर रवीन्द्र नाथ टैगोर राष्ट्रीय आन्दोलन में काफी सक्रिय हुए और आन्दोलन में हिंसा के प्रवेश से निराश होकर वे शान्ति निकेतन चले गए और सक्रिय राजनीति से संन्यास ले लिया।

शान्ति निकेतन के सुशान्त परिवेश में रवीन्द्र नाथ टैगोर ने प्राचीन शिक्षा प्रणाली की शुरूआत की। वास्तव में वे अपनी सन्तानों (टैगोर की पाँच सन्तानें थीं) को स्कूली शिक्षा नहीं देना चाहते थे, अतः उपनिषदों एवं वेदों में वर्णित शिक्षा प्रणाली के आधार पर 22 दिसम्बर, 1901 को शांति निकेतन में एक आश्रम की व्यवस्था की। शिष्यों के रूप में उनकी सन्तानें इसमें भरती हुई। आश्रम की शिक्षा का मुख्य उद्देश्य था- सम्पूर्ण विश्व को एकता के सूत्र में बाँधने की विचारधारा का विकास।

मई, 1912 में टैगोर यूरोप गए। इसी समय गीतांजलि का अंग्रेजी संस्करण प्रकाशित हुआ, जिसकी साहित्यिक समाज में धूम मच गयी। यह काव्य संग्रह टैगोर के बौद्धिक विकास एवं आध्यात्मिकता का मानदण्ड था। मूलतः यह बंगाली में लिखा गया था। डब्ल्यू०बी० कीट्स ने इस रचना को सर्वोच्च सांस्कृतिक कार्य माना था। 1913 में गीतांजलि के लिए उन्हें नोबेल पुरस्कार मिला।

जून, 1915 में टैगोर को ब्रिटिश सरकार ने 'सर' की उपाधि दी और कई विश्वविद्यालयों ने 'डी०लिट्० की उपाधि से उन्हें सम्मानित किया। 1918 में रौलट एक्ट के विरुद्ध सरकार ने दमनात्मक रवैया अपनाया था इसे निंदनीय बताते हुए उन्होंने अपनी 'सर' की उपाधि का परित्याग कर दिया और लिखा कि सरकार ने जो पाशविक दमन चक्र चलाया है उसका उदाहरण सभ्य शासन के इतिहास में कहीं नहीं मिलता।

22 दिसम्बर, सन् 1918 को रवीन्द्र नाथ टैगोर ने 'विश्व भारती' की स्थापना की जिसमें जुलाई 1919 से शिक्षण कार्य प्रारम्भ हो गया। यह सभ्यता और संस्कृति का पाठ पढ़ाने का केन्द्र है।

1920 में टैगोर पुनः विदेश गए। उन्होंने यूरोपीय महाद्वीप के अनेक देशों में यात्राएं करके अपने विचारों पर प्रकाश डाला। उनका मानना था कि यूरोप जहाँ उसका झुकाव समस्त मानवता की ओर है अपने परिवेश में सर्वश्रेष्ठ है, परन्तु जहाँ उसका झुकाव अपनी संकीर्ण प्रवृत्ति के कारण अपने हितों की ओर हो जाता है, तथा वह अपनी शक्ति का प्रयोग मानवता विरोधी लक्ष्यों के लिये करने लगता है, वहाँ यूरोप एक सबसे बड़ी बुराई है।

DISCOVERY

टैगोर का मंतव्य था कि पूर्व की चेतना अभी जीवन्त है, पश्चिम के लोगों को उससे सीखना चाहिए। उनका यह भी कहना था कि पश्चिम के अनुभवों से पूर्व को लाभान्वित होना चाहिए। इस प्रकार सार्वभौमवाद एवं मानवतावाद की धारणा के वे प्रचारक थे।

विश्व युद्ध से वे काफी क्षुब्ध हुए थे। अस्सी वर्ष की आयु में 7 अगस्त, 1947 को महायोगी, भारत का महान सपूत, जो अर्द्धशताब्दी से भी अधिक समय तक सम्पूर्ण विश्व को अपने विचार-आलोक से आलोकित करता रहा, इस नश्वर संसार को अलविदा कह गया।

समकालीन राजनीतिक परिवेश

1898 में तिलक पर लगे राजद्रोह को टैगोर ने ब्रिटिश सरकार का अन्यायपूर्ण व्यवहार कहा था और 1905 में सक्रिय राजनीति में कूद पड़े थे। 1908 में बंगाल प्रान्तीय सम्मेलन में उन्होंने हिन्दू-मुस्लिम एकता के पक्ष में विचार अभिव्यक्त किए और 1919 की जलियांवाला बाग हत्याकाण्ड की तीव्र भर्त्सना करते हुए इसे डायर का शरारतपूर्ण एवं बेहूदा कदम बताया था। उन्होंने ब्रिटिश वायसराय को पत्र लिखा कि, "मैं अपनी ओर से ऐसे समस्त भेद-भावों की भर्त्सना करता हूँ जिनकी वजह से मेरे देशवासियों को ऐसे अपमान को सहन करने के लिए बाध्य होना पड़ा रहा है जो कि मानव जाति के सम्बन्ध में उपयुक्त नहीं है।"

टैगोर गाँधीजी से बहुत प्रभावित थे। उन्होंने लिखा है कि, "यह भारत की एकता तथा सामाजिक एकता की सुरक्षा के लिए मूल्यवान बलिदानी जीवन था।" टैगोर मानवतावादी आत्मचिन्तन में विश्वास करते थे। उनका तर्क था कि आत्मविश्वास को खो देना मानसिक दुर्बलता का चिन्ह है। उनका कहना था, "अपनी गलतियों से उन्नति की प्रेरणा प्राप्त करो, परीक्षणों से खोज करो तथा अपने प्रयत्न से सत्य को प्राप्त करो"।

टैगोर का मानवतावाद

रवीन्द्र नाथ ठाकुर विश्व कवि थे। उनका मानवतावाद व्यापक था। अपनी कृतियों में पीड़ित मानवता के प्रति उन्होंने संवेदना व्यक्त की है। उन्होंने संकीर्णता का विरोध किया। जगन्नाथ प्रसाद मिश्र के शब्दों में "उनके साहित्य में सर्व मानवीय भावनाओं की प्रधानता है। मनुष्य को जाति, देश, सम्प्रदाय से परे विशुद्ध मानव मात्र के रूप में देखने की सहजात शक्ति को लेकर मानो वे जन्मे थे।' उनकी रचनाओं में, उनके कर्म प्रधान जीवन की साधना में हमें मनुष्य के प्रति और विश्व मानव के प्रति जो प्रेम देखने को मिलता है। वह अन्य किसी लेखक या साहित्यिक रचना में नहीं मिलता है।"

रवीन्द्र नाथ टैगोर मनुष्य को परमात्मा की सर्वश्रेष्ठ कृति मानते थे। उन्होंने कलकत्ता विश्वविद्यालय में एक व्याख्यान माला के अन्तर्गत कहा था- "मनुष्य का दायित्व महामानव का दायित्व है। जिसकी कहीं सीमा नहीं है। जन्तुओं का वास भूमण्डल पर है। मनुष्य का वास वहाँ है जिसे वह देश कहता है। और यह देश केवल भौमिक नहीं है अपितु मानसिक है। मनुष्य-मनुष्य के मिलन से यह देश बनता है। यह मिलन ज्ञान एवं कर्म में है।"

टैगोर मानव सम्मान और मानव अन्त: करण की पवित्रता की उपेक्षा नहीं देख सकते थे। उनका कहना था कि जो व्यक्ति समाज के प्रति अपने कर्तव्य तथा दायित्व की अवहेलना करके शुद्ध जीवन का पूर्णत्व प्राप्त करना चाहता है वह सामाजिक साहचर्य व एकता के आदर्शों के साथ विश्वासघात करता है। उनकी महान आत्मा पड़ोसियों के कष्टों से कराह उठती थी। उन्हें इस बात का बहुत दु:ख था कि मनुष्य अपने स्वार्थ के लिये औरों का शोषण करता है।

टैगोर का राजनीतिक दर्शन

गुरुदेव रवीन्द्र नाथ टैगोर न तो राजनीतिज्ञ थे और न ही राजनीतिक दार्शनिक। वे एक देशभक्त और मानवता के प्रेमी थे। उन्हें पराधीनता से कष्ट था। चूँकि वे व्यक्ति के गौरव को विशेष महत्त्व देते थे, अत: आत्मनिर्भरता एवं स्वावलम्बन का संदेश उन्होंने दिया।

टैगोर का राष्ट्रवाद एवं देशभक्ति

एक कवि के रूप में उन्होंने समाज के सुख-दु:ख, आशा-आकांक्षा को अपनी अनुभूति द्वारा समझा और उन पर चिन्तन किया। इस चिन्तन के फलस्वरूप उनमें देशत्वबोध तथा राष्ट्र चेतना का उन्मेष हुआ। इसलिए तत्कालीन राजनीतिक नेताओं की राजनीति उन्हें सारशून्य लगी क्योंकि उस राजनीति का समाज-जीवन के साथ वास्तविक रूप से कोई सम्बन्ध नहीं था।

रवीन्द्र नाथ टैगोर शुद्धत: राष्ट्रवादी थे किन्तु उनका राष्ट्रवाद संकीर्ण नहीं था और न राष्ट्र का उग्रवाद ही उन्हें स्वीकृत था। उन्हें इस बात से बेहद दु:ख होता था कि यूरोप के विभिन्न राष्ट्रों द्वारा एशिया और अफ्रीका के लोगों को गुलाम बना दिया गया है। राष्ट्र एवं राष्ट्रीयता पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने लिखा है कि- राष्ट्र शब्द हमारी भाषा में कहीं नहीं है और न ही इसका अस्तित्व हमारे देश में है। काफी समय से यूरोपियन शिक्षा के प्रभाव से हम लोग राष्ट्रीय उच्चता को महत्त्व देने लगे हैं; लेकिन उसके आदर्श दिलों और दिमाग में नहीं हैं। हमारे इतिहास, हमारे धर्म, हमारे सामाजिक जीवन, हमारे परिवार, किसी ने भी राष्ट्र के महत्त्व को मान्यता नहीं दी। जहाँ यूरोप राजनीतिक स्वतन्त्रता को महत्त्व देता है वहाँ हमलोग आत्मिक स्वतन्त्रता के पुजारी हैं। ऐसी सभ्यता की, जिसकी कि राष्ट्र के सम्प्रदाय में स्पष्ट किया गया है, परख की जानी अभिशेष है, किन्तु स्पष्ट है कि उसके आदर्श प्रतिष्ठा के पात्र नहीं हैं। क्योंकि उनमें अन्याय और असत्य के दोष भरे पड़े हैं। तथा उनमें एक प्रकार की क्रूरता का आभास होता है। हिन्दू सभ्यता का आधार समाज है जबकि यूरोपीय सभ्यता का आधार राज्य है। मनुष्य उच्चता के शिखर पर या तो समाज या राज्य के माध्यम से पहुँच सकता है, पर यदि हम सोचते हैं कि देश के निर्माण के लिये केवल यूरोपीय ढर्रे का ही रास्ता उचित है तो हमारी यह विचारधारा ठीक नहीं है।

टैगोर ने स्वदेशी आन्दोलन के दौरान अपने गीतों के माध्यम से देश प्रेम का आह्वान किया। जलियांवाला बाग हत्याकाण्ड से उन्हें मर्मान्तक पीड़ा हुई और उन्होंने विदेशी सम्मान के पद 'सर' का परित्याग कर दिया। उनका देश प्रेम, उनकी राष्ट्रवादिता उच्च कोटि की थी, जिसमें गांभीर्य था, छिछलापन नहीं। किन्तु उग्र राष्ट्रवाद को वे कतई पसन्द नहीं करते थे। उन्होंने तो यहाँ तक कह दिया था कि राष्ट्रवाद एक बहुत बड़ा उत्पात है।

टैगोर की मान्यता थी कि उग्र राष्ट्रीयता साम्राज्यवाद का पोषण करती है। 'राष्ट्र' की जगह 'लोग' शब्दों का उन्होंने इस्तेमाल किया। लोगों में आत्मशक्ति के उत्थान पर वे बल देते थे। रवीन्द्र नाथ टैगार अखण्ड भारत के समर्थक थे और राष्ट्रीयता को साम्प्रदायिकता के कलंक के बचाना चाहते थे। हिन्दू-मुस्लिम एकता के वे समर्थक थे।

उन्होंने देश भक्ति को राष्ट्रवाद की सर्वोच्च अभिव्यक्ति माना है। टैगोर को अपनी मातृभूमि से प्यार था। उन्होंने कहा ईश्वर, हमें शक्ति देना जिससे हम निर्बलों एवं दलितों का अपमान न कर सकें। हमारा प्यार उस समय, जब हमारे आसपास की वस्तुएं धूल में गिरी हुई हों, आसमान की ऊँचाइयों तक पहुँच सके।

देशभक्ति के जातीय संघर्ष से उन्हें घृणा थी और इसे वे अशिष्टता मानते थे। आशय यह है कि उनकी देशभक्ति भौगोलिक सीमाओं में जकड़ी हुई नहीं थी, अपितु सम्पूर्ण मानवता के साथ इसका तादात्म्य था।

विश्व मानववाद

टैगोर की दृष्टि विश्व एकता की अनुभूति से अनुप्राणित थी। उनका मंतव्य था कि राष्ट्रीयता के कारण विश्व प्रेम विकसित नहीं हो पाता है। उन्होंने 'वसुधैव कुटुम्बकम' का समर्थन किया और भारत तथा विश्व की समस्याओं के समाधान के लिये उन्होंने अन्तर्राष्ट्रीयवाद की धारणा को प्रतिपादित किया।

वे समूचे विश्व को एक राष्ट्र की डोर में बाँधना चाहते थे। उन्होंने कहा कि, 'अब हम यह जानने लगे हैं कि हमारी समस्या विश्व व्यापी है तथा संसार का कोई भी राष्ट्र दूसरों से पृथक् रहकर अपना कल्याण नहीं कर सकता। या तो हम सब सुरक्षित रहेंगे या साथ-साथ ही विनाश के गर्त में आ गिरेंगे।'

वे जाति उच्चता की प्रतिस्पर्धा को समाप्त करके मानव एकता की गरिमा की संस्थापना करना चाहते थे। अन्तर्राष्ट्रीय एकता, विश्व बन्धुत्व और विश्व परिवार की उनकी कल्पना में कभी विरोधाभास नहीं उत्पन्न हुआ। उपनिषदों के इस वाक्य-'सर्वे भवन्तु सुखिन:' का वे बहुत सम्मान करते थे। इसी के आधार पर उन्होंने सार्वभौमवाद का संदेश दिया।

प्रजातांत्रिक व्यवस्था

टैगोर प्रजातन्त्र के प्रबल पक्षधर थे और राजनीतिक प्रभुसत्ता में जनता की भागीदारी के हिमायती थे। उनकी मान्यता थी कि सच्चा प्रजातन्त्र केवल उसी स्थिति में सम्भव है जबकि राजनीति, नैतिकता पर आधारित हो और सरकार स्वार्थी नेताओं के चंगुल से मुक्त हो। उनका विचार था कि प्रत्येक व्यक्ति का दायित्व है कि वह अपनी सेवाएं सामाजिक हित में अर्पित करे। उनका कहना था कि प्रत्येक

व्यक्ति का दायित्व है कि कोई भी व्यक्ति राष्ट्र के प्रति सेवा के महान दायित्व को, जो ईश्वरीय देन है, छीन नहीं सकता है।

मानव अधिकार

टैगोर प्राकृतिक अधिकारों के समर्थक थे और व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारों में राज्य के हस्तक्षेप को वे अनुचित ठहराते थे। उनका कहना था कि मनुष्य को दूसरे व्यक्तियों के साथ आत्मीय एकता का अनुभव करना चाहिए। इससे अधिकारों का संघर्ष मिट जाता है।

टैगोर का मत था कि कोई भी शासन अन्याय एवं अत्याचार के बल पर नहीं टिक सकता उन्होंने आत्म शक्ति पर विशेष बल दिया। वी०पी० वर्मा ने लिखा है कि, रवीन्द्र नाथ की संवेदनशील आत्मा ने इस स्थिति के विरुद्ध विद्रोह किया और इंग्लैण्ड के वैयक्तिक सम्बन्धों से शून्य शासन के प्रति भारी रोष व्यक्त किया। यही कारण था कि वे भारत की राजनीतिक स्वाधीनता के समर्थक थे। उन्होंने इस बात को बड़ी तीक्ष्णता के साथ व्यक्त किया कि राजनीतिक स्वाधीनता के अभाव में जनता का नैतिक बल क्षीण हो जाता है और आत्मा संकुचित हो जाती है।

स्वतन्त्रता की अवधारणा

टैगोर की स्वतन्त्रता सम्बन्धी अवधारणा राजनीतिक चिन्तन की अमूल्य देन कही जाती है। सम्पूर्ण मानव समाज के लिए वे स्वतन्त्रता को अपरिहार्य मानते थे। किसी व्यक्ति की स्वतन्त्रता छीनने का अर्थ है सम्पूर्ण मानवता के लिये विपत्ति का आह्वान करना। टैगोर ने जिस स्वतन्त्रता का प्रतिपादन किया उसका सम्बन्ध व्यक्ति के अन्त: करण से था अर्थात् 'आत्मा की स्वतन्त्रता' की चर्चा उन्होंने की।

गुरुदेव मानव के प्रकृतिगत विकास के समर्थक थे। इसीलिए आत्मिक स्वतन्त्रता पर उन्होंने बल दिया। उनकी स्वतन्त्रता का प्रयोग व्यापक अर्थों में हुआ है न कि नागरिक स्वतन्त्रता के अर्थों में। प्रथाओं एवं रूढ़ियों से मुक्त होना, मन एवं दृष्टिकोण के संकोच से मुक्ति पाना; उनकी स्वतन्त्रता के मापदण्ड थे। उनके अनुसार सच्ची स्वतन्त्रता के लिए उन्मुक्त मानसिक परिवेश एवं पारस्परिक सहानुभूति एवं संवेदनात्मक भावों का अस्तित्व आवश्यक है।

टैगोर की मान्यता थी कि हमारी आत्मा की स्वतन्त्रता ही यथार्थ प्रगति के मार्ग को प्रशस्त कर सकती है। भारत की पराधीनता से मुक्ति के लिए, उनके अनुसार आवश्यक था कि आत्म शक्ति का संचय हो और अपने को नैतिक धरातल पर स्थापित किया जाए।

उन्हें उदारवादी नेताओं की याचना पद्धति से सख्त नफरत थी, 'हम लोग क्यों सोचते हैं कि हमारी नई शक्तिमान सरकार के साथ हमारा काम संवैधानिक आन्दोलन से चल जाएगा। अत: उन्होंने देशवासियों के भीतर जागृति पैदा की कि स्वराज्य प्राप्ति के लिये आत्म निर्भरता एवं स्वतन्त्रता आवश्यक है।'

उनका कहना था कि यदि हम राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त करने में सफल नहीं हो पाते हैं तो हमें राजनीतिक लुटेरों से जो हमारी महान स्वतन्त्रता (आत्मा की स्वतन्त्रता) के मार्ग में बाधा उत्पन्न करते हैं, सहयोग नहीं करना चाहिए।

आर्थिक दृष्टिकोण

समाज की मूलभूत आवश्यकताओं में अर्थ प्रधान आवश्यकता है। टैगोर ने समकालीन आर्थिक प्रणाली को शोषण का पोषक बताया था। उनका तर्क था कि यह प्रणाली शक्तिशाली वर्ग द्वारा कमजोर वर्ग का शोषण करती है। अत: यह व्यवस्था व्यक्ति के समष्टिगत विकास में सहायक नहीं है।

उनकी मान्यता थी कि समाज के अधिकांश लोग जो आर्थिक रूप से कमजोर हैं, उनकी उपेक्षा करके कोई भी सभ्यता बलवती नहीं हो सकती है। किन्तु टैगोर को यह बात बिल्कुल अमान्य थी कि मानव जाति का एकमात्र लक्ष्य आर्थिक विकास ही है। उनके अनुसार 'किसी राष्ट्र का आर्थिक जीवन एक पृथक् तथ्य नहीं हो सकती है, तथा आधुनिक समाज में आर्थिक दरिद्रता के साथ-साथ सांस्कृतिक दरिद्रता भी विकसित हो रही है।'

भूखे व्यक्ति के लिए उनके हृदय में पीड़ा थी, नंगे एवं निराश्रित व्यक्ति के लिये वे चिन्तित थे। किसानों के आर्थिक जीवन में सहकारी प्रणाली के वे समर्थक थे। उन्होंने नोबेल पुरस्कार से प्राप्त अधिकांश धन को असहाय एवं जनता में बाँट दिया था।

DISCOVERY

सामाजिक दर्शन

टैगोर का सामाजिक दर्शन उनके सुसंस्कृत परिवार, उपनिषद् की शिक्षाओं एवं राजाराम मोहन राय के विचारों से प्रभावित था। साथ ही पाश्चात्य लेखकों एवं कवियों की कृतियों का भी उस पर प्रभाव है। वे एक ऐसे समाज के पक्षधर थे जिसमें व्यक्तियों को सृजनात्मक एवं सहकारी कार्यों द्वारा आत्माभिव्यक्ति का पूर्ण अवसर प्राप्त होता है। टैगोर का विचार था कि सभ्य एवं सुसंस्कृत समाज में असमानताएं नहीं होनी चाहिए और सभी व्यक्तियों को अपनी आजीविका के लिये धनोपार्जन करना चाहिए।

उनके मतानुसार मनुष्य के सामाजिक हितों में प्रेम एवं सहानुभूति का विशेष महत्त्व है। मानव समाज के विकास में सहानुभूति का अपूर्व योगदान है और प्रेम सामाजिक प्राणी का सर्वोत्तम गुण।

टैगोर एक ऐसे समाज की रचना करना चाहते थे जो समन्वय के आधार पर संगठित हो। वे नगरों के विकास के साथ-साथ ग्रामोत्थान के भी समर्थक थे। उनके अनुसार गाँवों की उपेक्षा करके देश उन्नति नहीं कर सकता है। उनका मत था कि- यदि मैं एक-दो गाँव को दुर्बलता के बन्धन से मुक्त कर सका तो एक छोटे स्तर पर सारे भारत के लिये एक आदर्श का निर्माण होगा। मेरा उद्देश्य है- इन थोड़े से ग्रामों को पूर्ण स्वतन्त्रता देना। इस आदर्श को थोड़े से ही ग्रामों में कार्यान्वित कीजिए तो भी मैं कहूँगा कि ये थोड़े से गाँव ही मेरा भारतवर्ष है। जब ऐसा होगा तभी हिन्दुस्तान वास्तव में हमारा होगा।

भारत में व्याप्त अज्ञान, सामाजिक पतन एवं राजनीतिक पराधीनता से उन्हें बहुत कष्ट था। इसके लिये वे सृजनात्मक कार्यों पर बल देते थे। वर्तमान सामाजिक व्यवस्था को टैगोर दोषपूर्ण मानते थे। सामाजिक निर्माण-कार्य जनसमुदाय के मध्य किया जाना चाहिए, ऐसा टैगोर का विचार था। वे चाहते थे कि समाज का प्रत्येक व्यक्ति सुख-सुविधाओं से लाभान्वित हो सके। सामाजिक व्यवस्था को नैतिकता पर आधारित होना चाहिए।

शिक्षा सम्बन्धी विचार

उनके अनुसार शिक्षा का सम्पर्क हमारे सम्पूर्ण जीवन आर्थिक, बौद्धिक, सौंदर्यात्मक, सामाजिक एवं आध्यात्मिक जीवन में होना चाहिए। तत्कालीन शिक्षा प्रणाली के वे पक्षधर नहीं थे। विद्या के आलोक से वे विशिष्ट रूप से आलोकित हुए। वे शिक्षा के माध्यम से आत्मनिर्भर एवं आध्यात्मिक रूप से सुव्यवस्थित व्यक्तित्व का निर्माण करना चाहते थे। वे शिक्षा के द्वारा अविद्या को समाप्त करना चाहते थे। शिक्षा को टैगोर ने साधना माना है और इसे अविद्या से मुक्त रखने की बात कही है।

शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जो आम आदमी के कल्याण से जुड़ी हो और समाज की उन्नति की आधारशिला हो। वे नहीं चाहते थे कि शिक्षा में राजनीति का प्रवेश हो। उनका मन्तव्य था कि व्यक्ति की सच्ची मुक्ति अविद्या से मुक्ति है। शिक्षा एक व्यक्ति को सुसंस्कृत नागरिक बनाती है और उसमें राष्ट्रीय उत्तरदायित्व की भावना जागृत करती है। वर्तमान स्कूली शिक्षा उच्च लक्ष्य की प्राप्ति के लिये अनुपयुक्त है; ऐसी उनकी मान्यता थी। यह प्रणाली सुनागरिक तैयार करने में असमर्थ है उनके मन में धन के प्रति मोह है। "हमें इस संसार में सत्य या श्रेष्ठ को ग्रहण करने का ईश्वर प्रदत्त वरदान प्राप्त है, परन्तु ऐसी श्रेष्ठतापूर्ण गतिविधि, एक ऐसी शक्ति के सन्दर्भ में उनका विचार है कि विद्यालय में हमें किसी संग्रहालय की निर्जीव मूर्तियों की तरह बैठना होता है तथा हमें पढ़ाये जाने वाले पाठ ऐसे प्रतीत होते हैं; मानो कि फूलों पर ओले गिर रहे हों"। उन्होंने शान्ति निकेतन में विद्यालय की प्राकृतिक एवं खुले परिवेश में शिक्षा को महत्त्व दिया। टैगोर का विचार था कि वर्तमान स्कूली शिक्षा बच्चों को ऐसे विश्व से, जो ईश्वर के रहस्य से परिपूर्ण है, हठात् दूर करती है।

शिक्षा के माध्यम के सन्दर्भ में उनका विचार था कि विचारों के आदान-प्रदान की ऐसी पद्धति होनी चाहिए, जिसमें बच्चों को अधिक प्रयास करने की आवश्यकता न हो, साथ ही संप्रेषण को शिक्षार्थी ग्रहण कर सकें और इस कार्य को मातृभाषा आसानी से कर सकती है। टैगोर अंग्रेजी को इसका विकल्प नहीं मानते थे। अंग्रेजी शिक्षा को वे अनुचित एवं अपर्याप्त मानते थे। उनका कहना था कि मातृभाषा से सम्प्रेषणीयता की शक्ति अधिक होती है।

पाठ्य पुस्तक के संदर्भ में उनका मत था कि पुस्तकें सामाजिक संरचना के अनुकूल होनी चाहिए। बच्चों को पढ़ाये जाने वाले साहित्य में सामाजिक मूल्यों, नैतिक मानदण्डों का समावेश आवश्यक है और आधुनिक शिक्षा व्यवस्था इस उद्देश्य की पूर्ति नहीं कर पाती है।

DISCOVERY

विश्वविद्यालयीय शिक्षा को वे दोषपूर्ण एवं प्रयोजन में असफल मानते थे। उनका विचार था कि विद्यार्थियों को भारतीय इतिहास, दर्शन, साहित्य एवं धर्म की शिक्षा दी जानी चाहिए और भारतीयता का विशेष रूप से संपोषण होना चाहिए। उनका कहना था कि सच्ची शिक्षा राष्ट्रीय जीवन का मार्ग प्रशस्त करती है और हमें चेतना प्रदान करती है। शिक्षा संस्कृति, ललित कला एवं आर्थिक विकास से संदर्भित होनी चाहिए। उनका कहना था कि अब समय आ गया है कि हम अपने पूर्वजों का ताला खोलें और अपने जीवन को समृद्धि के लिये प्रयुक्त करें। वे पश्चिम के अंधानुकरण के विरुद्ध थे, पूर्वी सभ्यता का सम्बन्ध उन्होंने यहाँ के निवासियों की अस्थि-मज्जा से बताया।

ललित कला को वे सभ्यता का अंग मानते थे। संगीत को राष्ट्रीय अभिव्यक्ति का सर्वोच्च अंग उन्होंने माना है। शिक्षा का आधार आर्थिक होना चाहिए। अर्थात् शिक्षा जीवन का एक हिस्सा है। वे चाहते थे कि आर्थिक जीवन से घनिष्ट सम्बन्ध रखना चाहिए। शैक्षिक संस्थाओं का अस्तित्व सहकारिता के सिद्धान्त पर संचालित होना चाहिए।

पश्चिम एवं पूर्व का समन्वय

गुरुदेव रवीन्द्र नाथ टैगोर मानवतावाद के पुरोधा एवं प्रवक्ता थे। वे पूर्व तथा पश्चिम का संगम चाहते थे। 1921 में उनके द्वारा विश्व भारती की स्थापना का यही प्रयोजन था। उन्होंने कहा था कि इसका प्रयोजन पूर्व तथा पाश्चात्य के संगम के अध्ययन के संयुक्त समागम में सत्य की अनुभूति करना तथा दो गोलार्द्धों के मध्य विचारों के स्वतन्त्र आदान-प्रदान के द्वारा विश्व शान्ति की मूल संभावनाओं को सशक्त करना है।

रवीन्द्र नाथ ने बार-बार भारतीय सभ्यता की आंतरिक शक्ति, आध्यात्मिकता की बात कही है और मनुष्य की भौतिक तथा आध्यात्मिक प्रकृति के तादात्म्य का उल्लेख किया है। वे एकता के समर्थक थे और उनका मत था कि सृजन मूल्यवान होना चाहिए। विश्व के सारे सुकृत्य मानवता की धरोहर हैं। उनका विचार था कि पूर्व को पश्चिम की वैज्ञानिक पद्धति को ग्रहण करना चाहिए और पश्चिम को पूर्व की एकता से सीखना चाहिए।

धार्मिक दृष्टिकोण

आध्यात्मिकता उन्हें विरासत में मिली थी। परन्तु रवीन्द्र नाथ टैगोर बाह्याडम्बर के विरोधी थे। वे कर्मकाण्ड एवं दिखावों में विश्वास नहीं रखते थे। धर्म के सम्बन्ध में उनकी राय थी, ''हमारा धर्म केवल सैद्धान्तिक धर्म मात्र नहीं है, न ही वह राजनीति से परित्यक्त है, एवम् न ही वह दैनिक व्यवहारों और क्रियाकलापों से ही युक्त है। यह स्वयं को समाज के किसी विशिष्ट भाग के दायरे में सीमित नहीं करता है और न ही काव्य तथा साहित्य, विज्ञान तथा कला आदि मनोरंजन तथा मनोविनोद के अतिक्रमण को रोकने के लिये किसी भी प्रकार की सीमाएँ आदि आरोपित करता है। इस विश्व में, जीवन में धर्म को पूर्णरूप से समाविष्ट करने के लिये ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ आदि विभिन्न अवस्थाएं हैं। धर्म केवल हमारी आंशिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये ही नहीं है, बल्कि सम्पूर्ण विश्व इसके परिपूर्ण किए जाने के लिये अस्तित्व में है।

टैगोर कर्म में आस्था रखते थे। त्याग को पलायन मानते थे और संन्यास को वैराग्य की शक्ति का अपमान। उनके धार्मिक चिन्तन में मोक्ष जैसी प्रकल्पना नहीं थी। टैगोर ने लिखा है कि इस भजन, गायन तथा घण्टे आदि के बजाने को छोड़ो । आप बन्द मन्दिर के गहरे अंधेरे कोने के इस एकान्त में किसकी पूजा करते हो। आंखों पर हल्का आवरण हटाकर देखिए कि क्या ईश्वर तुम्हारे सामने नहीं है।

टैगोर की मान्यता थी कि ईश्वर पृथ्वी पर कठोर कर्म करने वाले, पत्थर तोड़ने वाले श्रमिकों के हृदय में वास करता है। मोक्ष के सन्दर्भ में उनकी मान्यता थी कि मोक्ष जैसी कोई वस्तु नहीं है। क्योंकि ईश्वर ने हमारा सृजन किया है और वह सदैव हमारे साथ आबद्ध है। प्रकृति एवं विश्व के प्रत्येक तत्व में उन्हें परमात्मा की अनुभूति होती थी। प्रेम को ही वे सर्वश्रेष्ठ धर्म मानते थे। उनका मत था कि धर्म की कोई भौगोलिक सीमा नहीं है।

स्वामी विवेकानन्द

विवेकानंद भारत के आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के प्रखर चिंतक थे। सुभाष चन्द्र बोस ने उन्हें भारतीय राष्ट्रवाद के आध्यात्मिक पिता की संज्ञा दी है।

उनके बचपन का नाम नरेंद्र नाथ था। वे रामकृष्ण परमहंस के शिष्य थे एवं उनके विचारों से गहरे रूप में प्रभावित थे। विवेकानंद ने अपनी समस्त विचारशक्ति को अपने गुरु की विचारधारा से उत्पन्न माना।

नव वेदांतवाद के प्रवर्तक

विवेकानंद नव वेदांतवाद के प्रणेता थे। भारत में उपनिषदों की दार्शनिक परंपरा को शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य आदि ने और भी आगे बढ़ाया। पर 14वीं 15वीं शताब्दी के बाद भारत में दार्शनिक चिंतन एवं विकास की परंपरा रुक सी गई। विवेकानंद ने शंकर एवं रामानुज के दार्शनिक विचार पद्धति का पुनरावलोकन किया एवं नव वेदांतवाद का प्रतिपादन किया। उन्होंने उपनिषद् के धार्मिक संदेशों एवं तात्विक विश्लेषणों को समकालीन भारतीय समाज की आवश्यकताओं के अनुसार जोड़ने का प्रयास किया।

विवेकानंद सगुण भक्ति में विश्वास रखते थे। वे काली के उपासक थे और अक्सर अपने गुरु के साथ कलकत्ता के दक्षिणेश्वर मंदिर में जाए करते थे। राज योग नामक ग्रंथ में उन्होंने यौगिक क्रियाओं द्वारा ईश्वर की प्राप्ति का उल्लेख किया है। प्रेम योग में उन्होंने प्रेम को व्यापक मानवीय गुण के रूप में स्वीकार किया एवं इसे भी ईश्वर प्राप्ति का एक मार्ग बताया। ज्ञान योग में उन्होंने निर्गुण, निराकार ब्रह्म के प्रति भक्ति का प्रतिपादन किया। इस प्रकार विवेकानंद ने अलग-अलग भक्ति पद्धति को स्वीकार कर उनके बीच समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया। विवेकानंद की यह कोशिश धार्मिक क्षेत्र में उनकी सबसे बड़ी उपलब्धि है।

शिकागो धर्म सम्मेलन

विवेकानंद ने शिकागो विश्वधर्म सम्मेलन में भारत का प्रतिनिधित्व किया। इस सम्मेलन में उन्होंने वैदिक धर्म-की महत्ता पर प्रकाश डाला। इससे भारतीय धर्म का गौरव बढ़ा। साथ ही भारत का आध्यात्मिक दर्शन पश्चिम के उपभोक्तावादी दर्शन के संपर्क में आया। अनेक पाश्चात्य विद्वानों की रुचि भारतीय दर्शन में बढ़ी एवं उनके द्वारा भारतीय दर्शन पर विविध संधान कार्य किए गए। इस प्रकार उन्होंने भारतीय एवं पाश्चात्य दर्शन के बीच सेतु संबंध का कार्य किया।

सामाजिक चिंतन

पर उनका सबसे अधिक जोर सामाजिक क्रिया पर था। उन्होंने कहा कि वास्तविक दुनिया में ज्ञान यदि कर्म से हीन है तो वह व्यर्थ है। अपने गुरु की तरह उन्होंने भी सभी धर्मों की बुनियादी एकता की घोषणा की तथा धार्मिक बातों में संकुचित दृष्टिकोण की निंदा की। 1898 में उन्होंने लिखा कि हमारी अपनी मातृभूमि के लिए दो महान धर्मों-हिंदुत्व तथा इस्लाम का संयोग ही एकमात्र आशा है।

उन्होंने भारतीयों की आलोचना की कि बाकी दुनिया से कटकर वे जड़ और मृतप्राय हो गए हैं। उनका मानना था कि दुनिया के अन्य राष्ट्रों से हमारा अलगाव ही हमारे पतन का कारण है और शेष दुनिया की धारा में समा जाना ही इसका एकमात्र समाधान है, गति जीवन का चिह्न है।

विवेकानंद ने जातिप्रथा की तथा कर्मकांड, पूजा-पाठ और अंधविश्वास पर जोर देने की निंदा की तथा जनता से स्वाधीनता, समानता एवं स्वतंत्र चिंतन की भावना अपनाने का आग्रह किया। विचारों की स्वतंत्रता के बारे में उन्होंने कहा-विचार और कर्म की स्वतंत्रता जीवन, विकास तथा कल्याण की अकेली शर्त है। जहां यह न हो वहां मनुष्य, जाति तथा राष्ट्र सभी पतन के शिकार होते हैं।

वे एक महान मानवतावादी थे। देश की साधारण जनता की गरीबी, बदहाली और पीड़ा से उन्हें काफी तकलीफ हुई थी। उन्होंने कहा-मैं एक ही ईश्वर को मानता हूँ जो सभी आत्माओं की एक आत्मा है और सबसे ऊपर है। मेरा ईश्वर दुखी मानव है, मेरा ईश्वर पीड़ित मानव है। मेरा ईश्वर हर जाति का निर्धन मनुष्य है।

विवेकानंद ने रामकृष्ण मिशन की स्थापना की। इसने दो महत्त्वपूर्ण कार्य किए- आध्यात्मिक संवेदना का विकास एवं राष्ट्रवादी शिक्षा।

DISCOVERY
Discover your mettle

मिशन ने देशभर में अनेक स्कूल-कॉलेज, अस्पताल, दवाखाने, अनाथालय, पुस्तकालय आदि खोलकर सामाजिक सेवा के कार्य किए।

भीमराव अम्बेडकर

भीमराव अम्बेडकर मनुष्य को मनुष्य की तरह जीने का हक देने के पक्षधर थे। छुआछुत जैसी घिनौनी एवं निकृष्टतम सामाजिक व्यवस्था को वे पशुता की संज्ञा देते थे ऋग्वेद की उन्होंने कठोर शब्दों में आलोचना की। वे असवर्णों को सवर्णों से पृथक् मानते थे। असवर्णों को हिन्दू मानने में भी वे जीवन के अन्तिम दिनों में संकोच करने लगे। इसका अर्थ यह कत्तई नहीं माना जाना चाहिए कि अम्बेडकर किसी जातीय सीमा में बँधे थे। संविधान शिल्पी भीमराव अम्बेडकर ने जिस संविधान की संरचना की थी, उसमें सबके लिये समान अधिकार की बात है। अत: असमानता का बीज बोने के लिये अम्बेडकर को उत्तरदायी मानना एक प्रकार की बौद्धिक बेइमानी होगी। सच्चाई तो यह है कि वे समाज के प्रत्येक व्यक्ति की आजादी के प्रवक्ता थे, साम्प्रदायिक ताकतों के कुट आलोचक भी। 5 फरवरी, 1950 को सदन में अपने विचार व्यक्त करते हुए अम्बेडकर ने कहा, "भारत शताब्दियों के पश्चात् आजाद हुआ है, स्वराज्य की रक्षा करना हमारा कर्तव्य है। भारत में किसी भी प्रकार की फूट हमारा स्वराज्य हमसे छीन लेगी।"

भीमराव अम्बेडकर तमाम विसंगतियों में जीने के बाद भी राष्ट्र को प्रमुख मानते थे, वे प्रत्येक व्यक्ति की आजादी चाहते थे, उन्हें पूर्णतया राष्ट्रवादी माना जा सकता है। अपनी पुस्तक थॉट्स ऑन पाकिस्तान में उन्होंने लिखा है कि मुसलमानों के लिये उनका मजहब सर्वोपरि होने के कारण उन्हें जनतंत्र की कल्पना समझ में नहीं आ सकती। उनकी राजनीति मजहब प्रधान है। अपने प्रतिगामी विचारों के साथ ही वे सारे विश्व में पहचाने जाते हैं। उनका बंधुत्व केवल मुसलमानों तक ही सीमित होता है। हम पहले भारतीय हैं और बाद में हिन्दू अथवा मुसलमान।

अम्बेडकर ने असवर्णों के लिये पृथक् मतदान की व्यवस्था पर जोर दिया था, हालाँकि गाँधीजी ऐसा नहीं चाहते थे, किन्तु अम्बेडकर के पास जातिवाद के कटु अनुभव थे और उन्हें ऐसा लगता था दलितों के उद्धार के लिये संघर्ष ही विकल्प है, हाँ यह बात अवश्य हुई कि दलितों के आर्थिक उद्धार के लिये कोई ठोस कार्यक्रम वे नहीं दे पाये। संभवत: यही वजह है कि संविधान में दलितों को आरक्षण दिलवाकर उन्होंने एक क्रान्तिकारी कार्य तो किया किन्तु उनका कल्याण नहीं हुआ। नि:संदेह यह समाज की मानसिकता का परिणाम हो सकता है, किन्तु इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि आर्थिक समृद्धि के लिये कार्यक्रम का अभाव ही दलितों को उद्धार न करा सका।

प्राय: यह आक्षेप लगाया जाता है कि अम्बेडकर ने संस्कृत ग्रन्थों की आलोचना पूर्वाग्रह ग्रस्त होकर की है। यह आरोप दुराग्रहपूर्ण है क्योंकि संस्कृत ग्रंन्थों से बहुत से तर्क उन्होंने ढूँढ़े, तब ऋग्वेद, मनुस्मृति आलोचना के विषय बने; किन्तु इसमें वेदों का महत्त्व घटाने की उनकी मंशा नहीं थी। 'लाइट ऑफ एशिया' और 'ज्ञान का भंडार' होते हुए भी इनमें कुछ ऐसी आपत्तिजनक बातें अवश्य हैं, जिनका विरोध तर्कसंगत है।

26 जनवरी, 1950 को अम्बेडकर ने भारतीय संविधान को आत्मर्पित करते हुए कहा था कि हम भारत के सभी नागरिकों को सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक न्याय, विचार अभिव्यक्ति, विश्वास और उपासना की स्वतन्त्रता, प्रतिष्ठा एवं अवसर की समानता आदि के अधिकार देने की घोषणा करते हैं। आज से सभी नागरिकों को इन अधिकारों को समान रूप से पाने का अधिकार प्राप्त हो गया।

अम्बेडकर ने सामाजिक व्यवस्था के विविध पक्षों को शास्त्रीय एवं व्यावहारिक दोनों दृष्टियों से देखा था और अपनी अद्भुत विश्लेषण क्षमता से उन्होंने परिस्थितियों की विषमता से संघर्ष करने का संकल्प लेने वालों को प्रेरणा दी। भारतीय समाज के विषमतामूलक तत्वों को जड़ से उखाड़ने के लिये उनके क्रान्तिकारी विचार आज भी प्रासंगिक हैं। आज उनके यथार्थ मूल्यांकन की आवश्यकता है जिसने अपनी साधना से समाज को एक नव्य जीवन दृष्टि दी है।

सामाजिक चिन्तन

अम्बेडकर संघर्ष के प्रतीक थे। जाति रूपी दुर्ग की रचना, जिसकी बुनियाद अन्याय एवं शोषण पर रखी गयी है, उसे ध्वस्त करना वे

जरूरी समझते थे। अम्बेडकर की पीड़ा समाज के निम्न से निम्न एवं कमजोर से कमजोर व्यक्ति को स्वतन्त्रता दिलाने की थी। उन्होंने सामाजिक जीवन के विविध पक्षों का गहन एवं विस्तृत अध्ययन किया था। एक विद्वान का विचार है कि 'अम्बेडकर के अध्ययन का विस्तार तथा उनकी दृष्टि की व्यापकता, विश्लेषण की गहनता व सोच की तार्किकता और कार्य के लिये उनके द्वारा दिये गए मानवीय सुझाव लोगों को बरबस तत्पर व क्रियाशील बना देते थे।''

उनकी मान्यता थी कि शोषण के विरुद्ध श्रमिकों का संगठित होना आवश्यक है, किन्तु श्रमिकों को राजनीतिक रूप से जागरुक करने के पूर्व सामाजिक रूप से जागरुक करना वे ज्यादा जरूरी समझते थे। उनका मानना था कि जाति भावनाओं से आर्थिक विकास रू कता है। इससे वे स्थितियाँ पैदा होती हैं जो कृषि तथा अन्य क्षेत्रों में सामूहिक प्रयत्नों के विरुद्ध हैं। जात-पाँत के रहते हुए ग्रामीण विकास समाजवादी सिद्धान्तों के विरुद्ध रहेगा।

अम्बेडकर ने भारत की आर्थिक समस्याओं एवं व्यवस्थाओं पर विशेष रूप से ध्यान दिया। उनकी विश्लेषण पद्धति तर्कसम्मत एवं वैज्ञानिक थी। हाँ, एक बात अवश्य है कि उनके सामाजिक विश्लेषण में वस्तुपरकता तो है, किन्तु पूर्वाग्रह के साथ है; शायद इसकी वजह यह रही है कि प्राय: वे उन्हीं समस्याओं की ओर ध्यान आकर्षित किए जिससे दलित वर्ग के शोषण का सम्बन्ध है और वे इतिहास के उन पक्षों की उपेक्षा कर बैठे जो भारतीय मानस के मूलभूत चिरन्तन सिद्धान्तों का आभास दिलाते। फलत: उनके विचार अत्यन्त उपयोगी होते हुए भी एकांगी लगते हैं। अम्बेडकर का यह मानना कि वर्ण व्यवस्था मात्र शोषण का परिणाम थी तर्क संगत प्रतीत नहीं होती है। मनु ने जो व्याख्या दी वह पूर्व से चली आ रही रीतियों का संकलन ही है। मनु की कुछ परम्परागत मान्यताएं निश्चय ही तिरस्कार के योग्य हैं किन्तु मनु की ऐतिहासिकता को पूर्णत: अस्वीकार करना युक्ति संगत नहीं होगा। क्योंकि इस विचार से इन्कार नहीं किया जा सकता कि मनु महान विद्वान थे और उन्होंने तद्युगीन सर्वमान्य सिद्धान्तों का निरूपण किया। अत: अतीत को नकारना इतिहास को अवहेलना होगी।

उनके अनुसार संसदीय प्रजातंत्र वैयक्तिक स्वतन्त्रता को तो महत्त्व देता है किन्तु समानता की उपेक्षा करता है। अत: समाजवाद के साथ वैयक्तिक स्वतन्त्रता की प्राप्ति का सबसे अच्छा तरीका संसदीय प्रजातन्त्र को बनाये रखते हुए राज्य समाजवाद को संविधान के कानून में सम्मिलित करना है। उनका मानना था कि यदि लोकतन्त्र लोगों के सामाजिक और आर्थिक जीवन में मौलिक परिवर्तन लाता है और यदि लोग इन परिवर्तनों को बिना खून खराबे के स्वीकार करते हैं तो वह सही अर्थ में लोकतन्त्र है।

अस्पृश्यता

वे मानते थे कि अस्पृश्यता का मूल मृत अतीत के गर्भ में है जिसे कोई नहीं जानता। अस्पृश्यता को अम्बेडकर दास प्रथा से भी बुरा मानते थे। अस्पृश्यता और दास प्रथा में अंतर है, जिससे अस्पृश्यता एक परतन्त्र सामाजिक व्यवस्था की सबसे खराब मिसाल बन जाता है। दास प्रथा कभी बाध्यकारी नहीं थी, किन्तु अस्पृश्यता बाध्यकारी है। कोई व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति को अपने दास के रूप में रख सकता है। उस पर ऐसी कोई बाध्यता नहीं है कि वह नहीं चाहने पर भी रखे, किन्तु अछूत के पास कोई विकल्प नहीं है। एक अछूत के रूप में पैदा होने पर अछूत की सारी अयोग्यताएं उसे मिल जाती हैं। दास प्रथा का कानून छुटकारे की इजाजत देता है। एक बार का गुलाम, हमेशा गुलाम यह गुलाम की नियति नहीं थी। अस्पृश्यता में बच निकलने का कोई रास्ता नहीं। एक बार अछूत हमेशा अछूत।'' इस प्रकार अम्बेडकर दास प्रथा को अस्पृश्यता से सौगुना बेहतर मानते हैं।

उनके अनुसार ''अस्पृश्यता में स्वतन्त्र सामाजिक व्यवस्था की सभी बुराइयां मिलती हैं। स्वतन्त्र सामाजिक व्यवस्था में अस्तित्व का संघर्ष है। जीवित रहने का दायित्व व्यक्ति विशेष पर होता है। यह दायित्व स्वतन्त्र सामाजिक व्यवस्था की सबसे बड़ी बुराई है।''

उनका मानना था कि अस्पृश्यता का समूल विनाश हुए बगैर दलित वर्ग के लोगों का उद्धार सम्भव नहीं है। जाति प्रथा को वे कुछ लोगों का षड्यन्त्र मानते थे, जो कि शोषण वृत्ति रखते थे। सवर्णों ने शूद्रों का सदा शोषण किया यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है। ब्राह्मणों ने भले ही इनका शोषण नहीं किया किन्तु शूद्रों के प्रति उनका व्यवहार घृणात्मक था, बेहद उपेक्षापूर्ण ।

शूद्रों को घृणा की दृष्टि से देखा जाता था, इतिहास इस बात का साक्षी है। पवित्रता की अवधारणा अपरिहार्य रूप से वस्तुओं तक ही सीमित नहीं थी। कतिपय विशेष व्यक्तियों के ऐसे वर्ग भी थे जो पवित्र माने जाते थे। किसी व्यक्ति द्वारा उनका स्पर्श किए जाने

पर उनकी पवित्रता भंग हो जाती थी। आदिम अथवा प्राचीन लोगों में प्रदूषण की धारणा थी। ब्राह्मण अशुचिता से मुक्त थे ऐसी बात नहीं थी। जन्म एवं मृत्यु से होने वाली अशुचिता से वह भी प्रभावित थे और अशुचिता को दूर करने के लिये मनु ने प्रावधान भी बनाए थे।

सवर्ण हिन्दू और अछूत

उनका मानना था कि हिन्दू समाज को नैतिक पुनरुद्धार की आवश्यकता है, जिसे विलम्बित करना खतरनाक होगा। प्रश्न यह है कि इस नैतिक पुनरुद्धार को कौन निर्धारित और नियंत्रित कर सकता है। स्पष्ट रूप से वे लोग जो अपना बौद्धिक पुनरुद्धार कर चुके हैं और वे जो इतने ईमानदार हैं कि बौद्धिक पुनरुद्धार से पैदा हुए विश्वास को दिखाने को साहस जिनके पास है।

अछूतों के प्रति हिन्दुओं द्वार किया जाने वाला भेदभाव निरन्तर अम्बेडकर को सालता रहा। सार्वजनिक सुविधाओं के उपयोग से अपवर्तन तो अत्यन्त उग्र रहा। उनका विचार था कि अछूत चाहे कितना भी सुयोग्य क्यों न हो, उसे घटिया दर्जे के लोगों में सवर्णों ने गिना। जिसके पीछे शायद यह वजह रही कि हिन्दुओं का यह भय रहा है कि अछूत कहीं आगे न बढ़ जाएं और हिन्दुओं की उत्कृष्टता बनाये रखने में खतरा न सिद्ध हो जाए।

अम्बेडकर ने अछूतों एवं हिन्दुओं को सम्बन्ध व्याख्यायित करते हुए कहा है कि हिन्दू समाज में अछूतों के समावेशन के विरुद्ध सुस्पष्ट निषेधाज्ञा है। अछूत हिन्दू समाज के अविभाज्य अंग नहीं हैं और यदि अंग हैं भी तो अंश मात्र हैं किन्तु पूर्ण नहीं। हिन्दुओं तथा अछूतों के बीच संबन्ध दर्शानेवाला विचार रूढ़िवादी हिन्दुओं के नेता आइना पूरे शास्त्री ने बम्बई में आयोजित सम्मेलन में यथार्थ रूप से व्यक्त किया था। उन्होंने कहा था अछूत हिन्दुओं के पैर की जूती हैं। कोई व्यक्ति जूता पहनता हैं, उस अर्थ में वह व्यक्ति से जुड़ा है और व्यक्ति का अंश कहा जा सकता है। लेकिन वह दो बातों के कारण पूर्ण अंश नहीं है क्योंकि जो चीज जोड़ी और हटाई जा सकती है, उसे एक सम्पूर्ण इकाई का अंश नहीं कह सकते हैं। यह उपमा एकदम गलत नहीं है। अम्बेडकर के उपरोक्त विचार इस तर्क के सशक्त समर्थक हैं अम्बेडकर हिन्दुओं का विरोध आवश्यक मानते थे और जो तिरस्कार रूपी जहर उन्होंने पिया था उसी का उद्‌गार उपरोक्त पंक्तियाँ हैं, और यही कारण है कि वे औचित्य-अनौचित्य की परवाह किए बगैर कई अवसरों पर सवर्णों की ऐसी आलोचनाएं की जो विद्वेष को जन्म देती हैं।

हिन्दू सामाजिक व्यवस्था के अन्याय के विरुद्ध लड़ाई अम्बेडकर ने लड़ी। सीधी कार्यवाही, जैसे प्रयासों में 1924 में त्रावनकोर राज्य के अछूतों द्वारा किया गया सत्याग्रह मुख्य था। जिसमें मंदिर का अहाता बढ़ा दिया गया था 1927 में प्रसिद्ध महाड़ बावड़ी में अछूतों ने प्रवेश किया, इससे उच्च जाति के लोगों में आक्रोश उभरा। अम्बेडकर ने संघर्ष का आह्‌वान किया और सत्याग्रह की बागडोर स्वयं संभाली।

अम्बेडकर ने अछूतों को चेतावनी देते हुए कहा था कि अछूतों को दो बातें ध्यान में रखनी चाहिए। पहली तो यह कि हिन्दू धर्म से यह आशा करना व्यर्थ है कि वह सामाजिक न्याय भावना जाग्रत करने की दिशा में कार्यशील होगा ऐसा कार्य इस्लाम, ईसाई अथवा बौद्ध धर्म द्वारा किया जा सकता है। हिन्दू धर्म स्वयं ही अछूतों के प्रति असमानता और अन्याय का मूर्त रूप है। उसके लिये न्याय का उपदेश देना अपना ही विरोध करना है।

आगे उन्होंने कहा, अछूत के लिये यह नितांत आवश्यक है कि वह यथा संभव अधिक से अधिक राजनीतिक शक्ति अर्जित करे। सामाजिक तथा आर्थिक अर्थों में उसकी निरंतर घटती हुई शक्ति को देखते हुए अछूत कभी भी अत्यधिक राजनीतिक शक्ति अर्जित नहीं कर सकता। वह चाहे जितनी राजनीतिक शक्ति अर्जित कर ले, फिर भी हिंदुओं की विशाल सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक शक्ति को देखते हुए हमेशा कम ही रहेगी। 1930 में दलित जाति एसोसिएशन बना, जिसमें अम्बेडकर ने स्पष्ट रूप से कहा कि वे केवल अपनी जाति का कल्याण चाहते हैं। उन्होंने कभी नहीं कहा कि वे सारे समुदायों के उत्थान के इच्छुक हैं और इसीलिए उनको गाँधी के 'हरिजन' शब्द पर आपत्ति थी और अन्त तक वे दलितों-विशेषत: महार जाति की समस्याओं से जूझते रहे।

अम्बेडकर ने अत्यन्त साहस एवं ईमानदारी के साथ दलितों की लड़ाई लड़ी अकेले दम पर। उनकी कर्मठता को सभी ने स्वीकार किया है। दलितोद्धार उनका सम्पूर्ण संघर्ष था, और जो लोग यह कहते हैं कि यह संकीर्ण दायरे में सीमित था, वे यह भूल जाते हैं

कि जिस सामाजिक न्याय की लड़ाई वे लड़ रहे थे, उसके साथ कई समस्याएं जोड़ देने पर असफलता तो सुनिश्चित थी ही, वे कोई कार्यक्रम भी नहीं दे पाते। हाँ, मुख्य गड़बड़ी यह हुई कि अम्बेडकर एक पूर्वाग्रह से ग्रसित थे कि दलितोद्धार की लड़ाई गैर दलित वर्गों के लोगों द्वारा संचालित नहीं हो सकती है क्योंकि सभी सवर्ण दलितों के विरोधी हैं।

निश्चित रूप से अछूत समाज का सर्वाधिक तिरस्कृत वर्ग रहा है और अम्बेडकर ने इस वर्ग के उद्धार का जो संकल्प लिया और उनकी लड़ाई लड़ी, इसी का परिणाम रहा कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् इस वर्ग को संवैधानिक संरक्षण प्राप्त हुआ और इसी संवैधानिक संरक्षण के कारण आज समाज में इस उपेक्षित वर्ग की स्थिति थोड़ी बेहतर सिद्ध हुई। उनको अछूतोद्धार कार्यक्रम के प्रति सामाजिक एकता दिखाई पड़ी। उन्होंने महसूस किया कि बिना दलितों के उद्धार के भारतीय समाज में सामाजिक न्याय की बात करना पाखण्ड एवं प्रवंचना है।

अम्बेडकर दूरद्रष्टा थे। यह नहीं कहा जा सकता है कि उनकी सोच एकांगी थी, और राष्ट्रीय संदर्भों की उन्होंने सर्वथा उपेक्षा की। उनका तो मानना था कि मुझे यह अच्छा नहीं लगता कि जब कुछ लोग कहते हैं कि हम पहले भारतीय हैं और बाद में हिन्दू अथवा मुसलमान। मुझे यह स्वीकार नहीं है। धर्म, संस्कृति, भाषा तथा राज्य के प्रति निष्ठा से ऊपर है- भारतीय होने की निष्ठा। मैं चाहता हूँ कि लोग पहले भारतीय हों और अन्त तक भारतीय बने रहें भारतीय के अलावा कुछ नहीं।

अम्बेडकर ने असवर्णों के लिये पृथक् मतदान की बात की। पृथक् निर्वाचन के सिद्धान्त की आलोचना हुई और गाँधी को तो इस सिद्धान्त से इतना खतरा अनुभव हुआ कि उन्होंने कहा कि इससे जातिवादी मान्यताएं सम्प्रदायवाद का रूप धारण कर सकती हैं। गाँधी जी की बात सच हो न हो, लेकिन यदि उच्च जाति के लोगों में इस बात का एहसास पैदा नहीं होता है कि वे नीच कहे जाने वाले अपने भाइयों को समाज का अभिन्न अंग स्वीकारें और तिरस्कृत, उपेक्षित, अशिक्षित एवं आर्थिक रूप से विपन्न वर्ग को आर्थिक आधार पर समुन्नत करने का प्रयास हो अवांछित वर्ग संघर्ष अनिवार्य है।

असमानता एवं अन्याय पर आधारित परम्परागत समाज व्यवस्था के विरुद्ध एक सशक्त जन चेतना को अम्बेडकर ने उभारा था। उनकी स्पष्ट मान्यता थी कि जब तक जाति एवं जाति को पोषित करने वाली परम्परागत हिन्दू विचारधारा का अन्त नहीं होगा तब तक भारत में क्रांति सम्भव नहीं है। उनके चिंतन का मूल विषय सामाजिक संरक्षण है। सत्योद्घाटन में वे कभी चूके नहीं, भले ही कुट आलोचना एवं विरोध का सामना उन्हें करना पड़े।

दलित वर्ग

जिन समुदायों के लिये गाँधीजी ने 'हरिजन' शब्द का प्रयोग किया था, वह अम्बेडकर को पसन्द नहीं था। उनका मानना था कि 'हरिजन' नामकरण से दलित वर्ग कमजोर होगा। यही नहीं अम्बेडकर को यह भी लगा कि दलितों को 'हरिजन' नाम देना कांग्रेस की एक सुनियोजित चाल है। अम्बेडकर ने गर्व से, ईमानदारी से स्वीकार किया कि वे केवल दलितों का उद्धार चाहते हैं, पूरे समाज का उन्होंने ठेका नहीं लिया है।

अम्बेडकर कालीन बहुत से अनुसूचित प्रायः अम्बेडकर के परामर्श के विरुद्ध थे। परिणामतः अनुसूचित जातियों ने अम्बेडकर द्वारा गठित अथवा समर्थित पार्टी को समर्थन देने के बजाए कांग्रेस का समर्थन किया।

'दलित' नामकरण अम्बेडकर की ओर से आया जिसकी पृष्ठभूमि माओवादी और रेडिकल लेफ्टिस्ट लोगों ने तैयार की थी। अम्बेडकर दलितों की समस्या को सर्वोपरि रखना चाहते थे। वे दलितों की समस्याओं का समाधान लोकशाही के दायरे में 'स्टेट' के इस्तेमाल से करना चाहते थे। दलित समुदाय को दबी-कुचली जिन्दगी से उबारना चाहते थे, वे जाति प्रथा के खिलाफ समानता पर आधारित जनतान्त्रिक व्यवस्था के पक्षधर थे।

आर्थिक दृष्टिकोण

अम्बेडकर मूलतः अर्थशास्त्री थे। उनका आर्थिक चिन्तन उनके समेकित सामाजिक चिन्तन का एक पक्ष है, जो कि उनके यथार्थ के अनुभव से उद्भुत है। उन्होंने पाया कि वर्ण, जाति एवं जजमानी द्वारा संचालित हिन्दू समाज का पारम्परिक सामाजिक-आर्थिक ढाँचा न केवल अन्यायपूर्ण है अपितु अवैज्ञानिक भी है। प्रगति की दौड़ में एवं समाज के संतुलन में, विकास में सबकी भागीदारी

आवश्यक है।

अम्बेडकर का मानना है कि जिस हिन्दू ढाँचे पर सामाजिक रचना है उसमें व्यक्ति को अपनी योग्यता एवं रुचि के अनुकूल व्यवसाय चुनने की आजादी नहीं है। जाति केवल व्यक्ति के पेशे का निर्धारण नहीं करती है अपितु उसे वंश दर वंश उसी पेशे से बाँध देती है, ऐसे समाज में वे लोग लाभान्वित होते हैं जो उत्पादन प्रक्रिया में प्रत्यक्षत: न तो भागीदार होते हैं और न ही कोई शारीरिक श्रम करते हैं। वे दूसरों के पसीनों पर अपने वैभव का महल बनाते हैं, और सवर्णों की सेवा करने वाले, दिन रात पसीना बहाने वाले दलित को इतना पारिश्रमिक भी नहीं मिलता कि वह इज्जत की रोटी खा सके।

वर्ण एवं जाति व्यवस्थाओं का जो श्रम विभाजन है वह अस्वाभाविक एवं दोषपूर्ण है। अम्बेडकर ने स्पष्टत: कहा था, चतुर्वर्ण श्रम विभाजन नहीं है। यदि ऐसा होता तो इसमें श्रमिक को स्वेच्छा से अपना पेशा चुनने का अधिकार होता। जो जैसा व्यवसाय चुनता उसके अनुरूप समाज में उसे मान्यता मिलती किन्तु ऐसा नहीं है। विद्वान बनिया, बनिया ही रहता है, वह ज्ञान प्रधान ब्राह्मण नहीं बन सकता। ब्राह्मण यदि कृषि करता है तो वह वैश्य नहीं ब्राह्मण ही रहता है। इसलिये चतुर्वर्ण श्रम विभाजन नहीं है। यह श्रमिकों का विभाजन है जो जन्मजात रूढ़ है, जो जन्म से मृत्यु तक व्यक्ति की देह में चिपका ही नहीं वरन् देह में समाया रहता है और धर्म बन जाता है।

अम्बेडकर ने महसूस किया कि जब तक दलितों के विरुद्ध आर्थिक शोषण होता रहेगा सामाजिक असमानता बनी रहेगी। उनका यह भी तर्क था कि अछूत एवं दलित वर्ग के लिये अनेकों व्यवसायों पर प्रतिबन्ध है, इसलिये वे निर्धन एवं कमजोर हैं। प्राय: उनसे शारीरिक श्रम लिया जाता है। कृषि योग्य भूमि का उचित बँटवारा न होना भी दलित वर्ग की गरीबी का मुख्य कारण रहा है। वे मानते थे कि जमींदारी प्रथा के चलते कृषकों की गरीबी दूर नहीं हो सकती। जब तक भूस्वामी बने रहेंगे, भूमिहीन कृषक भी बने रहेंगे। वे जमींदारी प्रथा के खात्मे के धुर समर्थक थे।

उनकी धारणा थी कि सहकारिता पर आधारित खेती से किसानों की दशा सुधर सकती है किन्तु कुछ दिनों बाद उन्हें भ्रम हुआ कि इस प्रथा का रूख वैज्ञानिक समाजवाद की ओर चला जाएगा और साम्यवादी तरीके उन्हें पसन्द नहीं थे। फलत: नेहरू की कृषि नीति, मिश्रित अर्थव्यवस्था पर ही उन्होंने भरोसा किया। वास्तव में उनके दिमाग में एक ऐसे आर्थिक परिवेश की कल्पना थी जिसके द्वारा कृषि एवं उद्योगों के उत्पादन में सभी की भागीदारी हो, एवं दरिद्रता का विनाश हो सके। किन्तु सबसे पहले अछूतोद्धार उनकी मुख्य समस्या थी और इसी के परिप्रेक्ष्य में उन्होंने आर्थिक परिवर्तनों की बात की। वे उस आर्थिक व्यवस्था को अवांछनीय मानते थे, जिससे दलितों के हितों का सम्पादन न हो।

उनका मानना था कि जाति भावनाओं से आर्थिक विकास रुकता है। इससे वे स्थितियां पैदा होती हैं जो कृषि तथा अन्य क्षेत्रों में सामूहिक प्रयत्नों के विरुद्ध हैं। जात-पात के रहते हुए ग्रामीण विकास समाजवादी सिद्धान्तों के विरुद्ध रहेगा। पूँजीवाद आर्थिक विषमता उत्पन्न करता है, साम्यवाद असमानता और शोषण को समाप्त करता है, किन्तु मजदूर की इच्छा का हनन भी करता है। स्वतन्त्रता एवं समानता समाजवाद से ही सम्भव है। समाज के बहुसंख्यक कमजोर वर्ग के लोगों को आर्थिक शोषण के विरुद्ध सुरक्षा प्रदान करने के लिये अम्बेडकर ने संविधान में समाजवाद को सम्मिलित किए जाने की सिफारिश की थी। वे कृषि को राज्य उद्योग के रूप में विकसित करने के पक्षधर थे और उनका मानना था कि निजी क्षेत्र से औद्योगिक प्रगति सम्भव नहीं है।

उनके अनुसार लोकतान्त्रिक पूँजीवादी अर्थरचना में जिसे हम स्वतन्त्रता कहते हैं, वह स्वतन्त्रता मजदूर अथवा भूमिहीन श्रमिक की नहीं है। यह स्वतन्त्रता भूस्वामियों की है, जिससे वे किराया बढ़ा सकें, यह स्वतन्त्रता बड़े-बड़े पूँजीपतियों की है ताकि वे काम के घंटे बढ़ा सकें, यह स्वतन्त्रता उन लोगों की है जो श्रमिकों को वेतन कम कर सकें और शोषितों की मुसीबत बढ़ा सकें।

अम्बेडकर साम्यवादी व्यवस्था को पसन्द नहीं करते थे। उनका मानना था कि इससे पूँजीवाद का तो खात्मा हो सकता है परन्तु व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का हमें गला घोंटना पड़ सकता है। राज्य समाजवाद के माध्यम से ही समस्या का निदान हो सकता है।

अन्तत: कहा जा सकता है कि अम्बेडकर की अर्थशास्त्र के प्रति गहरी रुचि थी। सामाजिक विषमताओं को समाप्त करने के लिये आर्थिक चिन्तन जो उनके पास था, वह समाजवादी एवं समय सापेक्ष था, किन्तु वे अछूतोद्धार की समस्या से ही जीवन भर लड़ते रहे और अपने प्रतिपाद्य विषय की ओर उनका चिन्तन विशेष नहीं गया और वे समाज सुधार सम्बन्धी कार्यों में ही लगे रहे। इनका मानना था कि धर्म, सामाजिक परिस्थिति और सम्पत्ति सभी समान रूप से शक्ति और सत्ता के स्रोत हैं। इसलिए मूलभूत सामाजिक

सुधारों को लागू किए बिना आर्थिक सुधारों को लागू करना कठिन होगा।

धार्मिक विचार

धर्म के नाम पर पाखण्डवाद के अम्बेडकर विरोधी थे, किन्तु वे नास्तिक नहीं थे। धर्म को समाज के लिये आवश्यक मानते थे। मार्क्सवादी चिंतन धर्म को अफीम मानता है। ऐसी अफीम जो गरीब और अमीर की खाई को चौड़ा करती है और कमजोर को अभावग्रस्त जीवन जीने का अभ्यस्त बना देती है। किन्तु अम्बेडकर की दृष्टि में धर्म मानवता के लिये आवश्यक है। धर्म के समाप्त होने में समाज के समाप्त होने का भय उन्हें था।

अम्बेडकर आर्थिक व सामाजिक अधिकारों के लिये संघर्षरत गरीब, कमजोर लोगों को धार्मिक उपदेश देकर संघर्ष से हटाना नहीं चाहते थे, लेकिन इतना अवश्य कहते थे कि दलितों के लिये केवल पेट भरना और जीवित रहना ही पर्याप्त नहीं है।धर्म व्यक्ति के लिये होता है न कि व्यक्ति धर्म के लिये। धर्म को व्यक्ति के अस्तित्व एवं महत्त्व को स्वीकार करना चाहिए तथा उसके आध्यात्मिक एवं बौद्धिक विकास के लिये अनुकूल वातावरण का सृजन करना चाहिए। धर्म वह है जो लोगों को एकता के सूत्र में बाँधे। धर्म दैवीय नियमन की एक आदर्श प्रयोजना है जिसका लक्ष्य उस सामाजिक व्यवस्था जिसमें कि लोग रहते है; को एक नैतिक व्यवस्था बनाना है। धर्म का अस्तित्व मुख्यत: उसमें प्रतिपादित आदर्श प्रयोजना के रक्षार्थ एवं पोषणार्थ होता है। सामान्यतया यह माना जाता है कि धर्म ग्रंथों की रचना ईश्वर ने की है अत: उसमें जिन नियमों, आदर्शों की प्रस्थापनाएं हैं, वे ईश्वरीय हैं जैसे ईसाई धर्म में बाइबिल, हिन्दू धर्म में वेद, गीता एवं स्मृतियां तथा इस्लाम में कुरान एवं हदीस धार्मिक संहिताएं हैं जिनमें ईश्वरीय नियमों का प्रतिपादन है और ये ही धर्मावलम्बियों के आचरण एवं जीवन को नियंत्रित करते हैं।

धर्म का आधार सामाजिकता है और बिना समानता के सामाजिकता की बात करना निरर्थक है। अत: धर्म की अवधारणा समानता पर आधारित है। अम्बेडकर का मानना था कि हिन्दू धर्म समानता के आधार पर नहीं टिका है। वह आदेशों और निषेधों अर्थात् सांस्कारिक रीतियों, कर्मकांडों एवं नियमों तथा निषेधों का मात्र संग्रह है। इसमें कर्मकांड की प्रधानता है, और इसी के माध्यम से वर्ण व्यवस्था की उत्पत्ति हुई है। यह कानून अथवा कानून के रूप में वर्ग आचार है और यह अपेक्षित सामाजिकता की स्थापना नहीं कर सकता। असमानता हिन्दू धर्म का बुनियादी सिद्धान्त है।

सामाजिक समानता सामाजिक न्याय के लिये आवश्यक है। आर्थिक सुरक्षा के अभाव में सामाजिक समानता सम्भव नहीं है। जो विधान इच्छानुसार व्यवसाय चुनने की आजादी से वंचित करता है, वह धार्मिक कैसे हो सकता है। मनु के विधान में शूद्रों के लिये सम्पत्ति संग्रह करना निषिद्ध है और उन्हें व्यवसाय चुनने की आजादी भी नहीं है। समाज में शिक्षा प्राप्त करने का सबको अधिकार है किन्तु मनु का ईश्वरीय विधान इसके विपरीत है। केवल द्विजों को ही वेदाध्ययन का अधिकार था। स्त्रियों एवं शूद्रों के लिये यह वर्जित था। अत: अम्बेडकर को कहना पड़ा, ''जहाँ समानता की मनाही है, वहाँ अन्य सभी वस्तुओं का अभाव है। असमानता हिन्दू धर्म का पवित्र और दैवी सिद्धान्त है। यह हिन्दू धर्म का आत्मा है। परिणामस्वरूप हिन्दू धर्म में न्याय का पूर्णतया अभाव है।''

जाति व्यवस्था श्रमिकों का विभाजन करती है। जाति का सिद्धान्त किसी ब्राह्मण को ज्ञान प्राप्त करने की अनुमति तो देता है किन्तु शूद्र को बुद्धि का विकास करने की अनुमति नहीं देता है। चतुर्वर्ण व्यवस्था में द्विजों और शूद्रों के बीच मालिक और गुलाम का रिश्ता है। और ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य आपस में वैमनस्य रखते हुए भी शूद्रों को नीचा रखने के मामले में पारस्परिक सहमति रखते है। अम्बेडकर के अनुसार हिन्दू धर्मदर्शन सामाजिक उपयोगिता के मानदण्डों को पूरा नहीं करता।

अम्बेडकर के अनुसार, मजहब वैयक्तिक होता है और धर्म सामाजिक होता है। 'सभी धर्म, धर्म नहीं हैं। केवल वही धर्म वास्तविक धर्म है जो तर्क एवं विवेकसंगत हो, सामाजिक नैतिकता पर आधारित हो, सार्वकालिक एवं सार्वभौमिक हो और जो सभी काल में सभी मानव जाति की सेवा कर सकता है।'

धर्म नैतिकता पर आधारित होना चाहिए। धर्म का स्वरूप समय के साथ बदलता रहता है। अम्बेडकर के अनुसार वैदिक धर्म अनुमान व कल्पना प्रधान है।

राजनीतिक दृष्टिकोण

अम्बेडकर की उच्च शिक्षा पाश्चात्य समाज में हुई थी, फलत: उनका राजनीतिक चिन्तन उससे अप्रभावित नहीं रहा। वे कांग्रेस को सवर्णों की पार्टी मानते थे और उन्हें कांग्रेस के उद्देश्य और नीतियों पर विश्वास नहीं था। इसलिये उन्होंने कांग्रेस के साथ कभी भी स्वतन्त्रता आंदोलन में हिस्सा नहीं लिया। यहाँ तक की खादी का भी मजाक उन्होंने उड़ाया और हमेशा यही कोशिश की कि दलितों के लिये अंग्रेजी हुकूमत से कुछ हासिल किया जा सके।

उनका संघर्ष आत्म सम्मान का था। वे हरिजन नेता की भूमिका के रूप में बड़े कटु थे। उनकी राजनीति शुद्ध रूप से दलित राजनीति थी। उनके लिये दलित प्रश्न सर्वप्रमुख था किन्तु इसका आशय यह कतई नहीं है कि अम्बेडकर दलित भारत की स्थापना करना चाहते थे। वह सिर्फ दलित मुक्ति चाहते थे। वे दलितों के लिये जिये और दलितों के लिये मरे। उनकी इस एकांगिता में उनकी गहरी प्रतिबद्धता दिखाई पड़ती है।

अम्बेडकर लोकतंत्र में विश्वास रखते थे और उनका मानना था कि लोकतान्त्रिक व्यवस्था से ही सामाजिक समानता आ सकती है। किंतु हिन्दुस्तान में जहाँ एक बड़ी संख्या को अछूत समझा जाता है, लोकतान्त्रिक मूल्य बेमानी हो जाते हैं। अत: उनकी सबसे बड़ी चिन्ता थी - अछूतों को अधिकार दिलाना। और यही वजह थी कि उन्होंने दलितों के लिये पृथक प्रतिनिधित्व की बात की। उनका विचार था कि दलित वर्ग के लिये जनसंख्या के आधार पर पृथक निर्वाचन मंडल की व्यवस्था होनी चाहिए। पं० मोती लाल नेहरू ने इसका बड़ा प्रतिरोध किया और इसे देश के लिये हानिप्रद कहा।

महात्मा गाँधी भी अम्बेडकर के इस विचार से सहमत नहीं थे कि पृथक निर्वाचन की बात की जाए। उनका मानना था कि इससे स्वतन्त्रता - प्राप्ति में अनेक कठिनाई होगी। लेकिन अम्बेडकर का मानना था कि कांग्रेस सत्ता के लिये जितनी चिंतित है उतनी अपने उद्देश्यों या सिद्धांतों के लिये नहीं है।

अम्बेडकर हरिजन नेता की भूमिका में कटु होते हुए भी पूर्णत: राष्ट्रवादी थे। किन्तु उनके दृष्टिकोण से भारतीय समाज की अमानवीयता और अन्याय विदेशी शासन के अपमान से भी बदतर था। वे भी भारत में ब्रिटिश शासन का अन्त चाहते थे, किन्तु वे वायसराय की उस कार्यपालिका समिति के सदस्य भी थे जो 'भारत छोड़ो' आन्दोलन के दमनार्थ ब्रिटिश राज द्वारा किए गए निर्णयों का समर्थन कर रही थी। चूँकि अम्बेडकर कांग्रेस को हिन्दूवादी ताकत के रूप में देखने की गलती कर रहे थे, अत: उनकी धारणा बन चुकी थी कि ब्रिटिश राज्य की तत्काल समाप्ति से दलितों के हित भी खतरे में पड़ जाएंगे।

उन्होंने राज्य की परिकल्पना मुनष्यों के एक राजनीतिक संगठन के रूप में की है, जिसके पास अपनी विधायिका, कार्यपालिका और अपना प्रशासन तत्व होता है। वे राज्य और व्यक्ति के बीच सामंजस्य के पक्षधर थे। वे राज्य को साध्य नहीं मानते थे। राज्य मानव लक्ष्यों की प्राप्ति और बेहतर समाज की स्थापना का एक साधन है। चूँकि व्यक्ति ने राज्य की रचना की है। अत: राज्य का यह कर्तव्य है कि वह व्यक्ति की स्वतन्त्रता और नैसर्गिक अधिकारों की रक्षा करे तथा उसके सम्मान एवं गरिमा को बनाये रखे।

वे कल्याणकारी राज्य के पक्षधर थे और आनुवंशिक शासन परम्परा के विरुद्ध थे। उनकी दृष्टि में लोकतंत्र की सफलता के लिये आवश्यक है कि लोग सार्वजनिक महत्त्व के विषयों एवं निर्णयों पर तर्क से काम लें। शुरू-शुरू में अम्बेडकर तानाशाही के पक्षधर थे। उनका कहना था कि 'सामाजिक और धार्मिक विषयों में लोकतान्त्रिक तरीके से परिवर्तन लाना कठिन है। अत: इसके लिये कमाल पाशा या मुसोलिनी जैसे तानाशाह की भारत को जरूरत होगी।' बाद में उनके विचार बदल गए और उन्होंने लोकतन्त्र का समर्थन किया। और कहा कि प्रजातन्त्र मुख्यत: श्रेयस्कर इसलिए है कि यह व्यक्ति को विकास का पूर्ण अवसर प्रदान करता है। उनके अनुसार विरोध के अभाव में कोई लोकतन्त्र कार्य नहीं कर सकता। स्वतन्त्र एवं निष्पक्ष चुनाव जनतन्त्र का प्रमुख आधार है।

लोकतन्त्र में विधायिका के महत्त्व को स्वीकार करते हुए अम्बेडकर ने कहा है कि कानून का वास्तविक कार्य समाज की त्रुटियों को दूर करना है। ब्रिटिश संसदीय प्रणाली के अनुरूप उन्होंने भारत में कार्यकारिणी के गठन का प्रावधान किया। उनका मानना था कि न्यायपालिका ही व्यवस्थापिका एवं कार्यपालिका पर नियंत्रण रखती है और उन्हें संविधान द्वारा स्थापित सीमाओं के भीतर बाँधकर रखती है। वे स्वतन्त्र न्यायपालिका की केवल स्थापना के पक्षधर नहीं थे वरन् न्यायपालिका को व्यापक अधिकार दिये जाने के भी हिमायती थे।

उनका मानना था कि समाज में अधिक विषमता लोकतन्त्र के लिये दुखद है। यदि समाज में कोई उत्पीड़क वर्ग है और कोई पीड़ित वर्ग तो ऐसी स्थिति में लोकतन्त्र का प्रभावी होना कठिन है।

संसदीय लोकतन्त्र में राजनैतिक दलों की अनिवार्यता पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने लिखा है कि राजनीतिक दल जनता की अभिव्यक्ति एवं उसके क्रियान्वयन के अभिकरण हैं। उनका मानना था कि लोकतन्त्र की सफलता के लिये कम-से-कम दो दलों का होना अनिवार्य है। विरोध का सशक्त होना भी आवश्यक है।

वे सत्ता के विकेन्द्रीकरण के खिलाफ थे। उनका मानना था कि एक विशाल एवं वैविध्य भरे देश में प्रभावकारी शासन की स्थापना के लिये राज्यों के पास राजनीतिक सत्ता का हस्तांतरण आवश्यक है परन्तु मजबूत एवं संगठित केन्द्र को अधिक अधिकार प्रदान किया जाना चाहिए।

उन्हें ग्राम पंचायत पर भरोसा नहीं था। यही कारण था कि उन्होंने ग्राम पंचायत को अन्य स्थानीय निकायों के साथ नौवीं अनुसूची में रखा। उनका मानना था कि ग्राम पंचायतें दलितों एवं कमजोर पर अत्याचार करती हैं क्योंकि इसमें वर्चस्व सवर्ण जाति का होता है।

भाषा के सवाल पर अम्बेडकर ने कहा कि एक भाषा लोगों को संयुक्त करती है, दो भाषाएं उन्हें बाँटती हैं। भारतीय, चूँकि परस्पर संयुक्त होना चाहते हैं और एक सामान्य संस्कृति विकसित करना चाहते हैं, इसलिए यह सभी भारतीयों का अनिवार्य कर्तव्य है कि वे हिन्दी को अपनी भाषा के रूप में स्वीकार करें। यदि कोई भारतीय एक भाषा के नियम को स्वीकार नहीं करता तो उसे अपने को भारतीय कहने का कोई अधिकार नहीं है।

उन्होंने भाषायी आधार पर राज्यों के गठन को अंगीकृत किया परन्तु किसी राज्य की भाषा को वहाँ की राजभाषा बनाये जाने का उन्होंने सशक्त विरोध किया। उनके अनुसार भाषायी राज्यों का गठन हो, किन्तु सभी राज्यों की राजभाषा अर्थात् सरकारी काम-काज की भाषा हिन्दी हो।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अम्बेडकर का राजनीतिक चिन्तन मानवीय मूल्यों की गरिमा एवं सम्मान की रक्षा का पोषक है। वे एक आधुनिक लोकतान्त्रिक राज्य की अवधारणा रखते थे। वे नागरिक समानता पर आधारित जनतन्त्र के पुरोधा थे और इस मामले में नेहरू के काफी नजदीक थे।

संवैधानिक विचार

राष्ट्रीय संविधान के निर्माण का गुरूतर दायित्व अम्बेडकर को सौंपा गया। पं० नेहरू ने संविधान निर्माण के लिये आइवर जेनिंग्स का नाम सुझाया था किंतु गाँधी ने नेहरू के सुझाव को अनसुना करते हुए कहा कि मैं एक भारतीय संविधानविज्ञ भीमराव अम्बेडकर का नाम सुझाता हूँ। अपनी पुस्तक 'ह्वाट कांग्रेस एण्ड गाँधी हैव डन टू द अनटचेवल्स' में कहा है कि, 'संविधान का उद्देश्य स्वतन्त्रता, समानता एवं भ्रातृत्व के सिद्धांतों पर आधारित एक नई सामाजिक व राजनीतिक व्यवस्था की स्थापना करना है जिसमें सत्त पर किसी वर्ग विशेष का सदा आधिपत्य नहीं बना रहे। प्रत्यक्ष रूप में संविधान का उद्देश्य अपने सभी नागरिकों के लिये सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय, विचार अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतन्त्रता, प्रतिष्ठा और अवसर की समानता तथा व्यक्ति की गारिमा एवं राष्ट्र की एकता सुनिश्चित करने वाली बन्धुता सुरक्षित करना है।

नेहरू की कार्य पद्धति से असंतुष्ट होकर अम्बेडकर ने मन्त्रिमंडल से त्याग पत्र दे दिया था। अम्बेडकर ने ही हिन्दू कोड बिल का प्रारूप तैयार किया था जिसका उद्देश्य था हिन्दू स्त्रियों को कुछ विशेष अधिकार मुहैया कराना। इस बिल का घोर विरोध हुआ। जिसमें प्रमुख थे सरदार पटेल। अम्बेडकर का कहना था कि बिल का तात्पर्य है सारे हिन्दुओं के लिये एक ही कोड। किन्तु इस बिल ने ससंद और संसद के बाहर तीव्र प्रतिक्रियाएं उत्पन्न कीं। विरोध का परिणाम यह हुआ कि बिल की कई महत्त्वपूर्ण धाराएं निरस्त करनी पड़ी। इससे अम्बेडकर को दु:ख एवं निराशा हुई। वे अपने को असफल देख, त्याग पत्र देना ही उचित समझे।

व्यक्तिगत स्वतंत्रता के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए अम्बेडकर ने लिखा है कि संविधानिक उपचार के अधिकार को वे विशेष महत्त्व देते हैं, "यदि कोई मुझसे यह पूछे कि संविधान का वह कौन सा अनुच्छेद है, जिसके बिना संविधान शून्य प्राय हो जाएगा, तो मैं इस अनुच्छेद को छोड़कर और किसी अनुच्छेद की ओर संकेत नहीं कर सकता। यह तो संविधान का हृदय और आत्मा है। मुझे इस

बात की बहुत प्रसन्नता है कि सदन ने इसके महत्त्व को समझा है।

धर्म निरपेक्षता की व्याख्या करने हुए अम्बेडकर ने कहा कि, धर्म निरपेक्ष राज्य का यह अर्थ नहीं है कि हम लोगों की धार्मिक भावनाओं की ओर ध्यान नहीं देंगे। इसका अर्थ केवल इतना है कि यह संसद, देश के लोगों पर कोई विशेष धर्म लादने का अधिकार नहीं रखती है। यही एक परिसीमा, संविधान स्वीकार करता है।

उनका धर्म निरपेक्षता का सिद्धान्त पाश्चात्य उदारवादी चिन्तन से अनुप्राणित है। उनका स्पष्ट कहना था कि धर्म निरेपक्षता अधार्मिकता के सिद्धान्त पर आधारित नहीं है, इसका तो एकमात्र अर्थ है सभी धर्मों का आदर करना। प्रत्येक व्यक्ति को आजादी है कि वह जिस धर्म को चाहे, उसे माने।

आरक्षण के प्रश्न पर भी संविधान सभा की प्रारूप समिति में पर्याप्त विवाद हुआ था। अम्बेडकर ने भी स्वीकार किया कि आरक्षण गलत चीज है किंतु भारत की परिस्थितियों में सामाजिक समानता एवं सामाजिक न्याय को प्राप्त करने के लिये यह आवश्यक भी है। उनका मानना था कि हिन्दुस्तान की गरीबी जातिगत है। अत: अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों के लिये आरक्षण की सुविधा देना आवश्यक है। कुछ लोगों का विचार था कि आरक्षण से लोकतन्त्र अमर्यादित होगा और समानता के सिद्धान्त का माखौल उड़ेगा। अत: संविधान में विकल्प स्वरूप कुछ ऐसी व्यवस्था रहनी चाहिए कि कमजोर वर्ग के लोगों को प्रगति के लिये सुअवसर उपलब्ध हो सके।

मौलिक अधिकारों को उन्होंने शासन और विधान मण्डल की स्वेच्छाचारिता पर अंकुश बताया। प्रत्येक मौलिक अधिकार के साथ यह अपवाद जोड़ा गया कि राज्य उस पर तार्किक प्रतिबन्ध लगा सके।

नीति निर्देशक सिद्धान्तों के विषय में अम्बेडकर का कहना था कि संविधान द्वारा विधान मण्डल एवं कार्यपालिका को दिए गए निर्देश हैं कि वे किस प्रकार संविधान विहित अपनी शक्तियों का प्रयोग करें।

सरदार वल्लभभाई पटेल

सरदार पटेल का नाम भारत के 'लौह पुरुष' (प्तवद ब्ंद) के रूप में लिया जाता है। भारतीय स्वतंत्रता-संग्राम का उन्होंने कुशल नेतृत्व किया। उनका जन्म 21 अक्टूबर, 1875 को गुजरात के करमरूद गांव में हुआ था। वे गुजरात के सफल बैरिस्टर थे। 1918 ई. में गांधीजी के महान व्यक्तित्व से प्रभावित होकर उन्होंने उस समय राजनीति में प्रवेश किया जब गुजराती किसानों की तरफ से कर मुक्ति आंदोलन चल रहा था। 1928 ई. में बारदोली में जब किसानों की ओर से सत्याग्रह आंदोलन चलाया गया तब उन्होंने उसका सफल नेतृत्व किया। 1930 ई. के सविनय अवज्ञा आंदोलन में सरकार ने सबसे पहले पटेल को ही कैद किया। गांधी-इरविन समझौते के बाद उन्हें छोड़ दिया गया। जब द्वितीय गोलमेज-सम्मेलन असफल हुआ तब अन्य नेताओं के साथ सरदार पटेल को पुन: कैद कर लिया गया। 1931 ई. में उन्हें कांग्रेस का प्रधान चुना गया। 1937 ई. में जब कांग्रेस ने चुनाव लड़ने का निश्चय किया, तब सरदार पटेल को उसका अध्यक्ष नियुक्त किया गया। इस चुनाव में उन्होंने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई और समस्त देश का दौरा करके लोगों से आग्रह किया कि वे कांग्रेस के कार्यक्रम का समर्थन करें। चुनाव मशीनरी को उन्होंने संगठित किया। जब आठ प्रांतों में कांग्रेस के मंत्रिमंडल बन गए तब उनके ऊपर निगरानी करने के लिए एक 'पार्लियामेंटरी बोर्ड' बनाया गया- सरदार वल्लभभाई पटेल इसके अध्यक्ष थे। 1942 ई. में उन्होंने 'भारत छोड़ो' आंदोलन में भाग लिया। उस समय उन्हें कैद कर लिया गया। 1945 ई. में जेल से छूटने के बाद वे शिमला सम्मेलन और अन्तरिम सरकार में शामिल हुए। 1946 ई. में संगठित अंतरिम सरकार में वे उपप्रधानमंत्री नियुक्त किए गए। स्वतंत्रता के बाद उन्हें गृहमंत्री पद पर नियुक्त किया गया। उस समय देशी राज्यों के विलय की समस्या सबसे विकट थी। सरदार पटेल के प्रयासों से भारतीय संघ में देशी राज्यों को शामिल कर लिया गया। जब हैदराबाद के निजाम ने सरदार पटेल के प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया तब उन्होंने पुलिस कार्यवाही द्वारा निजाम को भारत संघ में सम्मिलित होने के लिए बाध्य कर दिया।

उपर्युक्त तथ्यों से यह स्पष्ट है कि सरदार वल्लभभाई पटेल दृढ़संकल्प, निर्भीक, साहसी तथा धैर्यवान नेता थे। दल-संगठन की उनमें अपूर्व क्षमता थी। उन्होंने एक बार चर्चिल से कहा था, "आप लोग यह सोचकर बोलना सीखें कि आप स्वतंत्र भारत से बातचीत कर रहे हैं।" सरदार पटेल एक अनुशासनप्रिय व्यक्ति थे। वे अनुशासनहीनता सहन नहीं कर सकते थे। भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन में सरदार

पटेल का नाम इसलिए महत्त्वपूर्ण है कि उन्होंने देश की एकता को सुरक्षित बनाए रखने का प्रयास किया और देश से सामंतवादी तथा निरंकुश शासन को खत्म करके लोकतंत्रीय व्यवस्था को कायम रखा। 15 दिसंबर, 1950 को उनका स्वर्गवास हो गया।

भारतीय राज्यों की समस्या

भारतीय राज्यों की समस्या पर सबसे पहले गोलमेज सम्मेलन में विचार-विमर्श हुआ। 1935 ई. के अधिनियम में उन्हें भारतीय संघ में सम्मिलित होने का अधिकार भी दिया गया। लेकिन 1937 ई. में जब संघीय व्यवस्था को लागू करना चाहा तब भारतीय राज्यों की जटिल समस्या ने उसमें बाधा खड़ी कर दी। 1946 ई. में कैबिनेट मिशन ने यह घोषणा कर दी थी कि पैरामाउंटसी समाप्त कर दी जाएगी और भारतीय नरेश अपने संबंध स्थापित करने में पूरी तरह स्वतंत्र होंगे।

भारत में 562 भारतीय राज्य थे। समस्त भारत का 2/5 क्षेत्रफल तथा 1/4 जनसंख्या इन राज्यों में रहती थी। राज्यों में आपस में जनसंख्या, क्षेत्रफल तथा वित्तीय साधनों के आधार पर बड़ी विषमताएं थीं। 20 राज्यों में कुल राज्यों की जनसंख्या का 2/3 और 542 राज्यों में शेष 1/3 जनसंख्या थी। 1858 ई. तक ईस्ट इंडिया कंपनी के राज्यों के संबंधों का विकास संधियों, सैनिक विजयों तथा परंपराओं के आधार पर था। 1858 ई. पश्चात् क्राउन के साथ वह संबंध अस्पष्ट रहा। इस संबंध को परामाउंटसी से संबोधित किया जाता है। अंग्रेजी प्रशासन के सदा बढ़ते हुए हस्तक्षेप के लिए कोई न कोई औचित्य प्रस्तुत किया जाता था। राज्य के हित, समस्त भारत के हित, सामान्य जनता की भलाई, नए आदर्शों के लिए प्रयत्न आदि ऐसे तर्क थे जो किसी भी हस्तक्षेप को उचित सिद्ध कर सकते थे। कई बार वायसराय (गवर्नर जनरल का वह नाम जो भारतीय राज्यों के संदर्भ में प्रयोग होता था) ने इन राज्यों को उनकी वास्तविक स्थिति से अवगत कराया। सैद्धान्तिक रूप में भारतीय राज्य आंतरिक मामलों में स्वतंत्र कहे जाते थे लेकिन वास्तव में प्रत्येक क्षेत्र में वे अंग्रेजी नियंत्रण में थे।

1946 ई. के बाद जब अंग्रेज सरकार ने यह घोषणा की कि भारतीय राज्यों से संबद्ध परामाउंटसी का अधिकार समाप्त हो जाएगा और यह अधिकार भारतीय सरकार को नहीं दिया जाएगा तब भारतीय नरेशों ने यह स्वप्न देखने आरंभ किए कि वे पूरी तरह स्वतंत्र हो जाएंगे और फिर वे किन्हीं भी शर्तों पर भारत अथवा पाकिस्तान अथवा अन्य किसी राज्य के साथ संबंध स्थापित करने के लिए स्वतंत्र होंगे। इस प्रकार अंग्रेज प्रशासकों ने भारतीय समस्या को जटिलतम बनाने में कोई कसर शेष नहीं रखी। एक अन्य समस्या यह थी कि इन राज्यों में वहां की जनता को कोई अधिकार नहीं थे। 1938 ई. के पश्चात् कुछ राज्यों में प्रजामंडल आंदोलन आरंभ हुए थे लेकिन कोई विशेष सफलता किसी राज्य में नहीं मिली। कैबिनेट मिशन ने भारतीय राज्यों को भी संविधान सभा में प्रतिनिधित्व उसी आधार पर देने का प्रस्ताव रखा जिस प्रकार प्रांतों का था अर्थात् 10 लाख जनसंख्या पर 1 प्रतिनिधि। 3 जून, 1947 ई. की माउंटबेटन योजना के अंतर्गत राज्यों के प्रति नीति का विकास अत्यंत आवश्यक हो गया।

पटेल और भारतीय राज्यों के प्रति नीति

5 जुलाई, 1947 ई. को 'स्टेट विभाग' की स्थापना सरदार पटेल के निर्देशन में की गई। उन्होंने राज्य नरेशों से अपील की कि भारत के सामूहिक हितों को ध्यान में रखते हुए वे देश की अखंडता को बनाए रखने में मदद करें। प्रतिरक्षा, विदेशी संबंध और संचार व्यवस्था–इन तीन विषयों के संबंध में ही राज्यों को संघ में सम्मिलित होने के लिए कहा गया। उन्होंने नरेशों को विश्वास दिलाया कि कांग्रेस किसी प्रकार से राज्यों के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप करने को तैयार नहीं थी। उन्होंने मैत्री और सद्भावना का हाथ बढ़ाया। सांस्कृतिक तथा आर्थिक हितों की सामान्यता पर बल दिया।

भारतीय राज्यों का भारतीय संघ में तीन विषयों के लिए भी सम्मिलित होना कितना कठिन था इसका अनुमान इस बात से हो सकता है कि 1937-39 ई. के मध्य ये राज्य इन तीन विषयों पर भी संघ में सम्मिलित नहीं हुए थे। इसके अतिरिक्त 1947 ई. में दो अन्य कठिनाइयां भी थीं–एक जिन्ना द्वारा राज्यों को पथभ्रांत करना और दूसरा कुछ नरेशों का अपने आपको पूर्ण स्वतंत्र घोषित करने तथा दोनों डोमिनियनों से कूटनीतिक संबंध स्थापित करने का प्रयत्न जैसे जोधपुर, भोपाल के शासकों ने किए। लार्ड माउंटबेटन ने राज्य नरेशों को भौगोलिक तथा ऐतिहासिक बंधनों का स्मरण दिलाया और राज्यों को दो दस्तावेजों पर हस्ताक्षर करने का परामर्श दिया। (1) इंस्ट्रूमेंट आफ एक्सेशन (2) स्टेंडस्टिल एग्रीमेंट।

इंस्ट्रूमेंट ऑफ एक्सेशन (प्रवेश पत्र) वह पत्र था जिस पर हस्ताक्षर करके कोई भी राजा भारतीय संघ में सम्मिलित हो सकता था और प्रतिरक्षा, विदेशी मामले तथा यातायात एवं संचार व्यवस्था का उत्तरदायित्व संघीय सरकार को सौंप देता था। स्टेंडस्टिल एग्रीमेंट के अनुसार उस व्यावहारिक स्थिति को स्वीकृति प्रदान करना होता था जो अंग्रेजी साम्राज्य में केंद्रीय सरकार को उपलब्ध थी। सरदार पटेल ने 15 अगस्त, 1947 ई. के पूर्व जूनागढ़, हैदराबाद और कश्मीर को छोड़कर अन्य सब राज्यों को भारतीय संघ में सम्मिलित होने के लिए सहमत करा लिया। इस कार्य में सफलता का रहस्य यह था कि सरदार पटेल ने राजाओं को भौगोलिक, आर्थिक तथा जनता की इच्छाओं का ध्यान रखकर कार्य करने के लिए कहा। जूनागढ़ के शासक ने 15 अगस्त, 1947 ई. को पाकिस्तान में सम्मिलित होने की घोषणा की लेकिन जनता का असंतोष इतना अधिक बढ़ा कि उसे अपनी जान बचाने के लिए पाकिस्तान भाग जाना पड़ा और जूनागढ़ भारत में सम्मिलित हुआ। हैदराबाद का निजाम भी स्वयं को पूरी तरह स्वतंत्र समझता था। निजाम की सबसे बड़ी महत्त्वाकांक्षा अधिक से अधिक सेना, जवाहरात एकत्र करने की थी। कहा जाता है कि उसकी व्यक्तिगत संपत्ति 300 करोड़ की थी। उसने राजसत्ता का अपने हाथों में केंद्रीयकरण किया हुआ था। वह प्रजातंत्र को अत्यंत दूषित प्रणाली समझता था और राजा के अधिकारों को दैवीय मानता था। नवंबर, 1947 ई. में निजाम ने भारत के साथ स्टेंडस्टिल एग्रीमेंट पर हस्ताक्षर किए। कश्मीर की समस्या अधिक जटिल रही। स्वतंत्रता प्राप्ति के शीघ्र बाद ही पाकिस्तान की ओर से कुछ कबाइलियों ने उस पर आक्रमण कर दिया। कश्मीर का शासक उसे रोक सकने में असमर्थ रहा। आक्रमणकारी तेजी से आगे बढ़ते चले गए। राज्य को सुरक्षित रखने के लिए वहां के महाराजा ने 26 अक्तूबर, 1947 ई. को भारतीय संघ में सम्मिलित होना स्वीकार किया। भारतीय सेनाओं ने कश्मीर की सुरक्षा की उचित व्यवस्था की और आक्रमणकारियों को हटाकर पीछे धकेल दिया। 31 दिसंबर, 1947 ई. को भारत ने संयुक्त राष्ट्र संघ से अनुरोध किया कि वह पाकिस्तान को उत्तर-पश्चिमी कबाइलों को भारत आक्रमण से सहायता देने से रोके। सुरक्षा परिषद् इस समस्या को सुलझाने में पूर्णतया असमर्थ रही। 1 जनवरी, 1949 ई. को भारत पाकिस्तान में युद्ध विराम पर हस्ताक्षर हुए। सुरक्षा परिषद् द्वारा इस समस्या को सुलझाने में कोई प्रगति नहीं हुई।

भारतीय राज्यों में प्रजातंत्रीय व्यवस्था

भारतीय संघ में सम्मिलित हो जाने के पश्चात् सरदार पटेल इन राज्यों में प्रजातंत्रीय प्रणाली स्थापना को प्रोत्साहन देना चाहते थे। उन्होंने नरेशों को परामर्श दिया कि अंग्रेजी नियंत्रण को केवल जन आंदोलन के माध्यम से ही समाप्त किया गया था। इसलिए राजसत्ता का प्रयोग जनता द्वारा ही होना चाहिए। नरेशों के निरंकुश अधिकारों को अंग्रेजों द्वारा समर्थन मिलता था इसलिए वे बचे रहते थे। भारत सरकार ने नरेशों की निरंकुशता का समर्थन करने से इंकार कर दिया। साथ ही यह चेतावनी भी दी कि वह देश में अशांति तथा अव्यवस्था फैलने भी नहीं देगी। इस प्रकार राज्यों के नरेशों को उनकी विवशता स्पष्ट दिखाई दी। दूसरी ओर सरदार पटेल ने नरेशों की सहमति प्राप्त करने के लिए उनकी व्यक्तिगत संपत्ति तथा अधिकारों को सुरक्षित रखने का आश्वासन दिया। सभी नरेशों ने सरकार की बात स्वीकार की और इस प्रकार एक रक्तहीन क्रांति को सफल बनाने में योगदान दिया।

प्रजातंत्रीय प्रशासन की स्थापना की संभावना से एक अन्य परिवर्तन भी आवश्यक हुआ। प्रत्येक राज्य इस योग्य नहीं था कि वह जनकल्याण के लिए साधन उपलब्ध करा सके। इसलिए छोटे राज्यों के अस्तित्व का औचित्य नहीं था। सरदार पटेल ने दो प्रकार की पद्धतियों को प्रोत्साहन दिया– बाह्य विलय तथा आंतरिक संगठन। बाह्य विलय में छोटे-छोटे राज्यों को मिलाकर अथवा पड़ोसी प्रांतों में विलय करके एक बड़ा राज्य बनाना। आंतरिक संगठन के आधार पर इन राज्यों में प्रजातंत्रीय प्रणाली की स्थापना जिससे सामान्य जनता का सहयोग दैनिक प्रशासन में उपलब्ध हो सके। दिसंबर, 1947 ई. में उड़ीसा और छत्तीसगढ़ के 39 राज्यों का उड़ीसा तथा मध्य प्रांत में विलय हुआ। बंबई प्रदेश के साथ 17 दक्षिणी राज्यों का फरवरी, 1948 ई. में और गुजरात और काठियावाड़ राज्यों का जून, 1948 ई. में विलय हुआ। पूर्वी पंजाब, पटियाला तथा पहाड़ी राज्यों का एक संघ बनाया गया जिसे 'पेप्सू' कहा गया। इसी आधार पर मत्स्य, विंध्य प्रदेश, राजस्थान का निर्माण किया गया। राजस्थान संघ बनाने में सबसे पहले दक्षिणी पूर्वी राज्यों ने– बांसवाड़ा, बूंदी, डूंगपुर, झालावाड़, किशनगढ़, कोटा, प्रतापगढ़, शाहपुरा और टोंक–भाग लिया। इसकी स्थापना 25 मार्च, 1948 ई. को हुई। उदयपुर भी इस संघ में अप्रैल, 1948 ई. में सम्मिलित हुआ। राजस्थान के चार विशाल क्षेत्रफल वाले राज्यों–जयपुर, जोधपुर, बीकानेर, जैसलमेर–ने भी इस संघ में सम्मिलित होना स्वीकार किया। 30 मार्च, 1949 ई. को सरदार पटेल ने राजस्थान संघ का उद्घाटन किया। 15 मई, 1949 ई. को मत्स्य संघ भी राजस्थान संघ में सम्मिलित हो गया।

भारतीय राज्यों का शांतिपूर्वक भारतीय संघ अथवा प्रांतों के साथ विलय सरदार पटेल की अभूतपूर्व सफलता थी। केवल हैदराबाद में शांति स्थापना के लिए सेना को हस्तक्षेप करना पड़ा और वह भी इसलिए कि निजाम ने अपनी सेना के बल पर राज्य में अत्याचार आरंभ कर दिए थे। भारत विभाजन से जितने क्षेत्र तथा जनसंख्या की हानि हुई भारतीय राज्यों के विलय से वह क्षति पूरी हुई।

नेताजी सुभाषचंद्र बोस

भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन तथा स्वतंत्रता संग्राम में सुभाषचंद्र बोस का नाम भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। वे स्वतंत्रता संग्राम के वीर सेनानी थे। उनके महान त्याग और बलिदान के कारण उनको 'नेताजी' कहा जाता था। सुभाष चंद्र का जन्म 23 जनवरी, 1897 को कटक में हुआ था। वे अत्यंत मेधावी छात्र थे। उन्होंने आइ.सी.एस. की परीक्षा में सफलता प्राप्त की थी। लेकिन, देशसेवा की भावना ने उन्हें पदत्याग करने के लिए बाध्य कर दिया। वे महात्मा गांधी के कार्यक्रमों से प्रभावित नहीं थे। वे नेताजी देशबंधु चितरंजन दास से मिले। वे चितरंजन दास से काफी प्रभावित हुए। वे उनके शिष्य तथा सहयोगी बन गए। 1921 ई. में सुभाषचंद्र बोस देशबंधु चितरंजन दास द्वारा स्थापित राष्ट्रीय कॉलेज के प्राचार्य नियुक्त हुए। बोस को महात्मा गांधी द्वारा संचालित आंदोलन में राष्ट्रीय स्वयंसेवक दल का कमांडर बनाया गया। प्रिंस ऑफ वेल्स के बहिष्कार-संबंधी आंदोलन में नेताजी ने भाग लिया और गिरफ्तार कर लिए गए। जब स्वराज दल का गठन किया गया तब उसके प्रचार की जिम्मेवारी नेताजी ने अपने ऊपर ली। जब कलकत्ता कॉरपोरेशन में उनके दल की विजय हुई तब उन्हें मेयर बनाया गया। उन्होंने बड़ी तत्परता से अपने कार्यों का संपादन किया। 1925 ई. में बंगाल अराजक आदेश के अंतर्गत उन्हें जेल भेज दिया गया। जेल से छूटने पर उन्होंने अपना समय रचनात्मक कार्यों की ओर लगा दिया। उन्होंने गांधी -इरविन समझौते का घोर विरोध किया। उन्होंने एक अलग दल बनाया जिसका नाम उन्होंने 'इंडिपेंडेंस लीग' रखा। साइमन कमीशन के बहिष्कार में उन्होंने महात्मा गांधी की नीतियों की तीव्र आलोचना की। जब गांधीजी गोलमेल सम्मेलन से खाली हाथ लौटे और पुन: उन्होंने सत्याग्रह आंदोलन चलाया तब नेताजी को कैद कर लिया गया। जब उनका स्वास्थ्य खराब हुआ तब इलाज के लिए वे यूरोप गए। वहां उन्होंने एक व्यक्तव्य दिया, "राजनीतिक नेता के रूप में महात्मा गांधी असफल रहे हैं और कांग्रेस को नए सिरे से संगठित करना चाहिए। यदि ऐसा न किया गया तो एक नया दल स्थापित करना पड़ेगा।" 1939 ई. में महात्मा गांधी से उनका मतभेद काफी बढ़ गया और गांधीजी के विरोध के बावजूद उन्हें कांग्रेस का अध्यक्ष चुना गया। उस अवसर पर गांधीजी ने कहा था, "पट्टाभि की हार मेरी हार है।" अंत में, सुभाषजी ने कांग्रेस से त्यागपत्र दे दिया। उन्होंने एक नए दल का गठन किया, जिसे फॉरवर्ड ब्लॉक कहते हैं। नेताजी को गांधीजी के असहयोग आंदोलन में विश्वास नहीं था। इसके बावजूद नेताजी ने गांधीजी को पूज्य तथा सर्वोत्तम महापुरुष कहा।

जब द्वितीय विश्वयुद्ध प्रारंभ हुआ तब नेताजी ने सक्रिय आंदोलन करने के लिए जनता का आह्वान किया। नेताजी को उनके मकान में नजरबंद कर दिया गया। 26 जनवरी, 1941 को वे अचानक अपने घर से गायब हो गए। यह कहा जाता है कि वे काबुल और जर्मनी होते हुए जापान पहुंचे। बाद में उन्होंने आजाद हिंद फौज का नेतृत्व संभाला। नेताजी के नेतृत्व में इस सेना ने अंग्रेजों से लोहा लिया और उन्हें हराते हुए वह इंफाल तक पहुंच गई। लेकिन, युद्ध में जापान की पराजय से आजाद हिंद फौज के अफसरों को गिरफ्तार कर लिया गया। यह कहा जाता है कि उसी समय वायुयान दुर्घटना में नेताजी की मृत्यु हो गई।

उपर्युक्त तथ्यों से यह स्पष्ट होता है कि नेताजी एक वीर और साहसी पुरुष थे। आजाद हिंद फौज की स्थापना कर उन्होंने अपार साहस और उत्साह का परिचय दिया। उनकी यह धारणा थी कि भारत की स्वतंत्रता बाह्य शक्तियों की सहायता और शस्त्र द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है। वे एक क्रांतिकारी पुरुष थे। उनके संबंध में पट्टाभि सीतारमैया ने कहा है, "सुभाष बाबू का जीवन एक इतिहास है, वह अति आकर्षक है तथा गुत्थियों से उलझा हुआ है, बचपन से ही झंझावातों से परिपूर्ण है। वह रहस्यवाद और वास्तविकता तथा धार्मिक भावना और व्यावहारिकता का अनोखा सम्मिश्रण है।"

आजाद हिन्द फौज

द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान रूस तथा जर्मनी में युद्ध छिड़ गया और सुदूर पूर्व में जापानी साम्राज्यवाद अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया। 15 फरवरी, 1942 ई. को जापानियों ने सिंगापुर पर अधिकार कर लिया। इन परिस्थितियों के मध्य 28 मार्च, 1942 ई. को रास

बिहारी बोस ने टोक्यो में एक सम्मेलन बुलाया। इसमें यह तय किया गया कि भारतीय अफसरों के अधीन एक भारतीय राष्ट्रीय सेना संगठित की जाए। 23 जून, 1942 ई. को बर्मा, मलाया, थाइलैण्ड, हिन्दचीन, फिलीपीन्स, जापान, चीन, हांगकांग तथा इण्डोनेशिया के प्रतिनिधियों का एक सम्मेलन रास बिहारी बोस की अध्यक्षता में बैंकाक में हुआ।

इस बीच जापानियों ने उत्तरी मलाया में ब्रिटिश सेना को पराजित किया। वहाँ पहली भारतीय बटालियन के कप्तान मोहन सिंह तथा उनके सैनिकों को आत्मसमर्पण करना पड़ा। जापानियों के कहने पर वे भारत की स्वतंत्रता के लिए उनसे सहयोग करने को तैयार हुए। सिंगापुर के 40,000 भारतीय युद्धबंदी मोहन सिंह को सुपुर्द किए गए। मोहन सिंह की इच्छा थी कि आजाद हिन्द फौज की स्वतंत्र कार्यवाही के लिए उसे स्वाधीन रखा जाए। परन्तु जापानी इससे सहमत नहीं थे। परिणामस्वरूप दोनों पक्षों में तनाव बढ़ गया और मोहन सिंह गिरफ्तार कर लिए गए परंतु बाद में उन्हें रिहा किया गया।

फरवरी, 1943 ई. में सुभाष बोस एक जापानी पनडुब्बी का सहारा लेते हुए टोक्यो पहुँचे। जापान के प्रधानमंत्री ने उनका स्वागत किया। सिंगापुर में रास बिहारी बोस ने आजाद हिन्द फौज का नेतृत्व सुभाष चन्द्र बोस को सौंप दिया। सुभाष चन्द्र बोस ने 'दिल्ली चलो' का नारा दिया उन्होंने आजाद हिन्द फौज को लेकर हिन्दुस्तान जाने की घोषणा की। जापान ने सबसे पहले आजाद हिन्द फौज की अस्थायी सरकार को मान्यता प्रदान की। जापान ने 31 दिसम्बर, 1943 ई. को अण्डमान एवं निकोबार इस सरकार को सौंप दिया। इनका नाम क्रमशः शहीद और स्वराज रखा गया।

जनवरी, 1944 ई. में आजाद हिन्द फौज के कुछ दस्ते रंगून पहुँचे। सुभाष चन्द्र बोस ने सेना की कुछ टुकड़ियों को रंगून में रखने का तथा कुछ को लेकर आगे बढ़ने का निश्चय किया। मई, 1944 ई. तक आजाद हिन्द फौज की कुछ सैनिक कोहिमा तक जा पहुँचे। इस स्थान पर अधिकार करके उन्होंने भारतीय तिरंगा झण्डा फहराया। ब्रिटिश सेनाओं ने विभिन्न भागों से बढ़ रहे आजाद हिन्द फौज की टुकड़ियों पर भारी हमला कर दिया, परन्तु इस संकटपूर्ण परिस्थिति में जापानियों ने उन्हें सहायता नहीं पहुँचाई। प्रारंभिक सफलता के बावजूद भूखमरी और बीमारी के कारण आजाद हिन्द फौज के सैनिकों की दशा बिगड़ने लगी। इसका लाभ उठाकर 1944 ई. के मध्य में अंग्रेजों ने पुनः बर्मा पर कब्जा कर लिया।

यद्यपि आजाद हिन्द फौज के सैनिकों ने देश प्रेम की भावना से प्रेरित होकर कई कठिनाइयों का सामना किया, परन्तु वे अपने लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सके। इसका वास्तविक कारण अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियां थी। आजाद हिन्द फौज के नेताओं को यह अहसास था कि धूरी राष्ट्र की जीत होगी, लेकिन सुभाष चन्द्र बोस के टोक्यो पहुँचने तक फासिस्ट शक्तियों की हार शुरू हो गई थी। इसके अतिरिक्त जापान ने शुरू से ही आजाद हिन्द फौज को स्वतंत्र रूप से काम नहीं करने दिया तथा समुचित सहायता प्रदान नहीं की। आजाद हिन्द फौज के पास अच्छे अस्त्रों, (शस्त्रों), धन तथा रसद की कमी हमेशा बनी रही। इसके अतिरिक्त ब्रिटिश सरकार ने भारत की सीमा पर उनके विरुद्ध सशस्त्र सेनाएं भेजी, जिसके सामने आजाद हिन्द फौज असफल रहा। परन्तु उनका बलिदान बेकार नहीं गया। उन्होंने जनता में देश प्रेम की भावना भर दी तथा ब्रिटिश सरकार पर दबाव बनाए रखा।

आजाद हिन्द फौज का मुकद्दमा

1945 ई. में आजाद हिन्द फौज में सिपाहियों द्वारा समर्पण के बाद सरकार उन पर निष्ठा की शपथ (सरकार के प्रति) तोड़ने के आरोप में लालकिले में मुकद्दमा चलाने का निर्णय लिया। सरकार के इस निर्णय के विरुद्ध पूरे देश में आंदोलन शुरू हो गए, कांग्रेस ने आजाद हिन्द फौज के सिपाहियों को बचाने के लिए 'आजाद हिन्द बचाव समिति' गठित की। भूलाभाई देसाई बचाव पक्ष के वकीलों में प्रमुख थे। उनका सहयोग करने के लिए तेज बहादुर सप्रू, काटजू, नेहरू तथा गोविन्द सिंह ने भी अदालत में बहस की। आजाद हिन्द फौज के सिपाही सरदार गुरु बख्श सिंह, श्री प्रेम सहगल एवं शाहनवाज पर मुकद्दमा चलाया गया। संक्षिप्त मुकद्दमे के बाद इन्हें फाँसी की सजा सुनाई गई। सरकार के इस निर्णय ने पूरे देश को स्तब्ध कर दिया। लोगों के हस्ताक्षर सभाओं के दौर ने वायसराय को अपना विशेष अधिकार प्रयोग कर तीनों की फांसी माफ करने को विवश कर दिया। इस आंदोलन ने पूरे राष्ट्र में एक अनोखी एकता की मिसाल कायम की तथा ब्रिटिश सरकार को झुकने पर मजबूर किया।

भगत सिंह

भगत सिंह देश की आजादी के लिए अपने प्राण की आहुति देनेवाले इकलौते क्रांतिकारी नहीं थे, यह सच है। लेकिन ये भगत सिंह ही हैं, जिन्हें शहीदे आजम के रूप में जाना जाता है। इसकी कई ठोस वजहें हैं। वे एक ऐसे भारत का सपना संजोए थे, जिसमें 'मनुष्य मनुष्य का शोषण' नहीं करेगा और गोरे आकाओं के साथ-साथ काले अंग्रेजों अर्थात देसी लुटेरों की लूट-खसोट का भी अंत होगा। भगत सिंह के लिए आजादी महज रोमानियत भरी इच्छा की पूर्ति नहीं थीं, बल्कि वे इसके जरिए देश के नौजवानों, बुद्धिजीवियों मजदूरों व किसानों को आजादी की लड़ाई में भाग लेने के लिए प्रेरित करना चाहते थे। उनका स्पष्ट मत था कि आजादी और क्रांति एक गंभीर सृजनात्मकता का काम है और देश-दुनिया को जाने बिना औपनिवेशिक शासकों को हराना मुश्किल है। उनका यह भी मानना था कि केवल विदेशी शासकों से मुक्ति पा लेने से ही दरिद्रता और लूट खसोट का अंत नहीं होगा।

भगत सिंह कुर्बानी का प्रतीक ही नहीं, बल्कि वैचारिक क्रांति के तौर पर भी आजादी की लड़ाई के प्रतीक बने। इस महान क्रांतिकारी ने शहीद होने के दिन (23 मार्च, 1931) तक जो साहित्य जेल में मंगाकर पढ़ा, उसकी सूची पर एक निगाह डालने से ही पता चल जाएगा कि उनके विचारों की नींव कितनी मजबूत थी। उन्होंने मार्क्स, लेनिन, बर्नाड शॉ, गोर्की, आदम स्मिथ, बर्टन रसेल की महत्त्वपूर्ण पुस्तकों के साथ-साथ भारतीय भाषाओं में उपलब्ध समकालीन साहित्यिक और वैचारिक ग्रंथों का गहराई से अध्ययन किया।

भगत सिंह, जिन्हें 23 वर्ष से भी कम उम्र में फांसी पर लटका दिया गया, ने अपने छोटे से जीवनकाल में भारत के क्रांतिकारी आंदोलन को नई दिशा दी। उनके और चंद्रशेखर आजाद के साझा नेतृत्व में 8 और 9 सितंबर, 1928 को दिल्ली के फिरोजशाह कोटला के खंडहरों में हिंदुस्तानी समाजवादी प्रजातंत्र संघ की स्थापना की गई, जिसका भगत सिंह ने स्वयं घोषणापत्र लिखा। भगत सिंह के वैचारिक नेतृत्व में ही नौजवान-भारत सभा की स्थापना की गई। जिसका घोषणापत्र और कार्यक्रम भी भगत सिंह के द्वारा ही लिखे गए। ये दस्तावेज आज भी प्रासंगिक हैं।

कवि, गायक और चिन्तक के रूप में

भगत सिंह मौत से बेखौफ एक भावुक इंकलाबी ही नहीं थे, बल्कि एक चिंतक, लेखक, कवि, गायक और अभिनेता भी थे। भगत सिंह ने अछूत समस्या, भारत में भाषा और लिपि से जुड़ी समस्याएं, धर्म व स्वतंत्रता संग्राम और सांप्रदायिक दंगे जैसे विषयों पर उर्दू, हिंदी, पंजाबी में मौलिक रचनाएं लिखी। उन्होंने हिंसा के प्रयोग पर गांधीजी के साथ एक लंबी बहस में हिस्सा लिया। भगत सिंह ने अपनी छोटी सी उम्र में 'मैं नास्तिक क्यों' शीर्षक से एक दार्शनिक निबंध लिखा। जिसका विश्व की लगभग हर भाषा में अनुवाद हो चुका है। उन्होंने जेल में चार पुस्तकें 'आत्मकथा', 'समाजवाद का आदर्श', 'भारत में क्रांतिकारी आंदोलन' और 'मृत्यु के द्वार पर' भी लिखी थी, जिनके मसौदे विदेशी हुकूमत के कब्जे में थे। इन मसौदों को कब और कैसे गायब किया गया, यह कोई नहीं जानता।

भगत सिंह उच्च दर्जे के कवि थे, इसका अनुमान उनकी इन पंक्तियों से लगाया जा सकता है-

'मैं तूफानों से खेलूंगा, मैं गर्दाबों को झेलूंगा

लबे-दरिया मुझे डर-डर के मर जाना नहीं आता'।

भगत सिंह ने सुरीला गला पाया था। जेल के संगी साथी उनके गाने सुनकर अपनी उदासी भुला देते थे। उन्होंने कई नाटक भी लिखे और उन्हें जेल में खेला भी। भगत सिंह ने इन नाटकों में स्वयं भूमिकाएं भी कीं। यह सब विरासत नष्ट कर दी गई।

भगत सिंह मानते थे कि कांग्रेस की लड़ाई मध्य वर्ग के हित में है। उससे मजदूर-किसान जनता का हित नहीं होगा- 'भारत की वर्तमान लड़ाई ज्यादातर मध्य श्रेणी के बल-बूते पर लड़ी जा रही है, जिनका लक्ष्य बहुत सीमित है। कांग्रेस दुकानदारों और पूंजीपतियों के द्वारा इंग्लैड पर आर्थिक दबाव डालकर कुछ अधिकार ले लेना चाहती है, परंतु जहां तक देश की करोड़ों मजदूर-किसान जनता का ताल्लुक है, उनका उद्धार इतने से नहीं हो सकता।'

अंग्रेजी हुकूमत भगत सिंह के व्यक्तित्व से ज्यादा उनके विचारों से खौफ खाती थी। इसलिए विदेशी हुक्मरानों ने उन्हें सूली पर लटकाने में तत्परता दिखाई।

मुहम्मद अली जिन्ना

मुहम्मद अली जिन्ना भारत के एक प्रमुख राजनेता थे। 1947 में देश के विभाजन के बाद वे पाकिस्तान के पहले गवर्नर जनरल बने। उनका जन्म 1876 में बम्बई के एक खोजा परिवार में हुआ था। संभ्रांत परिवार में जन्म लेने के कारण उनकी परवरिश एक अच्छे माहौल में हुई तथा उन्होंने विदेशों में शिक्षा प्राप्त की। वे उच्च कोटि के शिक्षाविद् एवं न्यायविद् थे। उन्होंने कुछ समय तक बम्बई हाई कोर्ट ने वकालत भी की। पर राष्ट्रीय भावना से प्रेरित होकर वे स्वतंत्रता संग्राम में कूद पड़े।

जिन्ना और कांग्रेस

जिन्ना की आरंभिक राजनीति कांग्रेस के साथ शुरू हुई। वे गोखले के सचिव के रूप में राजनीति में शामिल हुए। उन पर गोखले का गहरा प्रभाव था। जिन्ना ने मुस्लिम लीग की स्थापना को सांप्रदायिक निर्णय बताया एवं पृथक निर्वाचक मंडल के प्रति असहमति प्रकट की। वे ऐसे प्रखर मुस्लिम नेता थे जिन्होंने लीग और कांग्रेस को साथ लाने में मुख्य भूमिका निभाई। 1916 में कांग्रेस-लीग समझौते में उनकी मुख्य भूमिका थी। उन्हीं के प्रयास से लीग ने स्वराज के लिए संघर्ष को अपना मुख्य मुद्दा बनाया।
1916 से 1924 तक कांग्रेस एवं लीग में एकता बनी रही। पर 1922 में असहयोग आंदोलन के वापस लिए जाने, खिलाफत का मुद्दा समाप्त हो जाने एवं समाजवाद के बढ़ते प्रभाव के कारण लीग और कांग्रेस के बीच दूरी बढ़ने लगी। इस दौर में जिन्ना का झुकाव भी मुस्लिम हितों के प्रति बढ़ा।

मुस्लिम हितों के प्रति झुकाव

जिन्ना ने 1928 में प्रस्तुत नेहरू रिपोर्ट को अस्वीकार कर दिया एवं खुलकर मुसलमानों के हितों की बात की। इसके लिए उन्होंने कांग्रेस के सामने अपनी 14 सूत्री मांग प्रस्तुत की। कांग्रेस ने इस मांग को अस्वीकार कर दिया क्योंकि वह हिंदू और मुसलमानों के लिए अलग-अलग व्यवस्था नहीं चाहती थी। अब कांग्रेस एवं जिन्ना के रास्ते अलग-अलग हो गए। जिन्ना ने कांग्रेस के सम्मेलनों का बहिष्कार किया। अब वे खुलकर मुस्लिम हितों की बात करने लगे। परिस्थिति की नजाकत को समझकर अंग्रेजी सरकार ने जिन्ना को हर संभव प्रोत्साहन दिया। 1930 में आयोजित प्रथम गोलमेज सम्मेलन का कांग्रेस ने बहिष्कार किया, लेकिन जिन्ना लीग के प्रतिनिधि के रूप में इसमें शामिल हुए। इस प्रकार कांग्रेस के साथ जिन्ना की दूरी बढ़ती गई।

पाकिस्तान की मांग

1931 में इकबाल ने सर्वप्रथम मुसलमानों के लिए एक अलग राष्ट्र की मांग की। इसे पाकिस्तान नाम दिया गया। लीग की राजनीति के लिए यह अमृत वाण था। लीग ने इस मांग को अपना लिया। 1940 में लीग के अधिवेशन में खुले तौर पर द्वि-राष्ट्र की मांग की गई।

जिन्ना की राजनीतिक महत्वाकांक्षा

1937 के चुनाव में लीग को करारी हार का सामना करना पड़ा। इसके कारण जिन्ना की राजनीतिक हैसियत कमजोर पड़ने लगी। उनके सामने दो ही विकल्प थे- या तो राजनीति छोड़कर वकालत के पेशे में वापस लौटना या आक्रामक सांप्रदायिक राजनीति को बढ़ावा देना। जिन्ना ने इस दूसरे रास्ते को चुना। उन्होंने अब सांप्रदायिकता का खुलकर पक्ष लिया। इसी समय उन्होंने मुस्लिम बहुल क्षेत्रों में जनसंपर्क अभियान चलाया। बंगाल एवं उत्तर प्रदेश के कई क्षेत्रों में हिंसक दंगे हुए। इसमें कहीं न कहीं लीग की सक्रियता भी सामने आई। इन सब का परिणाम 1946 के चुनावों में देखने को मिला, जब लीग को मुस्लिम बहुल क्षेत्रों में व्यापक जन समर्थन मिला। वास्तव में लीग और जिन्ना का बढ़ता प्रभाव मुस्लिम समुदाय में कांग्रेस के सिमटते प्रभाव का ही परिणाम था।

जिन्ना और देश का विभाजन

1946 के चुनाव परिणाम इस बात के स्पष्ट संकेत थे कि कांग्रेस समाज के सभी वर्गों को साथ लेकर चलने एवं उन्हें एक राष्ट्र के रूप में ढालने में असफल रही है। यहां तक कि जिन्ना जैसे पूर्व कांग्रेसी एवं उदार नेता को भी विश्वास में लेने में वह असफल

रही। लीग के अंतरिम सरकार में शामिल होने से भी समस्या का हल नही निकाला जा सका। कांग्रेस और लीग एक ही सरकार के हिस्से बनकर काम करने को तैयार नहीं थे। गांधी की इस मांग को कि जिन्ना को प्रधानमंत्री बना दिया जाए, कांग्रेस ने अस्वीकार कर दिया। इस प्रकार वास्तविक समस्या सत्ता के बंटवारे को लेकर पैदा हुई। ऊपर से प्रांतों में होने वाले सांप्रदायिक दंगों ने माहौल को और भी बिगाड़ रखा था। अंग्रेजों के लिए भी यह बेहतर मौका था कि भारत छोड़ने से पहले उसे राजनीतिक रूप से जितना संभव हो कमजोर कर दिया जाए।

विभाजन का सच

कांग्रेस और लीग की राजनीतिक महत्वाकांक्षाएं अपनी जगह थी, पर पर्दे के पीछे वास्तविक खेल ब्रिटिश सरकार खेल रही थी। उपनिवेशों से अपने साम्राज्य समटते समय उन्हें राजनीतिक रूप से कमजोर करने की साजिश उनकी सोची-समझी राजनीति का हिस्सा था। ऐसा उन्होंने भारत में ही नहीं कई राष्ट्रों में किया था।

पाकिस्तान की मशहूर इतिहासकार आयशा जलाल कहती हैं- जिन्ना मुस्लिम लीग को एक बारगेनिंग काउंटर के रूप में इस्तेमाल कर रहे थे ताकि मुसलमानों के लिए अधिक से अधिक लाभ और सुविधाएं प्राप्त की जा सकें। वे देश का विभाजन नहीं चाहते थे और धार्मिक आधार पर तो कदापि नहीं। यही कारण है कि पाकिस्तान के पहले गवर्नर जनरल बनने के बाद उन्होंने पाकिस्तान को एक धर्मनिरपेक्ष राज्य घोषित किया।

मॉडल उत्तर

प्रश्न : विदेशी शक्ति को हटा लिया जाएगा लेकिन मेरे अनुसार वास्तविक स्वतंत्रता का तभी आगमन होगा जब हम अपने आपको पश्चिमी शिक्षा, पश्चिमी संस्कृति और पश्चिमी जीवन शैली से मुक्त कर लेंगे, जो हमारे अंदर कूट-कूट कर भर दी गई है। (150 शब्द) 2009

उत्तर : भारत में ब्रिटिश सत्ता की स्थापना के बाद आधुनिक पश्चिम के विचार एवं संस्कृति के साथ हमारा संबंध स्थापित हुआ। धीरे- धीरे हम पश्चिमी जीवन शैली को भी अपनाने लगे। इस प्रकार हम पर पश्चिम के संस्कार एवं विचार हावी होने लगे। आरंभिक राष्ट्रवादी चिंतक एवं नेता भी ब्रिटिश शासन एवं पश्चिमी विचार को भारत के लिए उपयोगी मानते थे। भारत के आधुनिकीकरण के लिए भी वे इसे आवश्यक मानते थे।

पर भारत में अंग्रेजी शिक्षा एवं संस्कृति के प्रसार के पीछे अंग्रेजों की मनसा इससे भिन्न थी। वे सिर्फ यही सोचते थे कि इसके कारण भारतीय अपनी परंपरा से कट जाएंगे एवं पश्चिमी शिक्षा एवं संस्कार को अपनाते हुए ब्रिटिश सरकार के और स्वामीभक्त हो जाएंगे।

अंग्रेजों की इस मंशा को सबसे पहले गांधी जैसे नेता ने पहचानी। आरंभ में उन पर भी पश्चिमी शिक्षा एवं रहन सहन का काफी असर था। पर दक्षिण अफ्रीका में राजनीतिक जीवन शुरू करते हुए उन्होंने कई बातें सीखी, जैसे-सत्ता का विरोध सिर्फ राजनीतिक ही नहीं सामाजिक-सांस्कृतिक भी होना चाहिए। उन्होंने महसूस किया की अपनी राष्ट्रीय शिक्षा, परंपरा और संस्कार को मजबूत किए बिना ताकतवर साम्राज्यवादी शक्ति से लड़ना संभव नहीं है। भारतीय राजनीति में गांधी का प्रवेश इसी विचार के साथ हुआ। गांधी ने पश्चिमी पोशाक त्याग दी एवं धोती धारण किया। विदेशी वस्त्रों एवं विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार, स्वदेशी को अधिक से अधिक बढ़ावा देना, ग्राम स्वराज एवं राम राज्य जैसी अवधारणाओं को इसी संदर्भ में समझा जा सकता है। गांधी के लिए स्वतंत्रता का मतलब सिर्फ विदेशी सत्ता से मुक्ति नहीं था। बल्कि विदेशी मानसिकता, विचार, संस्कार और जीवन शैली से भी मुक्ति था।

प्रश्न : महात्मा गाँधी की 'बेसिक शिक्षा' की अवधारणा की विवेचना कीजिए रूढ़िगत शिक्षा पद्धति से यह कहाँ तक भिन्न है? (1997) (150 शब्दों में)

उत्तर : गाँधीजी द्वारा बेसिक शिक्षा की विचारधारा को विकसित किया गया था, जिससे व्यक्तिगत और सामाजिक रचनात्मक गुणों

को विकसित करने का अवसर मिलता है। गाँधीजी के अनुसार शिक्षा आत्मनिर्भर व राष्ट्रीय आवश्यकताओं के अनुसार होना चाहिए। इसके तहत् शारीरिक प्रशिक्षण, स्वच्छता तथा स्वावलंबन पर बल प्रदान करने की बात गाँधीजी द्वारा कही गई। उनके अनुसार शिक्षा किसी न किसी प्रकार हस्तकला से संबंधित होनी चाहिए। शिक्षा को रोजगारपरक बनाने की बात भी गाँधीजी के द्वारा कही गई। उन्होंने शिक्षा प्रणाली को मैट्रिकुलेशन तक अंग्रेजी के बिना अपनाए जाने पर बल दिया। शिक्षा समस्त स्त्रियों एवं पुरुषों के लिए आवश्यक है। गाँधीजी वर्तमान परंपरागत शिक्षा पद्धति से संतुष्ट नहीं थे। क्योंकि यह शिक्षा क्रमशः विदेशी भाषा के माध्यम से दी जाती थी व ऐसी शिक्षा समाज के विकास के लिए उपयुक्त नहीं थी। रूढ़िगत शिक्षा पद्धति के अंतर्गत शिक्षा केवल ज्ञान प्राप्ति तक ही सीमित थी। लेकिन गाँधीजी द्वारा प्रस्तुत बेसिक शिक्षा की अवधारणा ज्ञान की प्राप्ति से कहीं अधिक बढ़कर रोजगार प्राप्ति तथा व्यक्ति के सर्वांगीण विकास के लिए थी। इस शिक्षा का मुख्य उद्देश्य व्यक्ति को उसके उच्चतम लक्ष्य की अनुभूति करना तथा उसे सर्वोत्तम बनाने की प्रेरणा देना था। यह शिक्षा बेरोजगारी और वर्ग-संघर्ष को समाप्त करने में सहायक सिद्ध होगी, ऐसा गाँधीजी का विश्वास था। उनके अनुसार अक्षर ज्ञान या पढ़ने-लिखने की क्षमता मात्र ही शिक्षा नहीं है।

प्रश्न : अनेक अंग्रेज ईमानदारी से अपने आपको भारत का न्यासी मानते हैं और फिर भी उन्होंने हमारे देश को किस दशा तक गिरा दिया है। (150 शब्द) 2009

उत्तर : गांधी और नेहरू भारतीय राजनीति के दो महत्वपूर्ण हस्ताक्षर हैं। दोनों के राष्ट्र निर्माण, समाज के विकास एवं समृद्धि को लेकर अपने-अपने दृष्टिकोण हैं । गांधी ने व्यापक आर्थिक हित का ध्यान रखते हुए ट्रस्टीशिप का सिद्धांत दिया। उनका मानना था कि पूंजीपति वर्ग अपने आप को देश की गरीब जनता का ट्रस्टी मानते हुए अपने पूंजी एवं लाभ का इस प्रकार विनियोजन करे जिससे आम जनता एवं राष्ट्र की समृद्धि बढ़े। इस प्रकार की व्यवस्था में पूंजीवाद को समाप्त किए बिना ही सामाजिक लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकता है।

जवाहर लाल नेहरू गांधीजी के हिंद स्वराज एवं ट्रस्टीशिप सिद्धांत के कट्टर आलोचक थे। दोनों में इस बात को लेकर पत्र व्यवहार भी हुआ। पर नेहरू गांधी की सार्वजनिक आलोचना से प्रायः बचते रहे। 1929 के लाहौर अधिवेशन में नेहरू ने गांधीजी के ट्रस्टीशिप सिद्धांत की खुलेआम आलोचना की और कहा अनेक अंग्रेज ईमानदारी से अपने आपको भारत का न्यासी (ट्रस्टी) मानते हैं और फिर भी उन्होंने हमारे देश को किस दशा तक गिरा दिया है। नेहरू का इशारा स्पष्ट था। ट्रस्टीशिप के सिद्धांत से इस देश का भला नहीं होने वाला है। यह वही समय है जब नेहरू पर समाजवाद का सर्वाधिक प्रभाव था। वे विकास की रूसी प्रणाली से काफी प्रभावित थे। पर भारत के लिए वे पूर्ण राजकीय नियंत्रण के पक्षधर नहीं थे। उनका विचार था कि पूंजीपतियों की संपति को गरीबों के हित में स्थानातरित करने के लिए राज्य का हस्तक्षेप आवश्यक है। इसे वे राजकीय पूंजीवाद कहते थे।

प्रश्न : क्या जवाहर लाल नेहरू वास्तव में गांधी की भाषा बोलते थे? उनके मध्य सहमति एवं असहमति के बिन्दुओं को स्पष्ट कीजिए। (1998) (250 शब्दों में)

उत्तर : जवाहर लाल नेहरू की गांधीजी के प्रति अत्यधिक श्रद्धा थी। नेहरू गांधीजी को भारतीय राजनीति को नेतृत्व प्रदान करने वाला व्यक्ति मानते थे। गांधीजी द्वारा दिया गया स्वराज्य का वादा जिसे नेहरू ने सुनहरी कल्पना बताया था, अविश्वसनीय था। गांधीजी स्वराज्य को नेहरू के पूर्ण स्वतंत्रता के लक्ष्य के मार्ग में नहीं आने देना चाहते थे।

गांधीजी और नेहरू में लक्ष्य और कार्य के प्रति निष्ठा की भावना के आधार पर पर्याप्त समानता देखी जा सकती है। उन्होंने निःस्वार्थ भाव से देश के प्रति कार्य किया। कई बिंदुओं पर असहमति होने के बावजूद दोनों एक-दूसरे का सम्मान करते थे। नेहरू गांधीजी से अत्यंत प्रभावित थे, उन्हें गांधीजी के नेतृत्व पर अटूट विश्वास था। गांधीजी स्वयं यह स्वीकार करते थे कि नेहरू उनकी ही भाषा बोलते हैं। नेहरू जलियांवाला बाग की घटना के बाद गांधीजी के सम्पर्क में आए, जो गांधीजी द्वारा शुरू की गई सत्याग्रह की घोषणा पर हस्ताक्षर करने वाले पहले व्यक्ति बने। नेहरू गांधीजी की तरह मानवतावादी विचार, ग्रामीण विकास को प्राथमिकता, जन आंदोलन का महत्त्व एवं देश के प्रति अगाध प्रेम का विचार रखते थे। गांधीजी द्वारा आरंभ किए गए सभी आंदोलनों जैसे असहयोग आंदोलन, सविनय अवज्ञा आंदोलन एवं रचनात्मक कार्यों को नेहरू का पूर्ण समर्थन प्राप्त था। नेहरू गाँधीजी की हिंद स्वराज की विचारधारा से पूरी तरह सहमत नहीं थे। यही कारण है कि वे भारत के विकास के लिए गांवों के विकास को अपरिहार्य नहीं मानते थे। नेहरू

का मानना था कि गांवों में आधारभूत संरचनाओं की कमी के कारण उन्हें विकास की धुरी नहीं बनाया जा सकता है। वे गांधी के ट्रस्टीशिप एवं पूर्ण अहिंसक आंदोलन में भी आस्था नहीं रखते थे। यही कारण है कि चौरी चौरा घटना के बाद जब असहयोग आंदोलन को वापस लिया गया तब उन्होंने गांधी की कुछ आलोचना की।

प्रश्न : शैतान तब तक प्रवेश नहीं कर सकता है, जबतक उसे कोई खोट दिखाई न दे जाय। एक विशाल महासागर हम कुछ ही शिक्षितों को हमारे देश के लाखों-करोड़ों से पृथक करता है। (150 शब्द) 2009

उत्तर : सांप्रदायिकता भारत में ब्रिटिश सत्ता का एक प्रमुख रिक्थ (समहंबल) है। अंग्रेजों के भारत आने के पहले भी यहां कई लोग आए और यहीं के हो गए। कुछ लोगों ने यहां की जीवन पद्धति को अपना लिया तो कुछ अपने संस्कारों के साथ स्वतंत्र रूप से रहते रहे। इस पूरी प्रक्रिया में कटुता कहीं भी नहीं थी-हां कभी-कभी स्वार्थों का टकराव अवश्य दिखता है, पर न तो इसने कभी जातीय एवं नस्लीय रूप लिया और न ही सांप्रदायिक। इस प्रकार सभी एक विशाल महासागर में बूंद के समान थे-जो इकाई से अधिक एक संघटन थे।

पर इसका एक दूसरा पक्ष भी था। वह पक्ष था - एक साथ रहते हुए भी पारस्परिक अलगाव की भावना। भारत में न तो जातीय स्तर पर सामंजस्य था और न ही धार्मिक स्तर पर। अंग्रेजों ने भारतीय समाज की इसी कमजोरी को समझा। उन्हें इसी भूमि पर ऐसा हथियार मिल गया जिसे वे यहां के लोगों के खिलाफ इस्तेमाल कर सकते थे।

अंग्रेजों ने भारत में हिन्दुओं एवं मुसलमानों के बीच विभेद पैदा करने के हर संभव प्रयास किए। कांग्रेस को हिन्दुओं का संगठन कहकर प्रचारित किया गया तो दूसरी ओर मुसलमानों को अलग संगठन बनाने की प्रेरणा दी गई। हितों के टकराव को इतना उछाला गया कि इसके कारण कई सांप्रदायिक दंगे हुए। ऐसा ही एक दंगा था - 1906-07 का बंगाल का मैमनसिंह जिले का दंगा। इस दंगे ने लोगों को झकझोर कर रख दिया। टैगोर इससे काफी आहत हुए और उन्होंने कहा-शैतान हमारे घर में तबतक प्रवेश नहीं कर सकता है, जबतक उसे कोई खोट दिखाई न दे।

प्रश्न : परमोच्च शक्ति की राज्य-अपहरण नीति के दुष्परिणामों को अपवारित कर भारत की रियासतों के समाकलन करने में सरदार बल्लभ भाई पटेल किस प्रकार सफल हुए? (1997) (250 शब्दों में)

उत्तर : 1947 ई. भारत सरकार अधिनियम द्वारा 15 अगस्त, 1947 को भारत और पाकिस्तान नामक दो स्वतंत्र, संप्रभुतासम्पन्न राष्ट्रों का जन्म हुआ। भारतीय उपमहाद्वीप की देशी रियासतों को यह अधिकार प्रदान किया गया कि वे भारत या पाकिस्तान में शामिल हों या अपना स्वतंत्र अस्तित्व बनाए रखें। इससे भारत के समक्ष एक गंभीर समस्या उत्पन्न हो गई क्योंकि बिना इन रियासतों के भारत में मिले भारत का राजनीतिक एकीकरण संभव नहीं था। यह एक विषम परिस्थिति थी जिसमें भारत में गृहयुद्ध उत्पन्न होने का खतरा था। जहां एक तरफ देशी रियासतों की प्रजा राजनीतिक अधिकारों एवं संविधान सभा में प्रतिनिधित्व के लिए मांग कर रही थी वहीं दूसरी तरफ कुछ महात्वाकांक्षी शासक अपना स्वतंत्र अस्तित्व बनाए रखने का स्वप्न देख रहे थे।

27 जून, 1947 को इस समस्या को हल करने के लिए भारत सरकार की देख-रेख में एक राज्य विभाग खोला गया जिसके अध्यक्ष सरदार वल्लभ भाई पटेल बनाए गए। 5 जुलाई, 1947 को उन्होंने देशी राजाओं से अपील की कि वे विदेश विभाग, यातायात और सुरक्षा की जिम्मेदारी भारत को सौंप दें और शेष मामलों में वे स्वतंत्र रहें। सरदार पटेल के प्रयासों के परिणामस्वरूप ही 15 अगस्त, 1947 से पूर्व जूनागढ़, कश्मीर और हैदराबाद को छोड़कर सभी रियासतों को भारतीय संघ में सम्मिलित होने के लिए सहमत कर लिया गया।

जूनागढ़ का शासक को एक मुस्लिम था वह पाकिस्तान में विलय चाहता था किन्तु वहाँ की जनता, जो अधिकांश हिन्दू थी भारत के साथ विलय के पक्ष में थी। जन-आक्रोश के कारण नवाब राज्य छोड़कर पाकिस्तान भाग गया व जूनागढ़ को भारत में सम्मिलित कर लिया गया। हैदराबाद का निजाम अपने आपको स्वतंत्र रखना चाहता था। निजाम अपनी कुटिल चालें चलता रहा और उसने पाकिस्तान से हथियार मंगवाए व रजाकारों की मदद से अराजकता फैलानी चाही। फलतः भारत सरकार को बल प्रयोग करना पड़ा, जिसके फलस्वरूप निजाम ने भी विलय-पत्र पर हस्ताक्षर कर दिए। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् ही पाकिस्तानियों ने कश्मीर में कबाइलियों के वेश में आक्रमण कर दिया। कश्मीर के महाराजा ने भारतीय संघ में शामिल होने की इच्छा प्रकट की एवं सैनिक सहायता की मांग

की। जवाबी कार्यवाही करते हुए भारत ने आक्रमणकारियों को खदेड़ दिया। इसी के साथ 26 अक्टूबर, 1947 को कश्मीर का भारत में विलय हो गया।

प्रश्न : स्वतंत्रता के लिए भारत के संघर्ष के उद्देश्य को भगत सिंह द्वारा निरूपित क्रांतिकारी आतंकवाद के योगदान का मूल्यांकन कीजिए। (250 शब्द) 2007.

उत्तर : भारतीय स्वतंत्रता का आंदोलन सीमित अर्थ में भारतीयों के लिए स्वशासन एवं प्रशासन में उनकी भूमिका के संवैधानिक मांगों से आरंभ हुआ। पर कुछ लोग ऐसे भी थे जो संवैधानिक मांगों की इस नीति एवं सीमित स्वायतता के पक्षधर नहीं थे। वे इन मांगों को भिक्षावृत्ति की संज्ञा देते थे। उनका विश्वास था कि स्वतंत्रता के लिए हिंसक एवं सशक्त आंदोलन आवश्यक है। इस प्रकार भारतीय स्वतंत्रता का आंदोलन बहु आयामी था। कम से कम इसकी दो मुख्य धाराएं थी-संविधानवादी एवं क्रांतिकारी।

क्रांतिकारी आंदोलन में विश्वास रखने वालों में भगत सिंह एवं चंद्रशेखर आजाद प्रमुख थे। ये पश्चिम के निहिलिस्ट आंदोलन से प्रभावित थे एवं संघर्ष के लिए हिंसक तरीके को स्वीकार करते थे। इन्होंने सरकारी हिंसा एवं दमन का जवाब प्रतिहिंसा से दिया। इन्होंने बदनाम अंग्रेज अधिकारियों की हत्या एवं सरकारी संपत्ति के नुकसान को अपना मुख्य लक्ष्य बनाया। इन्होंने सरकारी कोष पर भी डाका डाली। प्रफुल्ल चाकी एवं खुदीराम बोस ने जज किंग्सफोर्ड की हत्या का प्रयास किया। 1912 में दिल्ली में लार्ड हार्डिन्ज पर बम फेंका गया। भगत सिंह एवं उनके साथियों ने केन्द्रीय विधान सभा में बम फेंका। भगत सिंह का कहना था बहरों को सुनाने के लिए जोर से बोलने की आवश्यकता पड़ती है। क्रांतिकारियों ने 1925 में काकोरी नामक स्थान पर सरकारी कोष को लूट लिया।

यद्यपि क्रांतिकारियों की इस हिंसा का जवाब सरकार ने उससे भी बड़ी हिंसा से दिया। सरकार की हिंसा के सामने ये क्रांतिकारी टिक नहीं सके पर क्रांतिकारियों ने अपने ढंग से जनता में जागृति लाने एवं उसे क्रांति के लिए तैयार करने में मुख्य भूमिका निभाई। इसमें कोई शक नहीं कि अंग्रेज क्रांतिकारियों से घबराते थे। वे नहीं चाहते थे कि आम लोग इस आंदोलन में भाग लें। दरअसल इस आंदोलन ने कांग्रेस के वैद्यानिक आंदोलन के पूरक का कार्य किया।

अभ्यास-हेतु प्रश्न

प्र०:1 क्या राष्ट्रवाद अंग्रेजों की देन थी?

प्र०:2 'उदारवादी राजनीतिज्ञ योग्य राजनीतिज्ञ थे' इस कथन से आप कहां तक सहमत हैं?

प्र०:3 उग्रवादी राजनीति कभी पतन के गर्त में गयी ही नहीं, वास्तव में इसके दर्शन का पालन पोषण महात्मा गाँधी के द्वारा किया गया। क्या आप इस विचार से सहमत हैं?

प्र०:4 द्वितीय चरण का क्रांतिकारी आंदोलन अगर अग्र दृष्टि रखता था तो प्रथम चरण का पश्च दृष्टि कैसे?

प्र०:5 प्रजामंडल आंदोलन के संदर्भ में कांग्रेस प्रारम्भ में अहस्तक्षेप की नीति का पालन करती रही कालांतर में उसके इस अहस्तक्षेप की नीति का परिवर्तन हस्तक्षेप की नीति में हो गया।

प्र०:6 नमक जैसे छोटे मुद्दे से प्रारम्भ हुआ आंदोलन क्यों एवं किस प्रकार राष्ट्रीय जन आंदोलन में तब्दील हो गया?

प्र०:7 1919 का सुधार अधिनियम भारतीयों को संतुष्ट करने में कामयाब न हो सका। सुधार अधिनियम के संदर्भ में इस कथन की समीक्षा करें।

प्र०:8 1935 के सुधार अधिनियम ने यह पुष्ट कर दिया था कि भारत संघ के रूप में रहेगा, फिर भी भारतीय राजनीतिक दलों में इसके प्रति तीखी प्रतिक्रिया व्यक्त की गयी। क्यों?

प्र०:9 आंदोलन संगठित हो या असंगठित, यह तो निश्चित था कि अतिशीघ्र ही यह सशक्त आंदोलन में तब्दील हो गया और यह

अंतिम भी साबित हुआ।

प्र०:10 कांग्रेस का जन्म परिस्थितिजन्य था या प्रायोजित।

प्र०:11 भारत को स्वतंत्रता मिली या छीनी गई।

प्र०:12 1857 के विद्रोह के कारणों की व्याख्या करें।

प्र०:13 1857 के विद्रोह के स्वरूप की चर्चा करें।

प्र०:14 परम सत्ता की अवधारणा क्या थी? दिल्ली दरबार इस अवधारणा को किस प्रकार पुष्ट कर रहा था?

प्र०:15 ब्रिटिश सत्ता ने देशी रियासतों को संपोषित करने की नीति को स्वीकार किया जो वास्तव में तरंगरोध की नीति का ही भाग था।

प्र०:16 क्या कांग्रेस प्रारम्भ से ही धर्मनिरपेक्ष संस्था थी?

प्र०:17 जिन्ना ने किस प्रकार मुस्लिम लीग के आंदोलन को मजबूत किया? इस संदर्भ में अपने विचार रखें।

प्र०:18 ब्रिटिश नीति किस प्रकार मुस्लिम अलगाववादी भावना को बढ़ाने में सहायक थी?

प्र०:19 मुस्लिम सांप्रदायिकता के विकास में कांग्रेस की क्या भूमिका थी?

प्र०:20 कांग्रेस ने विभाजन को क्यों स्वीकार किया? क्या विभाजन अनिवार्य था? गाँधी एवम् आजाद के विचारों को रखें।

प्र०:21 पाकिस्तान आंदोलन क्या था। इसका परिणाम विभाजन के रूप में किस प्रकार देखा गया?

प्र०:22 चम्पारण आंदोलन क्या था? यह किस प्रकार भारतीय इतिहास में मील का पत्थर साबित हुआ?

प्र०:23 उदारवादी राजनीतिज्ञ को कुटिल राजनीतिज्ञ की संज्ञा दी जा सकती है, समीक्षा करें।

प्र०:24 स्वदेशी आंदोलन एक साथ कई दूरगामी प्रभावों को लेकर आया। किस दृष्टि से आप इस मत का खंडन करते हैं?

प्र०:25 दोनों चरणों के क्रांतिकारी आंदोलन के विकास की पृष्ठभूमि की चर्चा करें।

प्र०:26 स्वराजवादी राजनीति एक उलझी प्रकार की राजनीति थी, उनके कृत्यों के संबंध में इस कथन की समीक्षा करें।

प्र०:27 नेहरू रिपोर्ट भारतीय राजनीति के गाँठ को खोलने में नाकामयाब रहा, समीक्षा करें।

प्र०:28 सविनय अवज्ञा आंदोलन को इसके प्रारंभ में ही न कुचलना अंग्रेजों की एक प्रशासनिक भूल थी।

प्र०:29 महात्मा गाँधी के जन आंदोलन की अवधारणा क्या थी?

प्र०:30 20वीं सदी का सामाजिक-धार्मिक आंदोलन किस प्रकार राजनीतिक आंदोलन की धारा में समाहित होता चला गया?

प्र०:31 पूँजीपति वर्ग राष्ट्रीय आंदोलन के प्रति सदैव द्वंद्व की स्थिति में रहा या फिर इस द्वंद्व का पटाक्षेप भी हुआ।

प्र०:32 कैबिनेट मिशन भारत को अखंड रखने का प्रयास था। क्या आप इससे सहमत हैं?

प्र०:33 1935 का संवैधानिक विकास औपनिवेशिक काल के अंतर्गत संविधानवाद का चरम था। आलोचनात्मक व्याख्या करें।

प्र०:34 भारत का नवीन मध्यम वर्ग किस प्रकार ब्रिटिश नीति का आलोचक बनता चला गया।

प्र०:35 ब्रिटिश नीति के अंतर्गत मुस्लिम लीग को पैदा किया गया, पाला गया और छोड़ दिया गया। कैसे?

प्र०:36 राष्ट्रीय आंदोलन के विकास में महिलाओं की क्या भूमिका रही?

प्र०:37 भारत के लोगों को एक मंच पर खड़ा करना एक महान चुनौती थी। क्या महात्मा गांधी सफल रहे?

प्र०:38 राष्ट्रवाद के विकास का आधार सामाजिक-धार्मिक सुधार आंदोलन के दौरान खड़ा कर दिया गया था।

प्र०:39 कांग्रेस ने किस प्रकार ज्वाइन इंडिया आंदोलन का आधार तैयार कर दिया था?

प्र०:40 1857 अगर प्रथम था तो 1942 अंतिम। व्याख्या करें।

प्र०:41 क्रांतिकारी आंदोलनकारी हमेशा अपने समय से आगे की सोच रखते थे। क्या आप इस कथन से सहमत हैं?

प्र०:42 उदारवादियों के योगदान को कमतर आंकना केवल भूल ही होगी।

प्र०:43 जब कृषक वर्ग ने आंदोलन की बागडोर अपने हाथों में ले ली तो स्वतंत्रता करीब दिखने लगी। क्या आप सहमत हैं?

प्र०:44 लार्ड बर्केनहेड ने भारतीयों को संगठित होने का एक मौका उपलब्ध कराया था जो असफल हो गया।

प्र०:45 असहयोग आंदोलन किस प्रकार अपने उद्देश्यों से भटकने लगा था और यही भटकाव उसके वापसी का कारण भी बन गई।

प्र०:46 महात्मा गांधी ने सविनय अवज्ञा आंदोलन को किस प्रकार सर्वाधिक सशक्त जन आंदोलन में तब्दील कर दिया था।

प्र०:47 1947 तक राष्ट्रीय आंदोलन लगातार मजबूत हो रहा था और उसी दौरान ब्रिटिश शक्ति लगातार कमजोर हो रही थी। कैसे?

DISCOVERY